भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

षडशीति नामक

कर्मग्रन्थ [चतुर्थ भाग]

[मूल, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा अनेक परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

पुस्तक . कर्मग्रन्थ [चतुर्थ भाग]

पृष्ठ : ४७२

सम्प्रेरक . विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीर निर्वाण सं २५०२
वि० स० २०३२, फाल्गुन पूर्णिमा
ईस्वी सन् १९७६ मार्च

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–४

मूल्य . १५) पन्द्रह रुपये मात्र
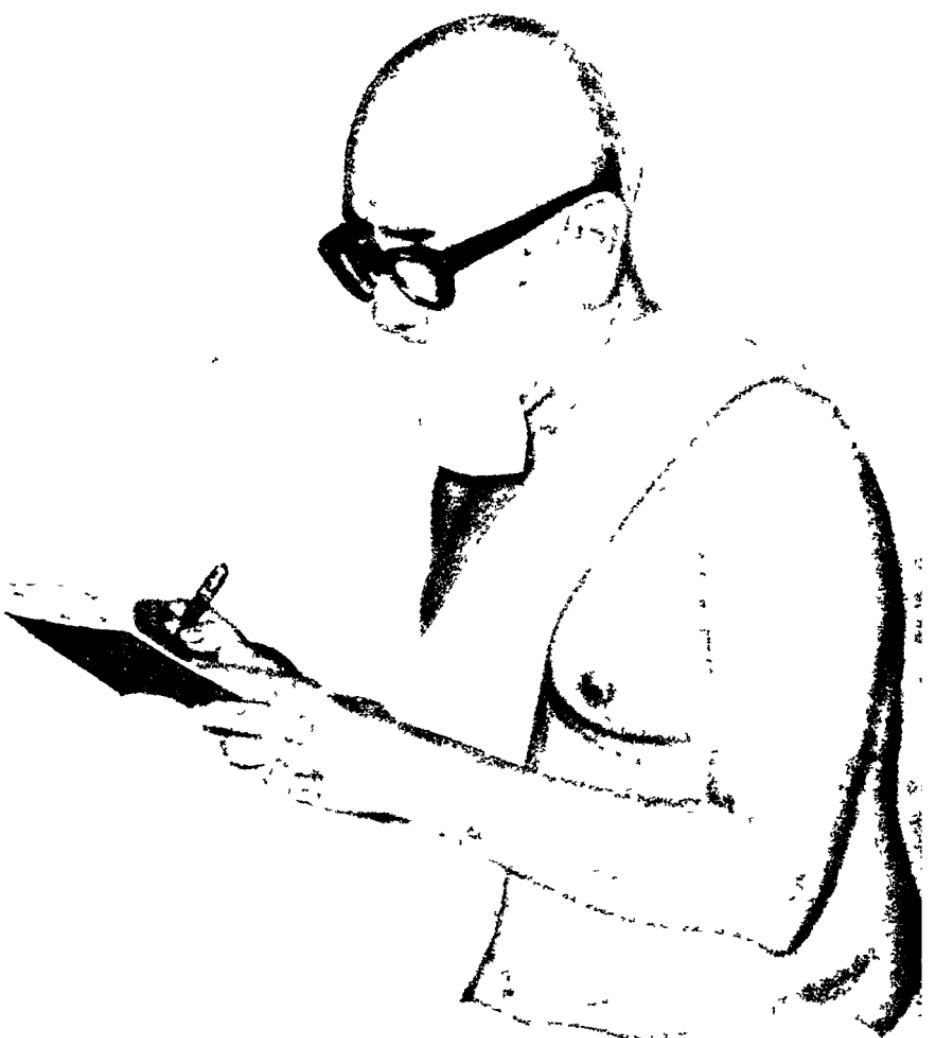
पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव आशुकविरत्न
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

सम्पादकीय

जैनदर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा की विविध दशाओ, स्वरूपो का विवेचन एव उसके परिवर्तनो का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थो मे 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते है। जैन साहित्य मे इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्मग्रन्थो को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एव स्वाध्याय की वस्तु मानते है।

कर्मग्रन्थो की संस्कृत टीकाएं वडी महत्त्वपूर्ण है। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके है। हिन्दी मे कर्मग्रन्थो का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ प० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एव विद्वत्ताप्रधान है। प० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली मे विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एव निदेशन से यह मम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य वडी गति के साथ आगे वढता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य वन गया।

इस सपादन कार्य मे जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखको, टीकाकारो, विवेचन-कर्ताओ तथा विशेषतः प० सुखलाल जी के ग्रन्थो का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी महाराज का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एव श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एव साहित्यसमिति के अधिकारियो का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सपादन-प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मै हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मै क्षमाप्रार्थी हूँ और, हंस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेगे। भूल सुधार एव प्रमाद-परिहार मे सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते है। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैनदर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वय में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान वनकर अशुद्ध दशा मे संसार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र मे पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी. दरिद्र के रूप मे संसार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविधि विचित्र घटनाचक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहा जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलत. जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतत्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेष वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्तिसपन्न वन जाते है कि कर्त्ता को भी अपने वधन मे बाध लेते है। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य वीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते है ? यह वडा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन मे कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकडो में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यो ने गूथा है, कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों मे कर्मग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाच भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा मे है और इसकी सस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी महाराज साहब से कई वर्षो से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एव महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एव व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते है। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक सस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन। व्यस्त जीवन मे आप १०-१२ घटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्रस्वाध्याय, साहित्य-सर्जन आदि मे लीन रहते है। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे बढाने का सकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियो से सुन्दर एव रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमो के उद्धरण सकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यो का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एव विचारो से अतिनिकट सम्पर्क मे है। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व-साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन मे एक

दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप मे मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय मे विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा सपादक बन्धुओ को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग के पश्चात् यह चतुर्थ भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के तीन भाग जिज्ञासु पाठको ने पसन्द किये है, उनके तत्त्वज्ञान-वृद्धि मे वे सहायक बने है, ऐसी सूचनाए मिली है। यह चतुर्थ भाग पहले के तीन भागो से भी अधिक विस्तृत बना है, विपय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है, विद्वान् सपादक वधुओ ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थो के पर्यालोचन से विपय का तलस्पर्शी विवेचन किया है। आशा है, यह जिज्ञासु पाठको की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

—सुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एव रचनात्मक उद्देश्य है—जैनधर्म एव दर्शन से सम्वन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज स्वय एक महान विद्वान्, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तिया चल रही है। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी है, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अव तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अव विद्वानो एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैनदर्शन का एक महान ग्रन्थ है। इसमे जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एव उनके सहयोगी श्री देवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एव विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन रायचूर निवासी श्रीमान् पारसमलजी के अर्थसौजन्य से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो एव सहयोगी उदार गृहस्थो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते है कि अतिशीघ्र क्रमशः अन्य भागो मे हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करेगे। प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग कुछ समय पूर्व ही पाठको के हाथो मे पहुँच चुके है। विद्वानो एव जिज्ञासु पाठको ने उनका स्वागत किया है। अव यह चतुर्थ भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आभार दर्शन

कर्मग्रन्थ के प्रस्तुत चतुर्थ भाग के प्रकाशन कार्य मे उदार अर्थसहयोग के रूप मे श्रीमान् पारसमलजी मूथा एव उनकी धर्मशीला मातेश्वरी श्रीमती सीराकुवरवाई ने जो हमारा उत्साहवर्धन किया है, उसके लिए हम सस्था की तरफ से आपका आभार मानते है। आपका परिवार श्रद्धेय गुरुदेव श्री मरुधर केशरी जी महाराज साहब के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील है। दोनो—माता एवं पुत्र का जीवन समाज के लिए आदर्श एव प्रेरक है। सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

श्रीमती सीराकुंवरबाई धर्मपत्नी श्रीमान् कालूरामजी मूथा रायचूर

श्रीमती सीराकुवर जी का जन्म पीपाड सीटी मे श्रीमान् धूलचन्दजी धोका के सम्पन्न परिवार मे हुआ। आपकी शिक्षा घर मे हुई। बचपन से ही आप वहुत ही दयालु व सरल स्वभावी है। धार्मिक प्रवृत्तियो मे आपकी विशेप रुचि है। आपका विवाह श्रीमान् कालूराम जी मूथा, मादलिया निवासी के साथ सम्पन्न हुआ।

प्राचीनकाल मे राजस्थान के व्यापारी अपना व्यवसाय करने के लिए दक्षिण भारत मे आये। श्रीमान् कालूराम जी साहव के पूर्वज भी अपना व्यवसाय करने दक्षिण भारत आये। उन्होने हैदरावाद राज्य के प्रसिद्ध रायचूर जिले के वलगानूर मे अपना व्यवसाय शुरू किया। व्यापारिक कुशलता के कारण आपको व्यापार मे आशातीत सफलता मिली। सवत् २००४ मे आपके सुयोग्य सुपुत्र पारसमल जी मूथा ने "कालूराम हस्तीमल" के नाम से रायचूर नगर मे स्थापित की। तव से आप रायचूर मे ही स्थायीरूप से निवास कर रहे है।

श्रीमान् कालूराम जी का जव स्वर्गवास हुआ था, उस समय श्रीमती सीराकुवर जी की आयु २५ वर्ष के करीव थी। आपने अपना वैधव्य जीवन

धार्मिक निष्ठा एवं अत्यन्त सादगी व संयम के साथ व्यतीत करना शुरू किया। आपके जीवन पर श्रीमद् राजचन्द जी के प्रवचनो का विशेष प्रभाव पड़ा है। अपना दैनिक जीवन चिन्तन-मनन और धर्म-चर्चाओ मे ही व्यतीत करते है। प्रतिवर्ष आप "अगास" भी जाया करते है। वहाँ रहकर तप, त्याग व धार्मिक चिन्तन-मनन के द्वारा अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते है।

अठाई, ग्यारह व पन्द्रह आदि की तपस्या आपने की है। वर्षीतप भी आपने सम्पन्न किया है। दान देने के लिए हमेशा तत्पर रहते है। आपने हजारो रुपये सुकृत कार्यो के लिए दान मे दिये है। आपने एक मकान पीपाड सिटी मे स्वाध्याय करने के लिए प्रदान किया है।

रायचूर की जैन महिलाओं मे आपका प्रमुख स्थान है। महिलाओं द्वारा आयोजित सभी धार्मिक प्रवृत्तियो मे बडी श्रद्धा व उमंग के साथ भाग लेते है। आपका दैनिक जीवन सुव्यवस्थित व धर्ममय है। प्रतिदिन सामायिक करना, प्रवचन सुनने के लिए स्थानक मे जाना व मन्दिर मे दर्शनार्थ जाने मे ही अपना समय व्यतीत करते है। अभी आपकी उम्र ८० वर्ष की है। इस वृद्धावस्था में भी आप नियमित रूप से अपनी सभी धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करते है। धर्म पर आपकी अगाध व अटूट श्रद्धा है। आपने अनेक श्रद्धेय सत सतियो के दर्शनार्थ देश के विभिन्न प्रान्तो की यात्राएँ की है। प्रमुख तीर्थस्थानो की यात्राएँ भी आपने सम्पन्न की है। □

श्रीमान् सेठ पारसमल जी साहब मूथा

[सक्षिप्त परिचय]

श्रीमान् सेठ साहब के नाम से स्थानकवासी समाज परिचित ही है। आपका जन्म मादलिया मे हुआ। आपकी शिक्षा भी मादलिया मे ही सम्पन्न हुई। श्रद्धेय कालूराम जी साहब के कोई सन्तान न थी। उन्होने श्रीमान् हस्तीमल जी साहब को गोद लिया। श्री हस्तीमलजी ने श्रीमान् पारसमल जी साहब को गोद लिया। आप १५ वर्ष की उम्र मे ही बलगानूर आ गये। यहाँ अपनी व्यापारिक कुशलता से सफलता प्राप्त की। आपने ही रायचूर नगर मे २८ वर्ष पूर्व 'कालूराम हस्तीमल' नामक फर्म स्थापित की। तभी से आप स्थायी रूप से रायचूर मे निवास व व्यापार करते है।

धर्मप्रेमी उदारचेता
श्रीमान पारसमल जी मुथा, रायचूर

श्रीमान पारसमलजी मुथा की मातेश्वरी
धर्मशाला श्रीमती सीरेकवर बाई
[धर्मपत्नी स्व० सेठ श्रीकालूरामजी मुथा]

आप उत्साही और सुलझे हुए विचारो के श्रावक है। सामाजिक कार्यो को सम्पन्न कराने मे आपकी विशेप रुचि है। समाज सेवा के कार्यो मे हमेशा तत्पर रहते है। आप दक्षिण भारत मे स्थानकवासी समाज के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि है। अखिल भारतीय कान्फ्रेन्स की वर्किंग कमेटी के आप सदस्य रहे है। कान्फ्रेन्स को सक्रिय बनाने मे आपकी विशेष रुचि है।

आपका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादगी पूर्ण है। आप बड़े हँसमुख और मिलनसार है। प्रतिदिन आप नियमित रूप से सामायिक करते है। समाज मे विशेप अवसरो पर धार्मिक प्रवृत्तियों और क्रियाओ को सम्पन्न कराने मे हमेशा तत्पर रहते है। समाज द्वारा सचालित सस्थाओ के आप सक्रिय सदस्य है। आप श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन ऐज्युकेशनल सोसायटी के मानद् मंत्री है। आपके कार्यकाल मे सोसायटी द्वारा सचालित श्री वर्धमान हिन्दी हाईस्कूल व मिडिल स्कूल ने आशातीत उन्नति की है।

आप प्रतिवर्ष हजारो रुपये सुकृत कार्यो के लिए व्यय करते रहते है। आप अपनी उदारता के लिए इस क्षेत्र मे प्रसिद्ध है। रायचूर मे जब अकाल पडा, उस समय आपने नियमित रूप से गरीबो को भोजन कराया था।

गो-सेवा मे आपकी विशेप रुचि है। स्थानीय गो-सदन के आप अध्यक्ष है। स्वधर्मी-वात्सल्य के कार्यो मे भी आप सक्रिय भाग लेते है। आपके सद्-प्रयत्न से ही उपाध्याय प्यारचन्द जी स्वधर्मी-वात्सल्य फण्ड की स्थापना की गई है। उसके द्वारा प्रतिवर्ष स्वधर्मी भाइयो को आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

आपका पारिवारिक जीवन बहुत सुखमय है। आपका विवाह श्रीमान् अमरचन्द जी बोहरा की सुपुत्री सौ० कां० श्रीमती बादलबाई के साथ सम्पन्न हुआ। आपके तीन पुत्र व तीन पुत्रियाँ है। बडी सुपुत्री का विवाह बैंगलोर निवासी श्रीमान् सेठ मागीलाल जी गोटावत के पौत्र के साथ सम्पन्न हुआ है। समाज मे प्रचलित कुरूढियो को बन्द कराने के लिए आप हमेशा तत्पर रहते है। समाज सुधार के कार्यो मे सोत्साह भाग लेते है।

आपको धर्म के प्रति अगाध व अटूट श्रद्धा है। आप प्रतिमास दो उपवास करते है। चाय-काफी का जीवनपर्यन्त त्याग कर रखे है। इस प्रकार आप अपने जीवन मे धार्मिक नियमो का नियमित रूप से पालन करते है। □

प्रस्तावना

मार्गणास्थान अधिकार

गुणस्थान अधिकार

प्रस्तावना

कर्मसाहित्य का उद्‌गम स्थान

जैनदर्शन की तरह वैदिक और बौद्ध दर्शन के साहित्य मे कर्म-सम्बन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई मुख्य ग्रन्थ या साहित्य दृष्टिगोचर नही होता है। लेकिन इसके विपरीत जैनदर्शन मे कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत है और उन विचारो के प्रतिपादक शास्त्र को कर्मशास्त्र या कर्मविषयक साहित्य कहते है। उसने जैन वाड्मय के बहुत बड़े भाग को रोक रखा है। यो तो जैन वाड्मय के सभी अंगों मे यथावकाश यत्किंचित् न्यूनाधिक रूप मे कर्म की चर्चा पाई जाती है, किन्तु उसके स्वतत्र ग्रन्थ भी अनेक हैं, जिनमे भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्म-सिद्धात का ही वर्णन किया गया है।

जैन वाड्मय मे इस समय जो भी कर्मशास्त्र विद्यमान है। उसका साक्षात् सम्बन्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराये अग्रायणीय पूर्व के साथ बतलाती है। दोनो ही अग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवे अगान्तर्गत चौदह पूर्वों मे से दूसरा पूर्व कहती है और साथ ही यह भी समान रूप से मानती हैं कि सारे अग और चौदह पूर्व, यह सब भगवान महावीर की सर्वज्ञ-वाणी के आधार पर गणधरो द्वारा रचित है, यानी ये सब उनकी वाणी के साक्षात् फल है। इस मान्यता के अनुसार विद्यमान समस्त जैन कर्मसाहित्य शब्द रूप से न सही, किन्तु भाव रूप मे भगवान महावीर के उपदेश से प्राप्त सार है।

इसके साथ एक दूसरी यह भी मान्यता है कि वस्तुत: सारी अग विधाये भाव रूप से केवल भगवान महावीर की पूर्वकालीन नही है, अपितु पूर्व-पूर्व मे हुए अन्यान्य तीर्थकरो से भी पूर्वकाल की हैं। अतएव एक तरह से अनादि है और प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थकरो द्वारा उक्त पूर्व-पूर्व की अग विधायें नया-नया रूप धारण करती हैं।

कर्मसिद्धात के अस्तित्व सवधी उक्त श्रद्धामान्य स्थिति को जव तर्क की कसौटी पर परखते है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जैन वाड्मय मे कर्म-शास्त्र का चिरकाल से स्थान है। उस शास्त्र मे जो विचारो की गम्भीरता, शृ खलावद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो के निरूपण की असाधारण पद्धति है, उसे देखते हुए यह माने विना काम नही चलता है कि जैन वाड्मय की विशिष्ट कर्मविधा भगवान पार्श्वनाथ के भी पहले स्थिर हो चुकी थी और अग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से प्रसिद्ध हुई। पूर्व शब्द का मतलव भगवान महावीर के पहले से चले आने वाले शास्त्रविशेष है और ये शास्त्रविशेष—पूर्व-भगवान पार्श्वनाथ के पहले से भी एक या दूसरे रूप मे प्रचलित रहे है।

यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि वर्तमान मे जो भी जैन साहित्य है, वह सव भगवान महावीर की देन है। ऐतिहासिको को भी यह मान्य है कि वर्तमान जैन आगमो के सभी विशिष्ट और मुख्य वाद भगवान महावीर के विचारो का कोष है। जैन शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, तत्त्ववाद आदि सिद्धातो की तरह कर्मसिद्धात का वार्तमानिक आविर्भाव भगवान महावीर की देशना द्वारा हुआ है। भगवान महावीर को निर्वाण प्राप्त किये आज २५०० वर्ष हो गये है, इसलिये जैनदर्शन के सिद्धातो के आविर्भाव के होने के वारे मे और इस समय मे तो किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर की तरह उनसे भी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि और तेईस तीर्थकर इस अवसर्पिणीकाल मे हो चुके है। वे भी जैनधर्म के प्रवर्तक थे। ऐतिहासिक भी इसको स्वीकार करते है। फिर जैनदर्शन के सिद्धातो को सिर्फ भगवान महावीर की देन कहना और उसके समय प्रमाण को फिलहाल २५०० वर्ष की सीमा मे सीमित करने का क्या कारण है ? लेकिन उक्त तर्क के सदर्भ मे यह भी नही भूलना चाहिए कि भगवान पार्श्वनाथ आदि जैनधर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए है और उन्होने जैन-शासन प्रवर्तित किया है। परन्तु जब हम अपने विचार अपने वर्तमान तक सीमित करते है और उसी से कालगणना की अवधि निर्धारित करना चाहते है तव यह तो मानना ही पडेगा कि वर्तमान जैन आगम जिन पर इस समय जैन शासन अवलवित है, वे भगवान महावीर की देशना की सपत्ति है। इसीलिये जैनधर्म के आविर्भाव का काल भगवान महावीर के साथ सवद्ध कर लिया

गया है, लेकिन परम्परा की दृष्टि से प्रवाह रूप मे उसका सबध दूरातिदूर अतीत काल मे हुए तीर्थकरो से भी है।

जैनधर्म के जितने भी सिद्धात, आचार-विचार के सूत्र है, उनका मूल-रूप मे सकेत भगवान महावीर की देशना मे हुआ है, जिसे गणधरो ने शब्द-सयोजना द्वारा सुरक्षित किया। इसके आधार से उत्तरवर्ती आचार्यो ने पल्लवित करके देशना के प्रत्येक अग को समृद्धिशाली बनाया। जीवमात्र के लिये उपयोगी प्रत्येक विषय का दिग्दर्शन ग्रन्थो मे किया गया है। समय के प्रभाव से एव शाब्दिक सयोजना, धारणा शक्ति, प्रतिपादन की शैली आदि के कारण मूल प्रवर्तक की भाषा व शैली से भिन्नता भी प्रतीत होती हो, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वो और तत्त्वव्यवस्था मे मूल देशना व उत्तरवर्ती आचार्यो की दृष्टि मे किसी प्रकार का अन्तर नही पडा है।

हम यहाँ भगवान महावीर की देशना के सभी सिद्धातो की पर्यालोचना न करके अभिप्रेत कर्मसिद्धात के बारे मे अपने विचारो को केन्द्रित करते है।

कर्मसिद्धांत का प्रयोजन

प्राय: सभी आस्तिकवादी दार्शनिको ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसकी बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थाये मानी है। इनके नामो मे अन्तर भी हो सकता है, लेकिन कर्म के बध, उदय व सत्ता के विषय मे किसी प्रकार का विवाद नही है। लेकिन विवाद है कर्म के स्वयं जीव द्वारा फल भोगने मे या दूसरे के द्वारा भोग कराये जाने मे, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व मे और उसके सदात्मक रूप से बने रहने के विषय मे।

कुछ तत्त्वचिन्तको का मन्तव्य है कि जीव कर्म करने मे तो स्वतत्र है लेकिन उसका फलभोग अन्य महाप्रभु ईश्वर द्वारा कराया जाता है। ईश्वर की आज्ञा से आत्मा अपने सुख-दुःख का वेदन करती है। इस ईश्वरकर्तृत्व की भावना से जन-साधारण मे भी यही धारणा पैठ गई थी कि जगत का उत्पादक ईश्वर है, वही अच्छे-बुरे कर्मो का फल जीवो से भोगवाता है और कर्मो के जड होने से वे ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल नही दे सकते है आदि। दूसरे प्रकार के जो तत्त्वचिन्तक थे वे ईश्वर को तो कर्मभोग कराने मे सहायक नही मानते थे, किन्तु वे जीव को त्रिकालस्थायी तत्त्व न मानकर क्षणिक मानते है। तीसरे प्रकार के चिन्तको द्वारा तो जीव के स्वतत्र अस्तित्व

को भी अस्वीकार किया जाता है। उनकी दृष्टि मे पृथ्वी आदि पच भूतो के संयोग से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट शक्ति का ही नाम जीव, आत्मा है। इसलिये न तो कर्म का भोग करने वाला कोई स्वतत्र जीव तत्त्व है और न कोई उसका भोग कराने वाला।

उक्त दृष्टिया एकांगी थी और है। क्योकि कृतकृत्य ईश्वर को सृष्टि मे हस्तक्षेप करने से उसकी स्वतन्त्रता एव निष्पक्षता मे बाधा पडती है। स्वय जीव के आत्मस्वातत्र्य की हानि होती है। जीव को सिर्फ वर्तमान क्षणस्थायी मानने से कर्मविपाक की उपपत्ति नही बन सकती है कि जिस क्षण वाली आत्मा ने कर्म किया है, उसी क्षण वाली आत्मा को यह कर्म का फल मिल रहा है। जड पदार्थ बौद्धिक चेतना के अभाव में फल भोग कर नही सकते है। यह कार्य तो कृतकर्मभोगी पुनर्जन्मवान स्थायीतत्त्व ही करता है।

इस प्रकार से त्रिकालस्थायी स्वतत्र जीव तत्त्व का अस्तित्व और उसे ही अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता बताना ही कर्मसिद्धान्त का प्रयोजन है। जब यह निश्चित हो गया कि जीव कर्म का कर्ता-भोक्ता है तो वह कर्म का कर्ता कैसे है, कर्मफल का भोग कब होता है आदि का विचार किया गया। यह विचार ही कर्मसिद्धांत मानने का मूल आधार है तथा विशेपताओ को प्रगट करता है।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ

जैनदर्शन मे कर्म सिद्धात मानने के साथ उसके अथ से लेकर इति तक उठने वाले प्रश्नो का समाधान किया है। कुछ प्रश्न इस प्रकार है—

कर्म के साथ आत्मा का बध कैसे होता है ? किन कारणो से होता हे ? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति उत्पन्न होती है ? कर्म आत्मा के साथ कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक लगा रहता है। अत्मा के साथ सबद्ध कर्म कितने समय तक फल देने मे असमर्थ है। कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नहीं। यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक हे। कर्म की तीव्र शक्ति को मद शक्ति और मन्द शक्ति को तीव्र शक्ति मे रूपान्तरित करने वाले कौन से आत्मपरिणाम होते है, किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत मे अनियत है, आदि-आदि सख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते है, उनका

सयुक्तिक, विस्तृत व विशद् खुलासा जैन कर्मसाहित्य मे किया गया है। यही कर्म तत्त्व के सम्वन्ध मे जैनदर्शन की विशेषताएँ है जो अन्य किसी भी साहित्य मे देखने को नही मिलती है।

कर्मतत्त्व सम्वन्धी उक्त विशेपताओ का वर्णन करना जैन कर्मग्रन्थो का साध्य होने पर भी भगवान महावीर के समय से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर सकलना होती आई है, उसके तीन विभाग किये जा सकते है—१. पूर्वात्मक कर्मसाहित्य, २ आकर रूप कर्मशास्त्र, ३. प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

१. **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सव से वड़ा और पहला तथा क्रमवद्ध व्यवस्थित है। क्योकि इसका अस्तित्व तव तक माना जाता है, जव तक कि पूर्व-विद्या विच्छिन्न नही हुई थी। भगवान महावीर के वाद करीव ६०० या १००० वर्प तक क्रमिक ह्रास के रूप मे पूर्व-विद्या का अस्तित्व रहा है। चौदह मे से आठवा पूर्व—कर्मप्रवाद तो मुख्य रूप से कर्म विपयक ही था, परन्तु उसके सिवाय दूसरे अग्रायणीय पूर्व मे भी कर्म का विचार करने के लिए कर्म-प्राभृत नामक भाग था। लेकिन वर्तमान मे उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अश विद्यमान नही है।

२ **आकर कर्मशास्त्र**—यह प्रथम विभाग से वहुत छोटा है किन्तु वर्तमान अभ्यासियो के लिये वह इतना वडा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पडता है। इसमे पूर्व से उद्घृत अश सुरक्षित है।

३ **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह तीसरी सकलना का फल है। इसमे कर्म-विपयक छोटे-वड़े अनेक प्रकरण कर्मग्रन्थ सम्मिलित है। आजकल इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन—अध्यापन विशेपतया प्रचलित है। इन प्रकरण ग्रन्थो को पढने के वाद जिज्ञासु अभ्यासी आकर ग्रन्थो को पढते है। आकर ग्रन्थो मे प्रवेश कराने की दृष्टि से प्राकरणिक ग्रन्थो का अपना महत्त्व है। यह विभाग विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दि से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दि तक मे पल्लवित हुआ। इन सकलनाओ मे यह तो सम्भव है कि प्रयत्नलाघव और प्रतिपाद्य विपय के सभी अगो को न लेकर कुछ एक अंगो को ग्रहण करने आदि के कारण कर्मशास्त्र का सर्वांग रूप अवयवो के रूप मे पृथक्-पृथक् भागो मे विभाजित हो गया। इस विभाजन से जहाँ पाठको को कर्मशास्त्र के अभ्यास मे सरलता हो गई, वही समग्र शास्त्र का पूर्वापर सम्पर्कसूत्र खडित हो गया। विपय की कुछ जानकारी हो जाने से ऊपरी तौर पर कर्मसिद्धान्त

अशो का ज्ञान करना पर्याप्त समझ लिया गया। जिससे कर्मसिद्धान्त के अध्ययन-अध्यापन मे व्यवधान आ गया।

सकलना के उक्त वर्गीकरण की तरह सम्प्रदायभेद के कारण भी जैन कर्मशास्त्र विभाजित-सा हो गया। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओ मे बँट गया। सम्प्रदायभेद की नीव इतनी सुदृढ पडी कि भगवान महावीर का अनुयायी मानने मे गौरव का अनुभव करने वाले दोनो सम्प्रदाय के विद्वान, आचार्य आदि कर्मतत्त्व के बारे मे मिल-बैठकर विचार करने का भी अवसर न पा सके। दोनो ने इस ओर दृष्टि ही नही डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि मूलविपय मे कुछ भी मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दो, उनकी व्याख्याओ और कही-कही तात्पर्य मे भी थोडा-बहुत अतर आ गया। इसके साथ ही पूर्वगत कर्मसाहित्य के विलुप्त हो जाने तथा आकर ग्रथो मे क्रमबद्ध धारा का अभाव अथवा कही-कही विच्छिन्न हो जाने से भी चिन्तन मे मतभिन्नता आ गई।

यहाँ कुछ एक विपयो के बारे मे समान-असमान मतव्यो का तुलनात्मक विहगावलोकन करते है और उससे इस निष्कर्प पर पहुँचते है कि साप्रदायिक भेद हो जाने तथा शास्त्रीय परम्परा का क्रम विच्छिन्न हो जाने जो दूरी और मतभिन्नता प्रतीत होती है, उसको यदि कर्मशास्त्र मे पारगत विद्वान अनुसधान करके शृंखलाबद्ध करे तो सभी मतभेद आपेक्षिक कथन जैसे प्रतीत होगे तथा ये आपेक्षिक कथन पूरक बनकर कर्मसाहित्य को व्यवस्थित और प्रौढ बनायेगे। कर्मसाहित्य को व्यवस्थित करने के लिये आज का विद्वद्-वर्ग सहयोगी बने यही अपेक्षा है।

कर्मशास्त्रगत समान-असमान मंतव्य

जैन कर्मसाहित्य का मूलबिंदु एक होने पर भी कालप्रवाह से वैचारिक दृष्टिकोण की भिन्नता तथा पूर्वापर प्रवाहधारा मे से कुछ भाग के विच्छिन्न हो जाने से बहुत-सी बाते उपरी तौर पर भिन्न-सी प्रतीत होने लगी हैं। इन भिन्नताओ को श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी, विभिन्न आचार्यों के दृष्टिकोण सम्बन्धी तथा सिद्धात व कार्मग्रन्थिक—इन तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। विस्तृत रूप से विचार करने का यह अवसर न होने से

यहाँ इन तीनों पर संक्षेप में विचार करते हैं। सर्वप्रथम श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी समानताओं व असमानताओं का उल्लेख करते हैं।

कर्मप्रकृतियों के नामविषयक—श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो मे कर्म की ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ मानी है और उनके कथनक्रम सम्बन्धी उत्पत्ति प्राय: समान है, लेकिन दिगम्बरसम्प्रदाय मे अघाती कर्म वेदनीय को घाती कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण के बाद और मोहनीय के पहले तथा घातीकर्म अंतराय को नाम, गोत्र अघाति कर्मो के पश्चात् कहने का कारण यह बतलाया है कि वेदनीय कर्म मोहनीय के बल पर अपना कार्य करता है तथा अन्तराय कर्म घातिकर्म है लेकिन जीव के गुण का सर्वथा घात करने में असमर्थ होने से वेदनीय को घाती कर्मो के साथ और अन्तराय को अघाती कर्मो के साथ क्रम में रखा है। यह क्रमसम्बन्धी कथन एक नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है, अत. इसे मतभिन्नता न मानकर विशद दृष्टि डालने का पक्ष मान सकते हैं।

दोनो सम्प्रदायो मे आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतियो के नाम लगभग समान है। प्रत्येक मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियो की सख्या भी समान हे लेकिन कुछ नाम ऐसे हे जिनके नामो से दिगम्बर सम्प्रदाय मे परिवर्तन देखा जाता हे। जैसे कि सादि संस्थान के लिये स्वाति संस्थान, कीलिका सहनन के लिये कीलित सहनन, सेवार्त संहनन के लिये असप्राप्तासृपटिका सहनन, ऋषभनाराच सहनन के लिये वज्रनाराच संहनन कहा गया है।

कर्मप्रकृतियो की परिभाषाओ मे अधिक अशो मे भी दोनो सम्प्रदाय के कर्मग्रन्थो मे समानता है। लेकिन कुछ एक प्रकृतियो की परिभाषाओ मे भिन्नता है। जैसे अनादेय, अस्थिर, अशुभ, आदेय, आनुपूर्वी, गति, निर्माण, पराघात, यश कीर्ति, शुभ, स्थिर, जुगुप्सा, निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, सम्यक्त्व, सम्यग्-मिथ्यात्व। इनकी परिभाषाये प्रथम कर्मग्रन्थ के परिशिष्ट मे दी गई है।

कर्मग्रन्थो और दिगम्बर ग्रन्थो मे कषायो के लिये जिन-जिन पदार्थों की उपमा दी गई है, वे सब एक से है, लेकिन भेद इतना हे कि प्रत्याख्यानावरण लोभ के लिए दिगम्बर ग्रन्थो मे शरीर के मैल की और कर्मग्रन्थ मे खाजन की उपमा दी है।

मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेदो—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

कल्पना के लिये श्वेताम्बर साहित्य मे कोदो के छाछ से धोये और भूसे से रहित शुद्ध—सम्यक्त्व, भूसे सहित और न धोये हुए अशुद्ध मिथ्यात्व और कुछ धोय, कुछ न धोये दोनो के मिश्रण को अर्धविशुद्ध—मिश्र माना है। जबकि दिगम्बर साहित्य मे चक्की से दले हुए कोदो मे से जो भूसे के साथ है वे अशुद्ध मिथ्यात्व, जो भूसे से बिल्कुल रहित है वे शुद्ध—सम्यक्त्व और कण अर्धविशुद्ध—मिश्र माने है।

अपवर्त्य आयु का मतलब अकालमरण है जिसे दिगम्बर ग्रन्थो मे कदलीघातमरण भी कहा है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे तेजस्काय को वैक्रिय शरीर नही माना है, पर दिगम्बर ग्रन्थो मे मानते हुए कहा है कि देव, नारको तथा किन्ही तेजः, वायु कायिक व पचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्यो को वैक्रिय शरीर होता है। यह तेजस्कायिको मे लब्धिप्रत्ययिक है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय मे सज्ञी-असज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है। श्वेताम्बर ग्रन्थो मे हेतुवादोपदेशिकी आदि सज्ञाओ की अपेक्षा सज्ञित्व-असज्ञित्व का व्यवहार किया है और उनकी विशद व्याख्या भी की है, लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे इनका वर्णन नही है तथा गर्भज तिर्यचो को सज्ञी मात्र न मानकर सज्ञी-असज्ञी उभय रूप माना है। सज्ञी की व्याख्या इस प्रकार की है—जो भली प्रकार जानता है उसको सज्ञ अर्थात् मन कहते है और वह मन जिसके पाया जाता है वह संज्ञी है। श्वेताम्बर साहित्य मे दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा वालो को सज्ञी कहा है।

श्वेताम्बरसाहित्यप्रसिद्ध करणपर्याप्त शब्द के स्थान पर दिगम्बर शास्त्र मे निर्वृ त्यपर्याप्त शब्द है। व्याख्या भी दोनो शब्दो की कुछ भिन्न है। दिगम्बर ग्रन्थो मे निर्वृ त्यपर्याप्त का लक्षण इस प्रकार किया है—निर्वृ ति अर्थात् शरीर अतएव शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक जीव निर्वृ त्यपर्याप्त है। श्वेताम्बरसाहित्य मे करण का अर्थ शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तिया है। अतएव जिसने शरीरपर्याप्ति पूर्ण की है किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नही की है, वह भी करण अपर्याप्त है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का क्रमभावित्व,

सहभावित्व और अभेद ये तीन पक्ष है किन्तु दिगम्बर ग्रन्थो मे सहभावित्व का एक ही पक्ष मान्य है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने और न पाए जाने के सम्बन्ध मे दो पक्ष है। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे सिर्फ पहला पक्ष—अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने का है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे अज्ञानत्रिक मे दो या तीन गुणस्थान माने जाने के दो पक्ष हैं। एक पक्ष पहला, दूसरा यह दो गुणस्थान और दूसरा पक्ष पहला, दूसरा, तीसरा यह तीन गुणस्थान मानता है। दो गुणस्थान मानने वालो का पक्ष है कि तीसरे गुणस्थान मे शुद्ध सम्यक्त्व भले ही न हो लेकिन यथार्थयज्ञान की कुछ मात्रा रहती है। तीन गुणस्थान मानने वाले पक्ष का मतव्य है कि तीसरे गुणस्थान मे अज्ञानमिश्रित ज्ञान है, शुद्ध नही, अत: तीन गुणस्थान मानना चाहिये। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे पहला, दूसरा यह दो गुणस्थान माने है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे द्रव्यमन को शरीरव्यापी माना है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थो मे उसका स्थान हृदय और आकार कमल जैसा माना है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे मनपर्यायज्ञान मे तेरह योग माने है जिनमे आहारकद्विक का समावेश है, लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे उक्त आहारकद्विक योग को नही माना है। क्योकि परिहारविशुद्धि चारित्र और मनपर्यायज्ञान के समय आहारक शरीर और आहारक अगोपाग नामकर्म का उदय नही होता है, मनपर्यायज्ञान, परिहारविशुद्धि सयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्विक, इन भावो मे से किसी एक का उदय होने पर शेष भाव नही होते हैं।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे गुणस्थान की व्याख्या ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाला जीव का स्वरूप की है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थो मे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओ के समय होने वाले भावो से जीव का स्वरूप विशेष जाना जाता है अत. ये भाव गुणस्थान है—की है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे गुणस्थानो मे बंधयोग्य प्रकृति समान मानी है लेकिन इतना अन्तर है कि दिगम्बर ग्रन्थो मे सातवें गुण

मे ५६ प्रकृतियाँ और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थो मे ५८ या ५६ यह दो विकल्प माने है।

कर्मग्रन्थ मे दूसरे गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता मानी है परन्तु दिगम्बर ग्रन्थो मे आहारकद्विक और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियो के सिवाय १४५ की सत्ता मानी है। साथ ही पाँचवे गुणस्थान मे नरकायु व छठे-सातवे गुणस्थान मे नरकायु व तिर्यचायु की सत्ता न मानने से क्रमशः १४७ व १४६ प्रकृतियो की सत्ता मानी है। लेकिन कर्मग्रन्थ के अनुसार पाँचवे गुणस्थान मे नरकायु की और छठे-सातवे गुणस्थान मे नरकायु व तिर्यचायु की सत्ता भी हो सकती है।

कर्मग्रन्थो मे पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओ मे विकल्प से ६६ व ६४ प्रकृतियो का वध माना है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थो मे सिर्फ ६४ प्रकृतियो का ही।

कर्मग्रन्थ मे आहारकमिश्र काययोग मे ६३ प्रकृतियो का और दिगम्बर ग्रन्थो मे ६२ प्रकृतियो का वध माना है।

श्वेताम्बर साहित्य मे तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवो को स्थावर नामकर्म का उदय होने पर भी गमन क्रिया रूप शक्ति होने से अपेक्षा रूप मे गति त्रस-लब्धित्रस माना है, किन्तु दिगम्बर ग्रन्थो मे उन्हे स्थावर ही कहा है। अपेक्षाविशेप से उन्हे त्रस नही माना है।

दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान मानने वाले ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थो मे है, लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे अज्ञान का पक्ष स्वीकार किया है।

यहाँ पर श्वेताम्बर एव दिगम्बर कर्मग्रन्थो के दृष्टिकोण की कुछ भिन्नताओ को वतलाया है लेकिन समानताये इतनी अधिक है कि उक्त विभिन्नताओ का अपेक्षादृष्टि से विचार किया जाये तथा विशृंखलित धारा को क्रमवद्ध रूप से सकलित किया जा सके तो ये भिन्नताये गुलदस्ते की शोभा धारण करने के साथ अभ्यासियो के चिन्तन को विकासोन्मुखी बनाने मे सहायक वन सकेंगी। दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो मे विभिन्नताये कम है और समानताये अधिक, अतः अव सक्षेप मे समानताओ का सकेत करते है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे जीव का स्वरूप, उपयोग का स्वरूप केवलज्ञानी के विषय मे सज्ञित्व-असज्ञित्व का व्यवहार, वायुकायिक जीवो के शरीर की ध्वजाकारता, छाद्मस्थिक के उपयोग का कालमान, भावलेश्या

सम्बन्धी स्वरूप, दृष्टात आदि, चौदह मार्गणा का अर्थ, सम्यक्त्व की व्याख्या क्षायिक सम्यक्त्व, केवली मे द्रव्यमन का होना, इन्द्रिय मार्गणा मे द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा मे तेजस्काय आदि का विशेषाधिकत्व, वक्रगति मे विग्रह की सख्या, गुणस्थानो मे उपयोग की सख्या, कर्मबंध के हेतुओ का दो, चार, पाँच होना, सामान्यतया विशेष बधहेतुओ का विचार, तीसरे गुणस्थान मे आयु का वध न मानना, औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे प्रकृतियो के बध की समानता, शुक्ललेश्या के बंधस्वामित्व की समानता आदि अनेक विषयो मे एकरूपता है ।

कही-कही ऐसा भी प्रतीत हुआ है कि वर्णन की शैली की विभिन्नता से समानताये आशिक असमानताओ मे रूपान्तरित हो गई है। लेकिन वे वर्णन के विस्तार और सक्षेप के दृष्टिकोण की अपेक्षा से है। यदि वर्णन का विस्तार या सकोच कर लिया जाये तो दोनो सम्प्रदायो के कर्मशास्त्र के वर्णन मे ममानता ही दिखेगी ।

अव कार्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिको की मतभिन्नता का सकेत करते हैं। कर्मग्रन्थ मे कृष्णादि तीन लेश्याओ मे ७७ प्रकृतियो का और सिद्धात मे ७५ प्रकृतियो का वध माना है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानो मे तीन उपयोग होने का कार्मग्रन्थिक मत है लेकिन सिद्धात मे सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह जीवस्थानो मे तीन तथा द्वीन्द्रिय आदि शेप चार जीवस्थानो मे पाच उपयोग माने हैं ।

कर्मग्रन्थो मे अवधिदर्शन मे नौ या दग गुणस्थान माने जाते है और गिद्धात मे वारह गुणस्थान माने है। सिद्धांत मे दूसरे गुणम्थान मे ज्ञान माना है और कर्मग्रन्थ मे अज्ञान ।

वैक्रिय और आहारक शरीर वनाते व त्यागने ममय कौन-सा योग मानना चाहिये इस विपय मे कार्मग्रन्थिक और सैद्धातिक मतभेद है। सिद्धांत मे लब्धि द्वारा वैक्रिय और आहारक शरीर वनाते समय औदारिकमिश्र काययोग और त्यागते ममय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग माना है, लेकिन कर्मग्रन्थो मे प्रारम्भ और परित्याग दोनो ममय मे विशिष्ट लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मे क्रम मे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग माना है ।

सिद्धांत मे एकेन्द्रिय को सासादन भाव नही माना है, जबकि कर्मग्रन्थ मे माना है।

इस प्रकार यहाँ कर्मसाहित्य सम्बन्धी कुछ एक समानताओ-असमानताओ का उल्लेख मात्र किया है। इन विभिन्नताओ और उनके कारणो आदि पर विशेष विचार कभी यथावकाश अलग से किया जायेगा, जिससे पाठको को समस्त स्थिति का स्पष्ट रूप से परिज्ञान हो सके।

उक्त समान-असमान मतव्यो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सम्प्रदायभेद के कारण कर्मशास्त्र मर्मज्ञ मनीषियो का पारस्परिक सम्पर्क-सूत्र टूट गया और अपनी-अपनी जानकारी तथा उपस्थित सम्पर्क सूत्रो के अनुसार विचारो की मुख्यता और गौणता का आश्रय लेकर विचार किया। उन्होने अपनी-अपनी निकटतम जानकारी के अनुसार कर्मशास्त्र की धारा की सुरक्षा की और उनकी इस अनमोल देन का आज हम उपयोग कर रहे है।

कुछ एक समान-असमान विचारो को प्रस्तुत करने के अनन्तर अब ग्रन्थ का परिचय आदि देते है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन नाम है—१. षडशीति, २. सूक्ष्मार्थविचार और ३. चतुर्थ कर्मग्रन्थ। इन तीन नामो मे से ग्रन्थ का मुख्य नाम 'षडशीति' है, क्योकि इसमे मूल गाथाये छियासी है। 'सूक्ष्मार्थविचार' नाम इसलिये है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अत मे 'सुहुमत्थवियारो' शब्द का उल्लेख किया है और चतुर्थ कर्मग्रन्थ इसलिये कहा जाता है कि छह कर्मग्रन्थो मे इसका नम्बर चौथा है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण के तीनों नाम सार्थक है।

पूर्व के तीन कर्मग्रन्थो मे से पहले मे मूल एव उत्तर कर्म प्रकृतियो की सख्या और उनके विपाक का वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ मे प्रत्येक गुणस्थान को लेकर उसमे यथासम्भव बध, उदय, उदीरणा और सत्ता प्रकृतियो की सख्या तथा तीसरे कर्मग्रन्थ मे मार्गणास्थान के भेदो मे गुणस्थान के आधार से कर्म प्रकृतियो के बधस्वामित्व को बतलाया है। ऐसा करने से दो बाते ध्यान मे आ जाती है कि मार्गणास्थान के द्वारा अन्वेषित किये गये ससारी जीव अपनी क्षमता की अपेक्षा से उन-उन गुणस्थानो मे

कितनी प्रकृतियो का वध कर सकते है लेकिन उसमे इस विपय का स्वतत्र रूप से सकेत नही है कि किस-किस मार्गणास्थान मे कितने-कितने और कौन-कौन से गुणस्थान सम्भव है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे इस जिज्ञासा की पूर्ति करने के साथ-साथ अन्य जिज्ञासाओ की भी पूर्ति की गई है। ससारी जीवो के तीन रूप है—पहला वाह्य-शरीर, दूसरा अतरग-भावविशुद्धि की अल्पाधिकता और तीसरा दोनो का मिश्रित रूप। पहला रूप जीवस्थान है, दूसरा रूप गुणस्थान और तीसरा रूप मार्गणास्थान। ससारी जीव इन तीनों ही स्थान वाले है अतएव इनका पारस्परिक सम्वन्ध है और यह जिज्ञासा होना साहसिक है कि जीवस्थानो मे कितने गुणस्थान सम्भव है और गुणस्थानो मे कितने जीवस्थान। इसी प्रकार योग, उपयोग, भाव आदि के वारे मे भी जानने की उत्सुकता होती है। इन सव जिज्ञासाओ की पूर्ति इस चतुर्थ कर्मग्रन्थ के द्वारा करने का प्रयास हुआ है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीसरे कर्मग्रन्थ मे मार्गणास्थानो का प्रतिपादन किया गया है अत इसमे सिर्फ मार्गणास्थानो मे गुणस्थानो का वर्णन कर दिया जाता तो परस्पर एक-दूसरे से सगति वनी रहती। क्योकि जीवस्थानो का समावेश मार्गणास्थानो मे अधिकतर हो जाता हे। दूसरी वात यह भी है कि जैसे अन्य-अन्य नये विपयो का वर्णन ग्रन्थ मे किया गया है, वैसे ही सम्वन्धित और भी विपयो का भी प्रतिपादन कर दिया जाता तो पाठको को सुविधा रहती। इन दोनो का समाधान यह है ग्रन्थकार विपयो की विविधता मे मे ग्रन्थमर्यादा के देखकर ही अपने योग्य विपयो का सकलन करने के लिए स्वतत्र है कि किन विपयो का वर्णन किया जाये। साथ ही यह भी सोचना पडता है पाठको की ग्रहण शक्ति को देखकर ग्रन्थ का प्रणयन करने पर ही ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध होती है। इन दोनो दृष्टियो को ध्यान मे रखकर ग्रन्थकार ने यहाँ विपयो का वर्णन किया है।

जिज्ञासापूर्ति के लिए सर्वप्रथम ग्रन्थ के जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यह तीन मुख्य विभाग किये है और उनमे से प्रत्येक मे क्रमश. आठ, छह और दस विपयो का वर्णन किया है। साथ ही प्रसगवश भाव और सख्या का भी विचार किया है। उक्त तीन विभागो मे कुल मिलाकर छब्बीस विपयो का प्रतिपादन किया है।

विकास को वेग मिलेगा। सभव है जनसाधारण की अभी इस ओर दृष्टि न जाये लेकिन तत्त्वजिज्ञासु चिन्तको से यह अपेक्षा करते है कि वे कर्मग्रन्थो का अध्ययन मात्र अध्ययन व सामान्य जानकारी की दृष्टि से न करे, वल्कि सभी शास्त्रों मे पारगत बनने की दृष्टि से करे।

प्राक्कथन के रूप मे कुछ विचार रखे है। विज्ञेषु किमधिकम्।

सम्पादक
—श्रीचन्द सुराना
—देवकुमार जैन

कर्मग्रन्थ

[षडशीति—चतुर्थ कर्मग्रन्थ]

श्री वीतरागाय नम

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

षडशीति

[चतुर्थ कर्मग्रन्थ]

मगलाचरण पूर्वक ग्रथकार ग्रथ के वर्ण्य-विपय का सकेत करते है—

नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
वन्धऽप्पबहूभावे संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥

शब्दार्थ : **नमिय**—नमस्कार करके, **जिणं**—जिनेश्वर देव को, **जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ**—जीव-मार्गणा-गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या, **बन्धऽप्पबहू**—वन्ध, अल्पत्व-बहुत्व, **भाव**—भाव, **संखिज्जाई**—सख्या आदि, **किमवि**—किंचित् (सक्षेप मे) **वुच्छं**—कहूँगा ।

गाथार्थ—जिनेश्वर देव को नमस्कार करके जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, वन्ध, अल्प-बहुत्व, भाव, सख्या आदि विषयों को सक्षेप मे कहूँगा ।

विशेषार्थ—ग्रथकार ने गाथा मे जिनेश्वर देव को नमस्कार करते हुए ग्रथ मे प्रतिपादित किये जाने वाले विपयो का सकेत किया है। नमस्कार अपने से उच्च मगलमय महापुरुषो को किया जाता है और यह नमस्कार, पुण्य-स्मरण सदैव सुख-शाति-सद्बोध प्राप्ति मे सहायक होता है। इसीलिए प्रत्येक कार्य को प्रारभ करने के पूर्व . . -

पुरुषो का स्मरण करना आवश्यक माना गया है। सामान्यतया अपने से वड़ो का विनय, सम्मान और नमस्कार करने की परपरा है और हम सभी इस परपरा का अनुसरण भी करते है। लेकिन यथार्थ विनय, नमस्कार वही है जिससे कि वंदनीय महापुरुषो के गुणों का कीर्तन-अनुस्मरण करने के साथ-साथ तदनुरूप वनने और होने की प्रेरणा मिले।

ग्रथकार ने **'नमिय जिणं'** पद से इसी प्रकार का सार्थक नमस्कार किया है। जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने का मुख्य कारण यह है कि जिनेन्द्र भगवान ने स्वपुरुषार्थ से ससार के कारणभूत कर्मो, रागद्वेष, मोह आदि पर विजय प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त करली है।

जव तक जीव मे रागद्वेप विद्यमान है, तब तक वह किसी-न-किसी योनि के शरीर द्वारा इद्रियो आदि की न्यूनाधिकता पूर्वक संसार मे परिभ्रमण करता रहेगा। उसके ज्ञान-दर्शन आदि आत्मिक गुणो मे कर्मावरण के कारण अल्पाधिकता आदि भी होगी और शारीरिक क्षमता एव शक्ति की तरतमता, से आत्मस्वरूप को प्राप्त करने मे भी पूर्ण रूप से समर्थ नही हो सकेगा। अतः कर्मजन्य उपाधियों से विमुक्ति के उपाय एव आदर्श को यथार्थ रूप मे अवतरित करने वाले जिनेश्वर देव को नमस्कार करके ग्रथकार ने प्रत्येक ससारी जीव को उसके लक्ष्य का वोध कराया है और साथ ही यह भी सकेत किया है कि संसार से मुक्ति का उपाय रागद्वेप पर विजय प्राप्त करना है। जव तक राग और द्वेप का सवध जुडा है तब तक जन्म-मरण रूप दुखो का भोग करना पड़ेगा।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय और उसका क्रम

(संसारी जीव अनत है और वे सभी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न प्रकार के शरीरो, ज्ञान, वुद्धि आदि वाले है। उन जीवो मे

शारीरिक और आत्मिक क्षमता की दृष्टि से विविधतायें भी अनंत है। जिनकी एक-एक जीव विशेष की दृष्टि से परस्पर में एक दूसरे से तुलना नही की जा सकती है और न एकरूपता या समानता का भी ज्ञान किया जा सकता है। फिर भी उन सभी दृष्टियो को ध्यान मे रखते हुए अनन्त जीवों का बाह्य-शारीरिक एवं आंतरिक-आत्मिक भावों के अनुसार सामान्य रूप से वर्गीकरण करने आदि के लिए ग्रथ मे निम्नलिखित विषयो का वर्णन किया जा रहा है—

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) उपयोग, (५) योग, (६) लेश्या, (७) बध, (८) अल्पबहुत्व, (९) भाव, (१०) सख्या।

गाथा मे उक्त दस नामो का उल्लेख किया गया है। लेकिन कर्मबध के कारणो, कर्मों की उदय, सत्ता आदि स्थितियो का बोध कराने के लिये गाथागत 'बन्ध' शब्द मे कर्मो की उदय, उदीरणा, सत्ता अवस्थाओं और बधहेतु इन चार विषयो को भी गर्भित किया गया है। इसका सारांश यह है कि ग्रथ मे जीवस्थान आदि बधहेतु पर्यन्त चौदह प्रकारो से ससारी जीवों का वर्गीकरण करके उनकी विभिन्न दशाओ—अवस्थाओ आदि का वर्णन किया जा रहा है। वर्णन किये जाने वाले चौदह प्रकारो के नाम इस प्रकार है —

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) उपयोग, (५) योग, (६) लेश्या, (७) बध, (८) उदय, (९) उदीरणा, (१०) सत्ता, (११) बंधहेतु, (१२) अल्पबहुत्व, (१३) भाव, (१४) सख्या।

गाथा मे स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आन्तरिक और शारीरिक से आत्मिक विविधताओ का बोध कराने के लिए जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान, गुणस्थान, आदि का किया गया क्रमोल्लेख सगुक्तिक है।

लोक-व्यवस्था के जीव और अजीव यह दो प्रमुख तत्त्व हैं। इन दोनों के संयोग और वियोग का नाम ही संसार और मुक्ति है। जीव में भी परिणमन होता है और अजीव में भी। लेकिन अजीव अपनी क्रिया मे प्रयत्न नहीं करता है और जीव की क्रिया में उसका उपयोग, पुरुषार्थ मुख्य है। जीव की क्रिया आन्तरिक और बाह्य, स्वाभाविक और वैभाविक, साहजिक और संयोगज दोनों प्रकार की होती है। जब जीव की क्रिया स्वाभाविक, साहजिक होती है तो वह स्वरूप की उपलब्धि में अग्रसर होता है और वैभाविक स्थिति मे अपना अस्तित्व बनाये रखकर भी पर-पदार्थों को स्व मान लेता है। पर-पदार्थों को स्व मान लेने से इष्ट संयोग में राग और अनिष्ट संयोग मे द्वेष होना निश्चित है। यही रागद्वेष दुःख हैं, दुख के कारण हैं, संसार हैं और कर्मबंध के बीज (मूल) हैं। इसीलिये कहा है :—

> रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
> कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति॥[1]

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण को ही दुःख कहते हैं।

संसार और मोक्ष दोनों मे जीव तत्त्व प्रधान है। यानी संसार और मोक्ष की स्थिति जीव तत्त्व के होने पर सिद्ध होती है। यदि जीव न हो तो किसको संसार—बंधन और किसको मोक्ष—बंधन से मुक्ति होगी। जीव अनन्त गुणो का स्वामी, अमूर्तिक, सत्तावान पदार्थ है। यह कल्पना मात्र नहीं है और न पृथ्वी आदि पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई संयोगी पदार्थ है। संसारी अवस्था मे यथायोग्य प्राप्त शरीर मे रहते हुए भी शरीर से भिन्न अपनी

---

१ उत्तराध्ययन ३२।७

स्वाभाविक वैभाविक परिणतियों का कर्ता-भोक्ता होकर भी जीव उनका केवल ज्ञाता है। इन सब कारणो से सर्वप्रथम जीवस्थान का निर्देश किया गया है। जैसे मूल—जड के अभाव मे वृक्ष का अस्तित्व संभव नही है और उसकी शाखा-प्रशाखाओं आदि का वर्णन नही किया जा सकता है, वैसे ही जीव की विद्यमानता मे ही मार्गणा आदि का अस्तित्व है (यानी उनका कथन किया जा सकता है। मार्गणा आदि आधेय है और जीव उनका आधार है। इस प्रकार की मुख्यता होने से जीवस्थान का सबसे पहले कथन किया गया है।

जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान का निर्देश इसलिये किया गया है कि जीव के व्यावहारिक या पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान किसी न किसी गति आदि पर्याय (मार्गणास्थान) के द्वारा ही किया जा सकता है। संसार मे विद्यमान अनन्त जीवो की न तो एक ही गति है और न एक ही जाति। सभी मे विविध प्रकार की विभिन्नताये है। कोई नरक गति मे विद्यमान है तो कोई मनुष्य, तिर्यंच, देवयोनि का शरीर धारण किये हुए है। कोई एकेन्द्रिय है तो कोई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय कहलाता है। इसी प्रकार से अन्य-अन्य कारणो से विभिन्न प्रकार की अनेकताये जीवो मे दिखलाई देती है। अतएव उन सब के स्वरूप का बोध कराने के लिये मार्गणास्थान का आधार लिया जाता है।) मार्गणास्थान के माध्यम से किया जाने वाला जीवो का वर्गीकरण इतना क्रमबद्ध, व्यवस्थित और सयुक्तिक होता है कि उनमे दृश्यमान शरीर, इन्द्रिय आदि स्थिति के साथ आन्तरिक, आध्यात्मिक स्थिति की तर-तमता का भी समावेश हो जाता है।

मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान का निर्देश किया गया है कि जीव ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त आत्मिक गुणो का पुंज है। वे अनन्त गुण, शुद्ध अवस्था मे पूर्णरूपेण विकसित हो जाते है किन्तु उनमे पूर्व

संसारावस्था मे विद्यमान जीवो—चाहे वे किसी भी गति, जाति आदि पर्यायो वाले है—मे कर्मावरण के कारण गुणो की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता देखी जाती है। गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता से जनित आत्मा की स्थिति और कर्मावरण के प्रक्षय से क्रम-क्रम से विकासोन्मुखी स्वभाव आदि का वर्गीकरण गुणस्थान क्रम द्वारा किया जाना सम्भव है।

(मार्गणास्थान और गुणस्थान इन दोनो के द्वारा जीवों का वर्गीकरण किया जाता है, लेकिन मार्गणास्थान द्वारा किया जाने वाला वर्गीकरण शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकारों के साथ-साथ उनके ज्ञान, दर्शन आदि गुणो की अपेक्षाओ को लिए हुए भी होता है और गुणस्थानो द्वारा किये जाने वाले वर्गीकरण मे जीवो की बाह्य शारीरिक आदि अवस्थाओ की विवक्षा न लेकर सिर्फ गुणो की मुख्यता होती है।

गुणस्थान के बाद उपयोग का निर्देश इसलिये किया गया है कि उपयोग जीव का लक्षण है[1] और अपने बोध रूप व्यापार के कारण वह अन्य पदार्थों से स्वतन्त्र एव उनका ज्ञाता, दृष्टा, भोक्ता आदि है। दूसरा कारण यह भी है कि गुणस्थानो का क्रम कर्मो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है लेकिन उपयोग जीव का शाश्वत अविनाभावी गुण है। जीव की अवस्थाये कर्मोदय के कारण परिवर्तित होती रहती है लेकिन उन सभी अवस्थाओ मे उपयोग अवश्य ही रहेगा। कर्मावृत जीव के उपयोग व्यापार मे तारतम्य होता रहता है लेकिन मुक्त जीव अपने उपयोगमय स्वरूप के द्वारा अनन्तकाल तक यथावस्थित रहते है। उनके ज्ञानादि रूप उपयोग मे किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नही होती है। उपयोग

---

१ जीवो उवओगलक्खणो। —उत्तराध्ययन २८।१०

आत्मा की शुद्ध अवस्था है। गुणस्थान क्रमारोहण के अनन्तर आत्मा उपयोगात्मक रूप मे अवस्थित हो जाती है, इस आशय को भी स्पष्ट करने के लिए गुणस्थान के अनन्तर उपयोग का क्रम रखा गया है।

उपयोग के अनन्तर योग के कथन का आशय यह है कि आत्मा का स्वभाव उपयोगात्मक है और उपयोगवान आत्मा योग—मन, वचन, काय की परिस्पन्दनात्मक क्रिया—के विना कर्म ग्रहण नही करती है, जैसे सिद्ध आत्मा। सिद्ध जीवो मे उपयोग तो है लेकिन योग नही है, इसीलिये वे कर्मवन्ध नही करते है और ससारी जीव उपयोगवान होने के साथ-साथ योग सहित है जिससे वे कर्मवध करते रहते है। अत. इन ससारी जीवों की स्थिति को वतलाने के लिये योग का कथन किया है।

योग के पश्चात् लेश्या का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि सिर्फ योग के द्वारा होने वाला कर्मवन्ध ससार का कारण नही है। योग के द्वारा आने वाले कर्मों का प्रकृति और प्रदेश रूप वन्ध होता है और प्रथम समय मे कर्म वँधकर दूसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाते है, लेकिन योग द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलो की स्थिति और उनमें फल देने की शक्ति का निर्माण लेश्या द्वारा होता है। क्योकि क्रोधादि कषायो से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते है और कषायो की तीव्रता-मन्दता द्वारा कर्म-पुद्गलो की काल मर्यादा एव फल-जनन-शक्ति मे तीव्र-मन्दरूपता आती है। कर्मों की इस तीव्र-मन्द रूप स्थिति और फल-जनन-शक्ति के द्वारा जीव के जन्म-मरण रूप ससार का चक्र चलता रहता है। यदि जीव के परिणामो मे काषायिक तीव्रता होगी तो उसे ससार मे अधिक समय तक परिभ्रमण करना पड़ेगा और कर्म-विपाक के वेदन मे भी उतनी ही तीव्रता होगी। यदि काषायिक भाव मन्द है तो उन्ही के अनुपात मे सासारिक दुःखो मे न्यूनता और कर्मबन्ध की स्थिति भी अल्पकालीन होगी।

संसारावस्था मे विद्यमान जीवो—चाहे वे किसी भी गति, जाति आदि पर्यायों वाले है—में कर्मावरण के कारण गुणो की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता देखी जाती है। गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता से जनित आत्मा की स्थिति और कर्मावरण के प्रक्षय से क्रम-क्रम से विकासोन्मुखी स्वभाव आदि का वर्गीकरण गुणस्थान क्रम द्वारा किया जाना सम्भव है।

(मार्गणास्थान और गुणस्थान इन दोनों के द्वारा जीवों का वर्गीकरण किया जाता है, लेकिन मार्गणास्थान द्वारा किया जाने वाला वर्गीकरण शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकारों के साथ-साथ उनके ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की अपेक्षाओ को लिए हुए भी होता है और गुणस्थानों द्वारा किये जाने वाले वर्गीकरण मे जीवो की बाह्य शारीरिक आदि अवस्थाओ की विवक्षा न लेकर सिर्फ गुणों की मुख्यता होती है।

गुणस्थान के बाद उपयोग का निर्देश इसलिये किया गया है कि उपयोग जीव का लक्षण है[1] और अपने बोध रूप व्यापार के कारण वह अन्य पदार्थों से स्वतन्त्र एव उनका ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता आदि है। दूसरा कारण यह भी है कि गुणस्थानों का क्रम कर्मो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है लेकिन उपयोग जीव का शाश्वत अविनाभावी गुण है। जीव की अवस्थाये कर्मोदय के कारण परिवर्तित होती रहती है लेकिन उन सभी अवस्थाओं मे उपयोग अवश्य ही रहेगा। कर्मावृत जीव के उपयोग व्यापार मे तारतम्य होता रहता है लेकिन मुक्त जीव अपने उपयोगमय स्वरूप के द्वारा अनन्तकाल तक यथावस्थित रहते है। उनके ज्ञानादि रूप उपयोग मे किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहो होती है। उपयोग

---

१ जीवो उवओगलक्खणो। —उत्तराध्ययन २८।१०

आत्मा की शुद्ध अवस्था है। गुणस्थान क्रमारोहण के अनन्तर आत्मा उपयोगात्मक रूप मे अवस्थित हो जाती है, इस आशय को भी स्पष्ट करने के लिए गुणस्थान के अनन्तर उपयोग का क्रम रखा गया है।

उपयोग के अनन्तर योग के कथन का आशय यह है कि आत्मा का स्वभाव उपयोगात्मक है और उपयोगवान आत्मा योग—मन, वचन, काय की परिस्पन्दनात्मक क्रिया—के विना कर्म ग्रहण नही करती है, जैसे सिद्ध आत्मा। सिद्ध जीवो मे उपयोग तो है लेकिन योग नही है, इसीलिये वे कर्मवन्ध नही करते है और ससारी जीव उपयोगवान होने के साथ-साथ योग सहित है जिससे वे कर्मबध करते रहते है। अत· इन ससारी जीवो की स्थिति को वतलाने के लिये योग का कथन किया है।

योग के पश्चात् लेश्या का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि सिर्फ योग के द्वारा होने वाला कर्मवन्ध ससार का कारण नही है। योग के द्वारा आने वाले कर्मो का प्रकृति और प्रदेश रूप वन्ध होता है और प्रथम समय में कर्म बँधकर दूसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाते है, लेकिन योग द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलो की स्थिति और उनमे फल देने की शक्ति का निर्माण लेश्या द्वारा होता है। क्योकि क्रोधादि कपायो से अनुरजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते है और कषायो की तीव्रता-मन्दता द्वारा कर्म-पुद्गलो की काल मर्यादा एव फल-जनन-शक्ति मे तीव्र-मन्दरूपता आती है। कर्मो की इस तीव्र-मन्द रूप स्थिति और फल-जनन-शक्ति के द्वारा जीव के जन्म-मरण रूप ससार का चक्र चलता रहता है। यदि जीव के परिणामों मे कापायिक तीव्रता होगी तो उसे ससार मे अधिक समय तक परिभ्रमण करना पड़ेगा और कर्म-विपाक के वेदन मे भी उतनी ही तीव्रता होगी। यदि काषायिक भाव मन्द है तो उन्ही के अनुपात मे सासारिक दु·खो मे न्यूनता और कर्मवन्ध की स्थिति भी अल्पकालीन होगी।

लेश्या के पश्चात् बन्ध का क्रम है और उसका कारण यह है कि लेश्या सहित जीव ही कर्मो का बन्ध करते है। जीव की सयोगि केवली अवस्था मे योग-प्रवृत्ति होती है, मन-वचन-काय मे परिस्पदन होता है, उनकी प्रवृत्ति होती रहती है, लेकिन यह योग-प्रवृत्ति कषाय-विहीन है। अतएव वे ऐसे कर्मो का बन्ध नही करते है जो ससार की वृद्धि करने वाले हों। लेकिन जिन ससारी जीवो की योग-प्रवृत्ति शुभ-अशुभ लेश्या परिणामों से युक्त है, वे अवश्य ही कर्म बन्ध करते है।

बन्ध के अनन्तर अल्पवहुत्व का क्रम है। जब तक जीव सशरीरी है, ससार में स्थित है तब तक वे लेश्या परिणाम वाले अवश्य ही होंगे। लेकिन लेश्या युक्त परिणाम वाले होने का यह अर्थ नही कि उन सबके परिणाम--आत्मभाव एक जैसे हो या एक ही प्रकार के हो। परिणामो मे तरतमता स्पष्ट दिखती है। इसीलिये कर्मबन्ध करने वाले जीव मार्गणा आदि के द्वारा वर्गीकृत किये जाने वाले होकर भी आपस मे न्यूनाधिक अवश्य हुआ करते है। उनकी इस न्यूनाधिकता का ज्ञान कराने के लिए ग्रन्थकार ने बन्ध के अनन्तर अल्पबहुत्व का सकेत किया है।

अल्पबहुत्व के पश्चात् भाव का कथन किया गया है। जिसका अर्थ यह है कि जो जीव लेश्याजन्य परिणामो से अल्पवहुत्व वाले है उनमे औपशमिक आदि भावो मे से कोई न कोई भाव अवश्य ही विद्यमान है और भाव के बाद सख्यात आदि कहने का आशय यह है कि इन औपशमिकादि भाव वाले जीवो में जो एक दूसरे से अल्प-बहुत्व है, उसकी गणना सख्यात, असख्यात आदि सख्याओ द्वारा की जाती है।

अल्पवहुत्व के वाद भाव और सख्या के क्रम रखने को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि अल्पवहुत्व का आधार या तो भाव हो सकते है या भाववालो मे गिनती (संख्या) की न्यूनाधिकता। सभी

जीव सामान्यतः गुणापेक्षा एक जैसे हैं। उनके गुणों में किसी प्रकार की अल्पाधिकता नहीं है लेकिन कर्मावरण की तरतमता से उन गुणों की अभिव्यक्ति में अवश्य तारतम्य दिखता है। जैसे कोई मूर्ख है तो किसी में ज्ञान का साधारण विकास है और कोई उसकी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिमान है। इस स्थिति को लेकर उनमे अल्पता और अधिकता का व्यवहार किया जाता है। यानी जीवों की पारिणामिक अल्पाधिकता के कारण उन-उनके भाव हैं। भाव के बाद सख्या का क्रम इस बात को स्पष्ट करता है कि भावापेक्षा जीवों मे जो न्यूनाधिकता है उनमें से औपशमिक भाव वाले जीवों की संख्या यह है, औदयिक भाव वालों की संख्या यह है आदि। गणना संख्या द्वारा की जाती है। अर्थात् भावापेक्षा होने वाली अल्पाधिकता का परिज्ञान. भाव पद से और गणनापेक्षा उनका ज्ञान सख्या पद से कराया जाता है। इन दोनों बातों को बतलाने के लिये भाव और संख्या का विधान किया गया है।

इस प्रकार से ग्रन्थ मे वर्णन किये जाने वाले विषयो की क्रम-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करने के बाद उनके लक्षण बताते है।

जीवस्थान आदि के लक्षण

(१) **जीवस्थान**—जीवों के स्थान अर्थात् जीवो के सूक्ष्म, बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि रूपो द्वारा होने वाले प्रकारों (भेदो) को जीवस्थान कहते है। जो जीता है, जीता था और जीवेगा इस प्रकार के त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते है। जीव के जीवित रहने के आधार है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—द्रव्यप्राण के यह दस भेद है तथा ज्ञान-दर्शन-चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते है। इसलिये जीव का लक्षण इस प्रकार किया जायेगा

कि जो द्रव्य और भावप्राणों से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा वह जीव है।

जीवों के दो प्रकार है—ससारी और मुक्त। इन दोनो प्रकार के जीवों मे चैतन्य रूप भावप्राण तो रहते ही है लेकिन ससारी जीव ज्ञान-दर्शन आदि भावप्राणो के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो सहित है तथा मुक्त जीवो मे सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते है। इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण है और जव तक जीव कर्मवद्ध है तव तक वे यथायोग्य इन्द्रियो आदि से युक्त रहते है। लेकिन कर्ममुक्त हो जाने पर सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि रूप चैतन्य परिणाम रहते है।

जीव की उक्त व्याख्या व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से की गई है। अर्थात् ससारी जीव की इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो और ज्ञानादि भावप्राणो सहित जीवित रहने की व्याख्या व्यवहारनय सापेक्ष है तथा मुक्त जीवो के सिर्फ ज्ञान आदि भावप्राणों द्वारा जीवित रहने की व्याख्या निश्चयनय सापेक्ष है।[1]

मुक्त और ससारी ये दोनो जीव है। लेकिन जीवस्थान मे ससारी

---

१ (क) शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जित स्वपरप्रकाशकाविनश्वर निरुपाधि-शुद्ध चैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादि-कर्मवन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीव ।

—द्रव्यसंग्रह टीका २।७

यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से आदि मध्य और अतरहित, स्वपर-प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान-दर्शन आदि) रूप निश्चय प्राण है उससे जीता है। तथापि अशुद्ध निश्चय नय (व्यवहारनय) से अनादि कर्म-वन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भावप्राण है उनसे जीता है।

(ख) तिक्काले चदु पाणा इदियवलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥ —द्रव्यसंग्रह ३

जीवो को ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि मुक्त जीवो मे किसी प्रकार का भेद नही है। सभी मे चैतन्य गुण एक जैसा है। लेकिन ससारी जीवो मे चैतन्य गुण के साथ-साथ शरीर आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार की विभिन्नताये पाई जाती है। जिनका बोध जीवस्थान द्वारा स्पष्ट रूप से हो जाता है।

कर्म-ग्रथो मे प्रयुक्त 'जीवस्थान' शब्द के लिए आगमो मे 'भूतग्राम'[1] शब्द का और दिगम्बर ग्रंथो मे 'जीवसमास'[2] शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) **मार्गणास्थान**—मार्गणा का अर्थ है अनुसन्धान, खोज, विचारणा आदि। मार्गणा के स्थानो को मार्गणास्थान कहते है। अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदि की विचारणा-अन्वेपणा के स्थानों (विपयो) को मार्गणा कहते है।

---

१ समवायाग १४।१

२ जेहिं अणेया जीवा णज्जते वहुविहा वि तज्जादि।
ते पुण सगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया॥
तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहि जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तव्भवसारिच्छसामण्णा।

—**गो० जीवकांड ७०।७१**

जिन धर्मों के द्वारा अनेक जीवो तथा उनकी अनेक जातियो का वोध होता है वे जीवसमास कहलाते है। त्रस-स्थावर, वादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण युगल मे अविरुद्ध नामकर्म (जैसे सूक्ष्म से अविरुद्ध स्थावर) के उदय से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जो उर्ध्वता सामान्य जीवो मे होता है, वह जीवसमास कहलाता है।

उर्ध्वता सामान्य—कालक्रम से अनेक अवस्थाओ के होने पर भी एक ही वस्तु का जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है वह उर्ध्वता सामान्य है। इससे उलटा एक समय मे ही अनेक वस्तुओ की जो परस्पर समानता देखी जाती है उसे तिर्यक् सामान्य कहते है।

मार्गणाओं मे जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेपणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानो, जीवस्थानों आदि का भी विचार किया जाता है ।[1]

ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेपणा और मीमासा ये मार्गणा के एकार्थवोधक समान नाम है ।

(३) **गुणस्थान**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को 'गुण' कहते है और उनके स्थान अर्थात्, गुणों की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष एव अपकर्ष-कृत स्वरूपविशेष का भेद 'गुणस्थान' कहलाता है । आत्मिकगुणो की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष व अपकर्ष के कारण आश्रव, बध, सवर, निर्जरा है । कर्मो का आश्रव और वध होने पर आत्म-गुणो में अशुद्धि का उत्कर्ष होता जाता है तथा सवर एव निर्जरा के द्वारा कर्मो का आश्रव तथा बंध रुकने व क्षय होने से गुणो की शुद्धि मे उत्कर्षता एव अशुद्धि मे अपकर्षता आती

---

१ (क) चतुर्दशाना जीवस्थानाना चतुर्दश गुणस्थानामित्यर्थ । तेपा मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थ । ''चतुर्दशजीवसमासा सदादिविशिष्टा मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणा । —**धवला १।१,१,२।१३१।३**

चौदह जीवसमासो से यहाँ पर चौदह गुणस्थान विवक्षित है । मार्गणा, गवेपण और अन्वेपण ये तीनो शब्द एकार्थवाची है । मत्, सख्या आदि अनुयोगद्वारो से युक्त चौदह जीवसमास जिसमे या जिसके द्वारा खोजे जाते है उसे मार्गणा कहते है ।

(ख) जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा ।

—**गो० जीवकाड १४१**

जिन भावो अथवा जिन पर्यायो मे जीव अनुमार्गण किये जाते है अर्थात् खोजे जाते है, उन्हे मार्गणा कहते है ।

गो० जीवकाड गाथा ३ मे 'विस्तार' और 'आदेश' ये दो शब्द मार्गणा के नामान्तर माने ह ।

जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवो के परिणामो मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धि वढती जाती है, आत्म-गुणों का विकास होता जाता है। आत्मगुणों के इसी विकास-क्रम को गुणस्थान कहते है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो सत-चित्-आनन्दमय है, किन्तु जब तक मोह कर्म की दर्शन और चारित्र ये दोनो शक्तियाँ प्रवल रहती है तव तक कर्मो का आवरण सघन होता है। उस स्थिति मे आत्मा का यथार्थ रूप प्रगट नही होता है किन्तु आवरणो के क्षीण, निर्जीर्ण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्त होता है। जव कर्मावरण की तीव्रता या अत्यन्त सघनता हो तव आत्मा के अविकास की अन्तिम स्थिति रहती है और जैसे-जैसे आवरण क्रमशः क्षीण होते हुए पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तव आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाती है। इन दोनो स्थितियो के अन्तराल मे आत्मा अनेक प्रकार की नीची, ऊँची, सघन-विरल अवस्थाओ का अनुभव करती है। ये मध्यवर्तिनी अवस्थाये अपेक्षा दृष्टि से उच्च और नीच कहलाती है अर्थात् ऊपर वाली स्थिति की अपेक्षा नीची और नीची अवस्था की दृष्टि से ऊँची कहलाती है। इन उच्च और नीच अवस्थाओ के वनने और कहलाने का मुख्य कारण कर्मो की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक स्थितियाँ है।

आगमो मे 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने मे नही आया है लेकिन 'जीवस्थान' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीवस्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[1] समवायाग सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी जीव-स्थानो (गुणस्थानो) को ज्ञानावरण आदि कर्मो की विशुद्धि से

---

१ कम्मविसोहिमग्गण पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता······

—समवायांग

निष्पन्न कहा है।[1] आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थो एव कर्मग्रन्थो मे किया गया है।[2] दिगम्बर ग्रन्थो मे आगमों मे कहे गये जीवस्थान शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये गुणस्थान[3] शब्द का प्रयोग किया है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओ के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावो से जीव लक्षित होते है, उन भावों को सर्वज्ञ सर्वदर्शियो ने 'गुणस्थान' इस सज्ञा से निर्दिष्ट किया है।[4]

षट्खडागम की धवला टीका मे गुणस्थानो के लिये जीवसमास शब्द का प्रयोग देखने मे आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव गुणो मे रहता है इसलिये उसे जीवसमास कहते है।[5] कर्म के उदय से उत्पन्न गुण औदयिक, क्षय-जन्य क्षायिक, उपशम से पैदा होने वाले औपशमिक एव क्षय तथा उपशम से उत्पन्न गुण क्षायोपशमिक कहलाते है, और कर्म के उदय, उपशम, क्षय,

---

१ कर्मविशोधि मार्गणा प्रतीत्य ज्ञानावरणादि कर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य"

—समवायांग वृत्ति पत्र २६

२ कर्मग्रन्थ भाग—२, गा० १। कर्मग्रन्थ भाग ४, गा० १ (देवेन्द्रसूरि विरचित)

३ गो० जीवकाड गा० ३

४ जेहिं दु लक्खिज्जते उदयादिमु सभवेहि भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिदिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥— गो० जीवकांड गा० ८

५ जीवसमास इति किम् ? जीवा सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमास । क्वासते ? गुणेपु। के गुण ? औदयिकोपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणा । गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसज्ञा प्रतिलभते ।

—षट्खण्डागम धवलावृत्ति प्र० ख० पृ० १६०-६१

क्षयोपशम के विना स्वभावत होने वाले गुण पारिणामिक है।[1] इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है। इसीलिये गुण शब्द की मुख्यता से पश्चाद्वर्ती साहित्य मे जीवस्थान के वदले गुणस्थान शव्द का प्रयोग वहुलता से होना सम्भव है। लेकिन इस प्रकार से आगमो और उत्तरवर्ती साहित्य मे जीवस्थान और गुणस्थान इस प्रकार का शाब्दिक भेद होने पर भी गुणस्थान शव्द द्वारा आगमो के जीवस्थान शव्द के आशय को ही स्पष्ट किया गया है।

सक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास ये चारो शव्द गुणस्थान के समानार्थक है।[2]

(जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनो जीव की अवस्थाये है, फिर भी इनमे यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति नामकर्म, पर्याप्त नामकर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव है। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[3] मार्गणास्थान सहभावी और गुणस्थान क्रमभावी है। गुणस्थान एक

---

१ स्वस्थितिक्षयवशादुदयनिषेके गलता कार्मणस्कन्धाना फलदानपरिणति उदय, तस्मिन् भव औदयिक। प्रतिपक्षकर्मणामुदयाभाव उपशम तत्र भव औपशमिक। प्रतिपक्षकर्मणा पुनरुत्पत्त्यभावेन नाश क्षय तस्मिन् भव क्षायिक। प्रतिपक्षकर्मणामुदये विद्यमाने यो जीवगुणाशो दृश्यते स क्षयोपशम. तस्मिन् भव क्षायोपशमिक। उदयादिनिरपेक्ष परिणाम· तस्मिन् भव पारिणामिक। —**गो० जीव० प्रबोधिनी टीका**

२ गो० जीवकाड गा० ३ तथा १०

३ सखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा। —**गो० जीवकांड ३**

के पश्चात् दूसरा होता है, उनमे एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नही है लेकिन गुणस्थानो के क्रम के बदलते रहने पर भी मार्गणा के चौदह भेदो मे से कुछ एक मार्गणाओ को छोडकर प्राय. सभी मार्गणाये एक जीव मे एक साथ पाई जा सकती है।

(४) **उपयोग**—जीव के बोध रूप व्यापार को उपयोग कहते है। यह आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम रूप है अर्थात् जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है उसे उपयोग[1] कहते है। वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिये आत्मा के द्वारा होने वाले व्यापार मे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धि विशेष और बहिरग कारण यथायोग्य पदार्थो को ग्रहण करने वाली इन्द्रियो की रचना है। पदार्थ के परिज्ञान के समय यह घट है, यह पट है इत्यादि प्रकार से आत्मा का (चैतन्य का) व्यापार होना चैतन्यानुविधायी परिणाम कहलाता है।[2]

प्रणिधान, उपयोग और परिणाम ये शब्द उपयोग के अर्थ का वोध कराने वाले होने से एकार्थवाची है।[3]

(५) **योग**—आत्मा के प्रदेशो मे परिस्पन्दन (हलन-चलन, कंपन, संकोच-विस्तार) होना योग कहलाता है।[4] आत्मप्रदेशो मे अथवा

---

१ वत्थुणिमित्त भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो।
—गो०जीव कांड गा० ६७२

२ पदार्थपरिच्छित्तिकाले घटोऽय पटोऽयमित्याद्यर्थग्रहणरूपेण व्यापारयति चैतन्यानुविधायि स्फुटम्। —पं० का० ता० वृ० ४०।८०।१२

३ प्रणिधान उपयोग परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। —राजवा० १।१।३।२२

४ जीवपदेसाण परिफन्दो सकोचविकोचब्भमणसरूवओ।
—धवला १०।४; २, १७५।४,३७।७

आत्मशक्ति मे परिस्पन्दन मन, वचन, काय के द्वारा होता है, इसीलिये मन, वचन, काय के कर्म—व्यापार को[1] अथवा पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की कर्मों के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति को योग कहते है।[2]

(६) लेश्या—आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप स्फटिक मणि के समान निर्मल है। लेकिन कषायोदय से अनुरजित योग की प्रवृत्ति के द्वारा होने वाले उसके भिन्न-भिन्न परिणामो, जो कृष्ण-नील आदि अनेक रग वाले पुद्गल-विशेप के प्रभाव से होते है, को लेश्या कहते है।

इस सवध मे श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक टीका पृ० ६४५-१ पर निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप मे लिखा है—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं लेश्या शब्दः प्रवर्तते ॥

लेश्या के द्वारा आत्मा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करती है। जीव और कर्म का सबध लेश्या द्वारा होता है।

लेश्या के दो भेद है—(१) द्रव्यलेश्या और (२) भावलेश्या। इनमे से द्रव्यलेश्या पुद्गल-विशेषात्मक है और वह शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होती है। इसीलिये वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते है।

द्रव्यलेश्या के स्वरूप के वारे मे मुख्यतया तीन मत है—(१) कर्म-वर्गणा-निष्पन्न, (२) कर्म-निष्यन्द (वध्यमान-कर्म-प्रवाहरूप) और (३) योग-परिणाम। इन मतो सवधी स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्य (जिह) प्पणिजोगो जोगोत्ति जिणेहिं णिदिट्ठो । —**पंचसंग्रह १।८८**

२ पुग्गलविवाईदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारण जोगो । —**गो० जीवकांड २१६**

प्रथम मत का यह अभिप्राय है कि लेश्या-द्रव्यकर्मवर्गणा से बने हुए है, फिर भी वे ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से भिन्न नही है, जैसे कि कार्मणशरीर।[1]

दूसरे मत के अनुसार लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप है। चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है।[2]

तीसरा मत श्री हरिभद्रसूरि आदि का है। इस मत का आशय श्री मलयगिरि ने पन्नवणा पद १७ की टीका पृ० ३३० पर स्पष्ट किया है। वे लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतत्र द्रव्य मानते है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने लोकप्रकाश ग्रन्थ के सर्ग ३, श्लोक २८५ मे इसी मत को ग्राह्य माना है।

लेश्या द्रव्य के स्वरूप संबधी उक्त तीनो मतो के अनुसार तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त भावलेश्या का सद्भाव समझना चाहिये। यह मत दिगम्बर आचार्यो को भी मान्य है। उन्होने भी योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

अयदोत्ति छलेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥[3]

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३४ टीका पृ० ६५०—अन्येत्वाहु —कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानिकर्मलेश्याद्रव्याणीति।

२ उत्तराध्ययन अ० ३४ टीका पृ० ६५०। इस मत का श्री शातिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' सकेत कर उल्लेख किया है—'कर्म-निस्यन्दो लेश्या, यत· कर्मस्थिति हेतवो लेश्या, यथोक्तम्—
ता कृष्णनीलकापोततेजसीपद्मशुक्ल नामान। श्लेष इव वर्ण बन्धस्य, कर्मबन्धस्थिति विधात्र्य ॥

३ गो० जीवकाड ५३२

भावलेश्या आत्मा का परिणामविशेष है और यह परिणाम सक्लेश एव योग से अनुगत है। सक्लेश का कारण कषायोदय है। इसीलिये-कषायोदयानुरजित योगप्रवृत्ति को भावलेश्या कहते है।[1] मोह कर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशो मे चचलता भी भावलेश्या है।[2] क्योकि भावलेश्या का साधन असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो तक मोहनीय कर्म का उदय और देशविरति आदि तीन गुणस्थानो मे मोहनीय कर्म का क्षयोपशम, उपशमश्रेणि मे मोहनीय कर्म का उपशम और क्षपकश्रेणि मे मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोह कर्म के उदयादि से होने वाले ये औदयिक आदि चारो ही परिणाम और इनके साथ होने वाले प्रदेश परिस्पन्दन रूप योग जीव के स्वतत्त्व—परिणाम है। अतएव इनको भावलेश्या कहते है। जीव-विपाकी मोहनीय कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म की अवस्थाये इनकी साधन है।

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकाड (दिगम्बर ग्रन्थ) मे कषायोदय-अनुरजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवे गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या का होना पाया जाता है, तथापि यह कथन अपेक्षाकृत होने से पूर्व कथन से विरुद्ध नही है। क्योकि पूर्व कथन मे केवल प्रकृति और प्रदेश वध के निमित्तभूत परिणाम लेश्या रूप से विवक्षित है और इस कथन मे स्थिति अनुभाग आदि चारो वन्धो के निमित्तभूत परिणाम लेश्या रूप से विवक्षित है, सिर्फ प्रकृति व प्रदेश वध के निमित्तभूत परिणाम ही नही। जैसे कि —

भावलेश्या कषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।
—सर्वार्थसिद्धि २।६

(ख) जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरजिया होई।
तत्तो दोण्ण कज्ज वधचउक्क समुद्दिट्ठ ॥—गो० जीवकांड ४६०

(ग) कषायानुरजिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या।
—धवला १।१,१,४।१४६।८

२ मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफदण भावो। —गो० जीवकांड ५३६

इस प्रकार से भावलेश्या की व्याख्या किन्ही भी अपेक्षाओ से की जाये, लेकिन उन सबका अर्थ एक ही है कि आत्म-प्रदेशो मे होने वाली चंचलता-परिस्पन्दन का नाम भावलेश्या है।

कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहने पर जिज्ञासा होती है कि योग को अथवा कषाय को या योग और कषाय दोनों मे से किसको लेश्या कहते है। इनमे से आदि के दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नही सकते है क्योंकि वैसा मानने पर योग और कषाय मार्गणा मे ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। तीसरा विकल्प नही माना जा सकता है क्योकि वह भी प्रथम दो विकल्पों के समान हैं। अत· उसका किसी एक मे समावेश हो जायेगा।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि कर्मलेप रूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा से एकरूपता को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या कहा है। लेश्या एकत्व को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप है, न कि भिन्न-भिन्न रूप। अत· उन दोनो मे लेश्या के अन्तर्भाव को मानना युक्तिसगत नही। क्योकि दो धर्मो के सयोग से उत्पन्न किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुए धर्म का किसी एक के साथ एकत्व अथवा समानता नही होती और दो के मिश्रण से उत्पन्न तीसरी वस्तु उन दोनो मे भिन्न और अपनी पृथक् सत्ता रखती है।

योग और कपाय से लेश्या को भिन्न मानने का यह भी कारण है कि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि अवलवन रूप वाह्य पदार्थो के सपर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायो से सिर्फ योग और सिर्फ कषाय के कार्य से भिन्न जो ससार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि होती है, उसे सिर्फ योग या कपाय का कार्य नही कहा जा सकता है। अतएव लेश्या उन दोनो मे भिन्न है।

कपायोदयजन्य सक्लेश के अनेक भेद है। इसीलिये भावलेश्या

भी असख्य प्रकार की है। तथापि उन सब प्रकारो का सक्षेप मे—(१) तीव्रतम (२) तीव्रतर (३) तीव्र (४) मद (५) मदतर और (६) मदतम—इन छह विभागो मे वर्गीकरण किया गया है और उन स्थितियो का ज्ञान कराने के लिये लेश्या के निम्नलिखित छह भेद माने जाते है—

(१) कृष्णलेश्या (तीव्रतम स्थिति), (२) नीललेश्या (तीव्रतर स्थिति), (३) कापोतलेश्या (तीव्र स्थिति), (४) तेजोलेश्या (मद स्थिति), (५) पद्मलेश्या (मदतर स्थिति) (६) शुक्ललेश्या (मदतम स्थिति)।

इन लेश्याओ की पारिणामिक स्थिति निम्नप्रकार है—

कृष्णलेश्या वाले के परिणामो मे कषायो की तीव्रतम स्थिति होती है। इसीलिये वह तीव्र क्रोध आदि करने वाला होता है। धार्मिक आचार-विचारो से सर्वथा शून्य होता है एव सदैव कलह, परनिन्दा आदि मे रत रहता है, स्वैराचारी, इन्द्रिय-विपयो मे रत रहने वाला, मायावी, दभी होता है।

नीललेश्या वाले के काषायिक परिणाम कृष्णलेश्या वाले की अपेक्षा कुछ न्यून स्तर के होते है। इस स्थिति को कषायो की तीव्रतर स्थिति कह सकते है। नीललेश्या के परिणाम वाला दूसरो को ठगने मे चतुर, धन-धान्यादि के सग्रह मे तीव्र लालसा रखने वाला, लोभी, कृपण आदि वृत्ति से युक्त होता है।

कापोतलेश्या वाले के काषायिक परिणाम भी तीव्र होते है, लेकिन कृष्ण और नीललेश्या वालो की अपेक्षा कुछ सुधरे हुए होते है। फिर भी दूसरो की निन्दा, चुगली आदि करने की ओर उन्मुख रहता है, स्व-प्रशसा और पर-निदा करने मे चतुर होता है। अहकार मे डूबा रहता है आदि।

तेजोलेश्या विकासोन्मुखी आत्म-परिणामो एव मद परिणामो का सकेत करती है। इस लेश्या के परिणाम व

कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करने वाला होता है। दया-दान आदि कार्य करने मे तत्पर रहता है। स्वभाव से सरल और मृदु होता है।

पद्मलेश्या वाले के परिणाम तेजोलेश्या वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ होते है। कषायों की स्थिति मदतर होती है। वह तत्त्वजिज्ञासु होता है। व्रत-शील आदि के पालन मे तत्पर रहता है। सासारिक विपयो मे उदासीन एव साधु-जनों का प्रशंसक होता है।

शुक्ललेश्या वाला स्वभावत: सरल भद्र परिणामी होता है। उसके परिणामों में कषायो की झाई जैसी दिखती है। इसलिये शुक्ल लेश्या मे कषायो की मन्दतम स्थिति मानी गई है। निर्वैरता, वीत-रागता, दूसरों के दोषो को न देखना, निन्दा न करना, पाप कर्मो से उदासीन रहना, श्रेयोमार्ग मे रुचि आदि शुक्ललेश्या वाले के लक्षण है।

कृष्ण आदि इन छह लेश्याओ मे से आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत लेश्याये अशुभ और अत की तेज, पद्म और शुक्ल यह तीन लेश्याएँ शुभ है।

उक्त कृष्णादि छहो लेश्याओ की पारिणामिक स्थिति निम्न-लिखित दृष्टात द्वारा स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाती है[1]—

कोई छह व्यक्ति जामुन खाने की इच्छा से जगल मे पहुँचे। इनमे से एक जामुन के वृक्ष को देखकर बोला—फलो की प्राप्ति के लिये वृक्ष पर चढने की वजाय इस वृक्ष को जड से ही काट लेना चाहिए।

यह सुनकर दूसरे ने कहा—वृक्ष को जड-मूल से काटने मे क्या लाभ है ? केवल इसकी शाखाओ को काट लेना चाहिये।

तीसरे पुरुप ने कहा—यह भी ठीक नही है। छोटी-छोटी शाखाओ के काट लेने से भी अपना काम चल जायेगा।

---

१ ग्रन्थकार ने लेश्याओ के स्वरूप को समझाने के लिये स्वोपज्ञवृत्ति मे इस दृष्टात का उल्लेख किया है।

चौथे ने कहा—शाखाये काटने से भी क्या लाभ ? हमें तो इसके गुच्छे तोड़ लेना चाहिये ।

पाँचवाँ बोला—गुच्छो से क्या प्रयोजन ? इनमे से पके हुए फलों को ही ले लेना चाहिए ।

इस प्रकार के वार्तालाप को सुनकर अत मे छठा पुरुष बोला—यह सब निरर्थक विचार है, क्योंकि खाने के लिए जिन फलों को चाहते है, वे तो नीचे ही पड़े है। हमारा तो उनसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा ।[1]

उक्त दृष्टात से लेश्याओ के स्वरूप का स्पष्टतया ज्ञान हो जाता है। दृष्टात मे छह व्यक्ति है और उनमे पूर्व-पूर्व पुरुप के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुप के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम है यानी उत्तर-उत्तर पुरुप के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। अतएव प्रथम पुरुप के परिणाम को कृष्ण-लेश्या, दूसरे के परिणाम को नीललेश्या, इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवे और छठे पुरुष के परिणामों को क्रमश· कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या समझना चाहिये ।[2]

---

१ यही दृष्टात दिगम्बर ग्रन्थ गो० जीवकाड, गा० ५०७-५०८ मे भी दिया गया है ।

२ लेश्या सम्बन्धी कुछ विशेप बाते जानने के लिये गो० जीवकाड का लेश्या-मार्गणाधिकार (गा० ४८९-५५६) द्रष्टव्य है ।

द्रव्यलेश्या के वर्ण, गन्ध आदि का तथा भावलेश्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराध्ययन अ० ३४ मे विशद रूप से किया गया है। प्रज्ञापना—लेश्यापद, आवश्यक, लोकप्रकाश आदि भी द्रष्टव्य हैं ।

जैन शास्त्रो मे किये गये लेश्याओ के विचारो से मिलता-जुलता छह जातियो का विभाग मखलि गोशालक के मत मे भी किया गया है जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण, नील आदि छह वर्णो के आधार पर है। देखिये दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त ।

(७) **बन्ध**—मिथ्यात्वादि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्‌गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक मे कर्म योग्य पुद्‌गल वर्गणाओ का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिड की तरह एक दूसरे मे अनुप्रवेश—अभेदात्मक एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने को बध कहते हैं।[1]

बध के चार भेद है—प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेशबंध। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह सामान्यत: कर्मबध के कारण माने गये है। इन कारणो को भी कषाय और योग मे गर्भित कर लेने पर मुख्य रूप से कषाय और योग को कर्मबंध का कारण माना जाता है। योग द्वारा प्रकृति और प्रदेशबध तथा कषाय द्वारा स्थिति एव अनुभागबध विशेष होता है।

गाथा मे 'सखिज्जाई' पद में आगत आदि शब्द से उदय, उदीरणा, सत्ता एवं बधहेतुओं को ग्रहण करने का सकेत ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ वृत्ति मे किया है। जिनके लक्षण क्रमश· इस प्रकार है—

(८) **उदय**—बँधे हुए कर्म-दलिकों की स्वफल प्रदान की अवस्था को उदय कहते है।[2] कभी तो इन बँधे हुए कर्म-दलिको का फलोदय

महाभारत अध्याय १२, श्लोक २८६ मे छह जीव वर्ण का कथन है, जो लेश्याओ के वर्णन से मिलता-जुलता है।

पातजल योगदर्शन ४।७ मे भी ऐसी कल्पना है। क्योकि उसमे कर्म के चार विभाग करके जीवो के भावो की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया गया है।

१ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बन्ध।

—राजवा० १।४।१७।२६।२६

२ (क) द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणा फलप्राप्तिरुदय।

—सर्वार्थसिद्धि २।१।१४६।८

(ख) भुजणकालो उदओ। —पंचसंग्रह ३।३

(विपाकानुभव) अवाधाकाल[1] पूर्ण होने पर होता है और कभी नियत अवाधाकाल पूर्ण होने से पहले ही अपवर्तना[2] आदि करणो से होता है। नियत अवाधाकाल के पूर्ण न होने के पूर्व ही जो विपाकानुभव किया जाता है, उससे कर्म निर्जरा अधिक होती है और निर्जीर्णमान कर्म अपनी पूर्ण शक्ति से विपाकानुभव नही करा पाता है। इसीलिये कर्म निर्जरा दो प्रकार की मानी गई है—सविपाकनिर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—यथाक्रम से परिपाक काल को प्राप्त और अनुभव के लिये उदयावली के स्रोत मे प्रविष्ट हुए शुभाशुभ कर्मो की फल देकर जो निवृत्ति होती है उसे सविपाक निर्जरा कहते है।

अविपाक निर्जरा—उदयावली के वाहर स्थित कर्म को तप आदि क्रियाविशेप की सामर्थ्य से उदयावली मे प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाना अविपाक निर्जरा कहलाती है।

सविपाक निर्जरा तो केवल उदयगत कर्मो की होती है और अविपाक निर्जरा उदय और अनुदय अवस्था को प्राप्त सभी कर्मो की होती है। सविपाक निर्जरा तो सभी ससारी जीवों के होती रहती है किन्तु अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रतधारियो को होती है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, सर्वविरत, आदि की क्रमशः कर्मनिर्जरा अनन्त गुनी अधिक होती है किंतु समय क्रम-क्रम से अल्प लगता है।

---

१ आत्मा के साथ कर्म रूप से बँधा हुआ पुद्गल द्रव्य जितने समय तक उदय रूप अथवा उदीरणा रूप न हो अर्थात् अपने विपाकोदय मे नही आता, उतने समय को अवाधाकाल कहते है।

२ वद्ध-कर्मो की स्थिति तथा अनुभाग मे आत्मा के अध्यवसाय—शक्तिविशेप से कमी कर देना अपवर्तनाकरण कहलाता है।

(९) **उदीरणा**—उदयकाल को प्राप्त नही हुए कर्मो का आत्मा के अध्यवसायविशेष—प्रयत्नविशेष से नियत समय से पूर्व उदय के लिये उदयावलिकों मे प्रविष्ट करना—अवस्थित करना उदीरणा कहलाती है। अर्थात नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है।[1] उदीरणा के चार प्रकार है—प्रकृति उदीरणा, स्थिति उदीरणा, अनुभाग उदीरणा और प्रदेश उदीरणा।

उदय और उदीरणा मे यद्यपि कर्म-विपाक का वेदन किया जाता है, फिर भी दोनो में यह अन्तर है कि उदयावस्था मे वद्ध कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के विना स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते है और उदीरणावस्था मे दीर्घस्थिति और अनुभाव मे अवस्थित कर्मस्कध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते है। साराश यह है कि कर्म के फलभोग के नियतकाल को उदय और अनुदय काल को प्राप्त कर्मो को फलोदय की स्थिति मे ला देना उदीरणा है।

(१०) **सत्ता**—कर्मो की अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा के साथ सवद्ध रहने की स्थिति का नाम सत्ता है। अर्थात् बँधने के पश्चात् जब तक उदय मे आकर विवक्षित कर्म-दलिक पूर्णरूपेण निर्जीर्ण नही हो जाते, तब तक उस कर्म की सत्ता कही जाती है। कर्म-पुद्गलो के विवक्षित कर्म रूप से परिणत होने के कारण वधन[2] और सक्रमण करण[3] है। ये वद्ध कर्म या तो निर्जरा के द्वारा क्षय हो जाते है या सक्रम अवस्था से रूपान्तरित, इसलिये जव तक वद्ध कर्मो

---

१ उदीरणाऽपक्वपाचणफल। —**पंचसंग्रह** ३।३

२ आत्मा की जिस शक्ति—वीर्यविशेष से कर्म का वध होता है वह वधनकरण कहलाता है।

३ एक कर्म रूप मे स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप मे वदल जाना सक्रम है।

की निर्जरा नही होती और सक्रम से रूपान्तरित नही होते किंतु अपने स्वरूप मे ही बने रहते है तब तक अपने विवक्षित स्वरूप मे बना रहना उस कर्म की सत्ता[1] कहलाती है।

सत्ता, सत्व, सत् ये सब एकार्थवाची नाम है।

(११) **बन्धहेतु**—मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामो (कर्मोदय जन्य आत्मा के परिणाम—क्रोध आदि) से कर्मयोग्य पुद्गल कर्म रूप मे परिणत हो जाते है उन वैभाविक परिणामो को बधहेतु कहते है। सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग[2] यह कर्मबध के हेतु माने गये है तथा ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मो के अपने-अपने विशेप बधहेतु भी है। इन विशेप बधहेतुओ मे मिथ्यात्व आदि का सद्भव तो रहता ही है लेकिन विशेष हेतुओ के द्वारा उस-उस कर्म का विशेप रूप से वन्ध होता है तथा अन्य कर्मो का सामान्य रूप से। इनका विशेप स्पष्टीकरण प्रथम कर्मग्रथ मे किया गया है। अत. जिज्ञासु जन सबधित जानकारी वहाँ से कर लेवे।

---

१ वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के लक्षण प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ के भाष्य मे इस प्रकार है—

जीवस्स पुग्गलाण य जुग्गाण परुप्पर अभेएण।
मिच्छाइहेउविहिया जा घडणा इत्थ सो बधो॥
करणेण सहावेण व णिइवचए तेसिमुदयपत्ताण।
ज वेयण विवागे ण सो उ उदओ जिणाभिहिओ॥
कम्माणूण जाए करणविसेसेण ठिइवचयभावे।
ज उदयावलियाए पवेसणमुदीरणा सेह॥
वधणसकमलद्ध—त्तलाहकम्मस्सरूव अविणासो।
निज्जरणसकमेहि, सब्भावो जो य सा सत्ता॥
—गा० ३०, ३१, ३२, ३३

२ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोग. वधहेतव। —**तत्त्वार्थसूत्र ८।१**

(१२) अल्पबहुत्व[1]—पदार्थो के परस्पर न्यूनाधिक—अल्पाधिक भाव को अल्पबहुत्व कहते है। पदार्थो मे किसी एक परिणाम का निश्चय हो जाने पर उनकी परस्पर विशेष प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिये अल्पबहुत्व का आधार लिया जाता है। जैसे यह इसकी अपेक्षा अल्प है, यह अधिक है। अल्पबहुत्वभाव बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निक्षेपो की अपेक्षा अल्पबहुत्व के अनेक भेद होते है।

(१३) भाव—जीव और अजीव द्रव्यो का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होने को भाव कहते है।[2] जीव और अजीव द्रव्यो के अपने अनेक प्रकार के स्वभाव है, जो उनके भाव कहलाते है। अजीव द्रव्यो मे तो अपने-अपने स्वाभाविक भाव ही होते हैं लेकिन जीव मे स्वाभाविक और वैभाविक दोनो प्रकार के भाव पाये जाते है। इसलिये जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक यह पॉच भाव माने गये है।[3] अजीव द्रव्यो मे से पुद्गल द्रव्य मे औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक यह तीन भाव तथा शेप धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्यों मे सिर्फ पारिणामिक भाव पाया जाता है।

(१४) संख्या—भेदो की गणना को सख्या कहते हैं।[4] पदार्थो के प्रमाण का कथन सख्या द्वारा किया जाता है। सख्यात, असख्यात और अनत ये सख्या के भेद है और उनकी अपनी-अपनी परिभापा मे

---

१ क्षेत्रादिभेदभिन्नाना परस्परत सख्याविशेपोऽल्पबहुत्वम्।
—सर्वार्थसिद्धि १०।६।४७३

२ भाव परिणाम किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्ति।—पंचाध्यायी पृ० २७६

३ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।
—तत्त्वार्थसूत्र २।१

४ सख्या भेदगणना। —सर्वार्थसिद्धि १।८।२६।६

जीवस्थान को लेकर निम्नलिखित आठ विषयो का विचार किया गया है—

(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) सत्ता।

मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले छह विषय इस प्रकार हैं—

(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, (६) अल्पवहुत्व।

गुणस्थान को लेकर वारह विपयो का वर्णन किया गया है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वध-हेतु, (६) बध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पवहुत्व, (११) भाव (१२) सख्यात आदि सख्या।

अव आगे की गाथाओ मे विभागानुसार प्रत्येक विभाग मे उन-उनके वर्ण्य-विषयो का विवेचन किया जा रहा है।

☆

नमिय जिण वत्तव्वा चउदसजिअठाणएमु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा वधुदओदीरणा सत्ता॥
तह मूलचउदसमग्गण ठाणेसु वासट्ठि उत्तरेसु च।
जिअगुणजोगुवओगा लेसप्पवहु च छट्ठाणा॥
चउदसगुणेसु जिअजोगुवओगलेसाय वधहेऊ य।
वधाइचउअप्पा-वहु च तो भावसखाई॥

जीवस्थान को लेकर निम्नलिखित आठ विषयों का विचार किया गया है—

(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) सत्ता।

मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले छह विषय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, (६) अल्पबहुत्व।

गुणस्थान को लेकर बारह विषयो का वर्णन किया गया है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बध-हेतु, (६) बध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव (१२) सख्यात आदि सख्या।

अब आगे की गाथाओ मे विभागानुसार प्रत्येक विभाग मे उन-उनके वर्ण्य-विषयों का विवेचन किया जा रहा है।

☆

नमिय जिण वत्तव्वा चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा बधुदओदीरणा सत्ता॥
तह मूलचउदसमग्गण ठाणेसु बासट्ठि उत्तरेसु च।
जिअगुणजोगुवओगा लेसप्पबहु च छट्ठाणा॥
चउदसगुणेसु जिअजोगुवओगलेसाय बधहेऊ य।
बधाइचउअप्पा-बहु च तो भावसखाई॥

जीवस्थान को लेकर निम्नलिखित आठ विषयो का विचार किया गया है—

(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) सत्ता।

मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले छह विषय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, (६) अल्पवहुत्व।

गुणस्थान को लेकर बारह विषयो का वर्णन किया गया है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बध-हेतु, (६) बध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पवहुत्व, (११) भाव (१२) सख्यात आदि सख्या।

अव आगे की गाथाओ मे विभागानुसार प्रत्येक विभाग मे उन-उनके वर्ण्य-विषयो का विवेचन किया जा रहा है।

☆

नमिय जिण वत्तव्वा चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा वधुदओदीरणा सत्ता॥
तह मूलचउदसमग्गण ठाणेसु वासट्ठि उत्तरेसु च।
जिअगुणजोगुवओगा लेसप्पवहु च छट्ठाणा॥
चउदसगुणेसु जिअजोगुवओगलेसाय वधहेऊ य।
वधाइचउअप्पा-वहु च तो भावसखाई॥

जीवस्थान को लेकर निम्नलिखित आठ विषयों का विचार किया गया है—

(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) सत्ता।

मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले छह विषय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, (६) अल्पबहुत्व।

गुणस्थान को लेकर बारह विषयो का वर्णन किया गया है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बध-हेतु, (६) बध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव (१२) सख्यात आदि सख्या।

अब आगे की गाथाओ मे विभागानुसार प्रत्येक विभाग मे उन-उनके वर्ण्य-विषयो का विवेचन किया जा रहा है।[1]

☆

नमिय जिण वत्तव्वा चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा बधुदओदीरणा सत्ता ॥
तह मूलचउदसमग्गण ठाणेसु बासट्ठि उत्तरेसु च।
जिअगुणजोगुवओगा लेसप्पबहु च छट्ठाणा ॥
चउदसगुणेसु जिअजोगुवओगलेसाय बधहेऊ य।
बधाइचउअप्पा-बहु च तो भावसखाई ॥

जीवस्थान अधिकार

इस अधिकार मे जीवस्थान को लेकर गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयो का यथाक्रम से कथन करते है। सर्वप्रथम जीवस्थान के भेद व नाम कहते है।

जीवस्थान

इह सुहुमबायरेगिंदिवितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥

शब्दार्थ—**इह**—इस लोक मे, **सुहुम**—सूक्ष्म, **वायर**—वादर, **एगिंदि**—एकेन्द्रिय, **वि**—द्वीन्द्रिय, **ति**—त्रीन्द्रिय, **चउ**—चतुरिन्द्रिय, **असन्नि**—असज्ञी, **सन्नि**—सज्ञी, **पंचिंदी**—पचेन्द्रिय, **अपजत्ता**—अपर्याप्त, **पज्जत्ता**—पर्याप्त, **कमेण**—अनुक्रम से, **चउदस**—चतुर्दश-चौदह, **जियट्ठाणा**—जीवस्थान (है)।

गाथार्थ—इस लोक मे सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय ये सातो अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होने से जीवस्थान चौदह होते है।

विशेषार्थ—ग्रन्थलाघव के लिये ग्रन्थकर्ता ने जीवस्थान, मार्गणा-स्थान, गुणस्थान के भेदो की सख्या अलग से न वतलाकर नामों द्वारा उनकी भेद-संख्या का भी सकेत किया है। इसीलिये गाथा मे जीव-स्थान के नामो द्वारा चौदह भेद वताये है। ये चौदह भेद ससारी जीवो के है। जीवत्व—चैतन्य रूप सामान्य धर्म की समानता होने के कारण अनन्त जीव समान—एक जैसे है। सभी के गुण, धर्म समान होने से उनमे किसी प्रकार का भेद नही है। इसीलिये सामान्य

दृष्टि से जीव का लक्षण चेतना है और चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते है। यह चैतन्य और उसका उपयोग रूप परिणाम जीव को छोडकर अन्य द्रव्यों में नही पाया जाता है। जीव की प्रवृत्ति-परिणति मे सदैव अन्वय रूप से उसका परिणमन होता रहता है।

उपयोग के दो भेद है—ज्ञान और दर्शन। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के धर्म पाये जाते है, जिनके नाम क्रमश· सामान्य और विशेष है। इनमे से सामान्य धर्म दर्शनोपयोग का विपय है[1] और विशेष ज्ञानोपयोग का। दर्शनोपयोग पदार्थगत सामान्य अश को ग्रहण (बोध) करता है और ज्ञानोपयोग यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से प्रत्येक पदार्थो को उन-उनकी विशेषताओ की मुख्यता से विकल्प करके पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता है।

वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाले दर्शनोपयोग के चार भेद है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन और विशेषधर्मग्राही ज्ञानोपयोग के आठ भेद है—मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-अज्ञान (विभग ज्ञान)[2]। इन सवकी विशद व्याख्या प्रथम कर्म-ग्रन्थ मे की गई है।

---

१ ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टु आयर।
अविसेसि ऊण अत्थ, दसणमिदि भण्णदे समए॥
—पंचसंग्रह १।१३८

२ (क) उवओगो दुवियप्पो दमण णाण च दसण चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दसणमध केवल णेय॥
णाणअट्ठ वियप्प मदि मुदि ओही अण्णाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेय च॥
—द्रव्यसंग्रह ४, ५

ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदो मे मति-अज्ञान आदि अज्ञान के तीन भेदो को ग्रहण करने का कारण यह है कि ये तीनो मिथ्यात्व के उदय से विपरीत अभिनिवेश—अभिप्राय वाले होते है। इसीलिये मति-अज्ञान (कुमति), श्रुत-अज्ञान (कुश्रुत) तथा अवधि-अज्ञान (विभंग-ज्ञान) यह उनके नाम हो जाते है। लेकिन जब ये तीनो ही तत्त्व के विषय मे सम्यक्त्व के सद्भाव मे विपरीत अभिनिवेश का अभाव होने से सम्यक् होते है तो सम्यग्ज्ञान कहलाते है।

उक्त आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। मन और इन्द्रिय आदि बाह्य निमित्तो की सहायता से होने वाला पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञान परोक्ष कहलाता है और जो केवल जीव (आत्मा) के द्वारा ही बोध होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अर्थात् मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि पर-निमित्तों की अपेक्षा रखे विना एकमात्र आत्मस्वभाव से ही समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानना प्रत्यक्ष कहलाता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, कुमति और कुश्रुत यह चार ज्ञान परोक्ष हैं। क्योकि ये मतिज्ञान आदि चारो ज्ञान पदार्थो के जानने मे मन और इन्द्रियो की सहायता की अपेक्षा रखते है। अवधिज्ञान, मन.पर्याय

(ख) स उपयोगो द्विविध ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्ट-भेद मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान केवलज्ञान मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभगज्ञान चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विध चक्षुर्दशनमचक्षु-र्दर्शनमवधिदर्शन केवलदर्शन चेति। —सर्वार्थसिद्धि २।९

(ग) कतिविहे ण भते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते। त जहा—सागारोवओगे अणागारोवओगे य। सागारोव-ओगे ण भते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। अणागारोवओगे ण भते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। —प्रज्ञापना पद २

और केवलज्ञान मे आत्मा साक्षात्, मूर्त-अमूर्त पदार्थों का ज्ञान करती है। अत. वे प्रत्यक्ष माने जाते है। उनमे से अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और विभगज्ञान ये तीन देशप्रत्यक्ष तथा केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है।

चेतना, उपयोग अथवा जीवत्व की अपेक्षा सभी जीवों का स्वरूप एक जैसा होने पर भी कर्मबद्ध अनन्त जीव जन्म-मरण रूप ससार मे परिभ्रमण करने से ससारी और नि·शेप रूप से कर्मावरण का क्षय करके आत्मस्वरूप मे अवस्थित जीव मुक्त कहलाते है। इस प्रकार कर्म-सहित और कर्मरहित अवस्था की दृष्टि से जीवो के दो भेद हो जाते है—ससारी और मुक्त। ससारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त जीव भी अनन्त है। मुक्त जीवो के निष्कर्म होने से उनमे किसी प्रकार का भेद नही है, सभी स्वभाव से परिपूर्ण और समान है किन्तु संसारी जीवो के कर्मसहित होने से इनमे गति, जाति, शरीर आदि-आदि की अपेक्षाओ से अनेक प्रकार की विभिन्नताये देखी जाती है। ये कर्म-जन्य अवस्थाये अनन्त है, जिनका एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिये सहज नही है। अत सर्वज्ञ केवलज्ञानी तीर्थकरो ने उन सबका सरलता से ज्ञान कराने के लिये सभी प्रकार के ससारी जीवो का एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि के रूप से विभागानुसार वर्गीकरण करके चौदह वर्ग बनाये है। जिनमे सभी ससारी जीवों का समावेश हो जाता है और इनको जीवस्थान कहते है।

संसारी जीवों के इन्द्रियापेक्षा भेद

संसारी जीवो की पाँच जातियाँ (प्रकार) हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पंचेन्द्रिय। जाति का अर्थ है सामान्य अर्थात् जिस शब्द के बोलने या सुनने से सभी समान गुण-धर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये। जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि बोलने से सभी प्रकार के मनुष्यों, गायों, भैंसो आदि का ग्रहण हो

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति और उपकरण।[1] इन्द्रियो के आकार-रचना को निर्वृत्ति कहते है। निर्वृत्ति (१) बाह्य और (२) अंतरंग के भेद से दो प्रकार की है।[2] इन्द्रियों के बाह्य आकार-रचना को बाह्य निर्वृत्ति कहते है और आतरिक—भीतरी आकार को आभ्यन्तर निर्वृत्ति। आभ्यन्तर निर्वृत्ति की विषय ग्रहण की शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते है। उपकरणेन्द्रिय निर्वृत्ति का उपकार करती है।[3] इसलिये इसके भी आभ्यन्तर और बाह्य यह दो भेद हो जाते है। जैसे नेत्र इन्द्रिय में कृष्ण-शुक्ल मडल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक, वरौनी आदि वाह्य उपकरण।[4] इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों के बारे मे भी समझ लेना चाहिये।

स्पर्शनेन्द्रिय आदि पाँचो इन्द्रियो के आकार के संबध मे यह ज्ञातव्य है कि स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) की आकृति अनेक प्रकार की होती है और उसके वाह्य व आभ्यतर आकार मे भिन्नता नही होती है। वाहर और अदर एक जैसा आकार है किन्तु शेप रसन आदि अन्य चार इन्द्रियो के आकार इस प्रकार के माने गये है—

श्रोत्रेन्द्रिय का आकार—जौ की नाली जैसा अथवा कदम्ब पुष्प के समान। चक्षुरिन्द्रिय का आकार—मसूर के दाने जैसा। घ्राणेन्द्रिय

---

१ (क) कइविहे ण भते ! इदिय उवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इन्दिय उवचए पण्णत्ते। कइविहे ण भते ! इन्दिय णिवत्तणा पण्णत्ता ? गोयमा पचविहा इन्दिय णिवत्तणा पण्णत्ता। —प्रज्ञापना १५।१२

(ख) निर्वर्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१७

२ सा द्विविधा वाह्याभ्यन्तर भेदात्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

३ येन निर्वृत्तेरुपकार. क्रियते तदुपकरणम्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

४ पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यन्तरकृष्णशुक्लमडल वाह्यमक्षिपत्रपक्ष्म-द्वयादि। एव शेषेष्वपीन्द्रियेपु ज्ञेयम्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

का आकार—अतिमुक्तक (तिल) के पुष्प जैसा। रसनेन्द्रिय का आकार—खुरपा जैसा या अर्ध चद्र के आकार जैसा।[1]

इन्द्रियो के उक्त आकार आभ्यतर की अपेक्षा से माने गये है किंतु वाह्य आकार सव जाति के जीवो मे भिन्न-भिन्न देखे जाते है। मनुष्य, हाथी, घोड़ा आदि के कान, नाक, आँख, जीभ आदि को देखने से यह भिन्नता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है।

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्म-विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते है।[2] भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग यह दो भेद है।[3] मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम—चेतना शक्ति की योग्यता-विशेष को लब्धि रूप भावेन्द्रिय तथा लब्धि रूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय ग्रहण मे होने वाली प्रवृत्ति को उपयोग रूप भावेन्द्रिय कहते है।

इन द्रव्य और भाव रूप से मानी गई इन्द्रियों मे कार्यकारण भावरूपता है। क्योकि द्रव्येन्द्रियाँ शब्द, वर्ण, गध, रस और स्पर्श नामक मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एव भावेन्द्रियो के होने पर ही अपने-अपने विषय मे प्रवृत्त होती है। अर्थात् क्षयोपशम रूप

---

१ (क) जवणालिया मसूरिअ अतिमुत्तयचदए खुरप्पे य।
इदियसठाणा खलु फासस्स अणेयसठाण॥
—पंचसंग्रह १।६६

(ख) प्रज्ञापना, पद १५

२ मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जवोहो वा।
भाविंदिय · ··· · ··· · ··· ··· · ·· ॥
—गो० जीवकाड १६५

३ (क) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१८

(ख) कतिविहा ण भते! इन्दियलद्धी पण्णत्ता? गोयमा! पचविहा इन्दियलद्धी पण्णत्ता। कतिविहा ण भते! इदियउवउगद्धा पण्णत्ता? गोयमा! पचविहा इन्दियउवउगद्धा पण्णत्ता। —प्रज्ञापना २।१५

भावेन्द्रियो के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति-प्रवृत्ति होती है, इसीलिये भावेन्द्रियाँ कारण है और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य तथा भावेन्द्रियो के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय सज्ञा प्राप्त होती है। अथवा उपयोग रूप भावेन्द्रियो की उत्पत्ति—प्रवृत्ति द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से होती है इसीलिये भावेन्द्रिया कार्य है और द्रव्येन्द्रियां कारण। यह कोई कल्पना नही है क्योकि कार्यगत धर्म का कारण मे और कारण-गत धर्म का कार्य में उपचार जगत् में निमित्त रूप से पाया जाता है।

एकेन्द्रिय जीवों मे सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। रसन आदि श्रोत्र पर्यन्त शेप इन्द्रियाँ नही होती है। इसीलिये एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते है। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों मे स्पर्शनेन्द्रिय के अनन्तर क्रमश: रसन आदि एक-एक इन्द्रिय बढती जाती है। अर्थात् एकेन्द्रिय मे सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय मे स्पर्शन-रसन, त्रीन्द्रिय मे स्पर्शन-रसन-घ्राण, चतुरिन्द्रिय में स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और पचेन्द्रिय में स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र, इस प्रकार से एक-एक इन्द्रिय की वृद्धि होती जाती है।

जीवो के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पॉच भेद माने जाने का कारण द्रव्येन्द्रियॉ है। वाहर में प्रकट रूप से जितनी-जितनी इन्द्रियॉ दिखलाई देती है, उनके आधार से एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते है। लेकिन सभी ससारी जीवों के भावेन्द्रियॉ तो पॉचो होती है—

अहवा पडुच्च लद्धिंदियं पि पंचेन्दिया सव्वे।—विशेपावश्यक २९९९

अथवा लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव पचेन्द्रिय है।

पंचेदिउ व्व वउलो नरो व्व सव्व विसओवलंभाओ।

—विशेपावश्यक गा० ३००१

अर्थात् सब विपयो का ज्ञान होने की योग्यता के कारण वकुल वृक्ष मनुष्य की तरह पॉचो इन्द्रियो वाला है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय आदि पचेन्द्रिय पर्यन्त प्रत्येक ससारी जीवो के भावेन्द्रियाँ पाँचों होती है। लेकिन वे उत्तरोत्तर व्यक्त से व्यक्त-तर है। यानी एक एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की भावेन्द्रियाँ व्यक्त-तर है। इसी प्रकार क्रमश· पचेन्द्रिय तक समझना चाहिये।

एकेन्द्रिय आदि जीवो के पाँचों भावेन्द्रियों के मानने मे किसी प्रकार का सन्देह नही है। इस वात को आधुनिक विज्ञान ने भी प्रमाणित कर दिया है। डा० जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पति (एकेन्द्रिय जीव) मे स्मरण शक्ति का अस्तित्व सिद्ध कर ही दिया है। स्मरण शक्ति मानस शक्ति का कार्य है और जब वह एकेन्द्रिय मे भी पाई जाती है तो मन से निम्नस्तर की मानी जाने वाली अन्य इन्द्रियों के उनमे होने मे किसी प्रकार की वाधा-सदेह नही है।

एकेन्द्रिय जीवो के पाँच प्रकार है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय (पानी), (३) तेजस्काय (अग्नि), (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय।[1] इनके सिर्फ एकेन्द्रिय होने से स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते है।[2]

पृथ्वीकाय आदि पाँचो प्रकार के स्थावर—एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते है—सूक्ष्म और वादर; किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो मे सूक्ष्म या वादर-कृत भेद नही होता है। वे सभी वादर ही होते है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव मन नही होने से असज्ञी-अमनस्क होते है किन्तु पचेन्द्रिय

---

१ (क) पच थावरकाया पण्णत्ता—त जहा इन्दे थावरकाए, वम्भे थावर-काए, सिप्पे थावरकाए, समती थावरकाए, पाजावच्चे थावर-काए। —स्थानांग ५।३९३

(ख) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय स्थावरा। —तत्त्वार्थसूत्र २।१३

२ (क) समार समावन्नगा तसे नेव थावरे चेव। —स्थानांग २।५७

(ख) समारिणस्त्रसस्थावरा। —तत्त्वार्थसूत्र २।१२

जीवों मे कोई-कोई जीव मनसहित और कोई-कोई मनरहित होते है। जो पचेन्द्रिय जीव मनसहित है उन्हे संज्ञी—समनस्क और मन-रहित पंचेन्द्रिय जीवों को असज्ञी—अमनस्क कहते है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो के निम्न भेद होते है—

(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) बादर एकेन्द्रिय, (३) द्वीन्द्रिय, (४) त्रीन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय, (६) असज्ञी पचेन्द्रिय, (७) संज्ञी पचेन्द्रिय। यह सातो पर्याप्त भी होते है और अपर्याप्त भी। अत· उक्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सातो भेदो का पर्याप्त और अपर्याप्त से गुणा करने पर चौदह भेद हो जाते है। जो चौदह जीवस्थान कहलाते है।

चौदह जीवस्थानो के नाम क्रमश: इस प्रकार है—

(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, (३) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, (५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त, (७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त, (९) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, (१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, (११) असंज्ञी पचे-न्द्रिय अपर्याप्त, (१२) असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, (१३) सज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, (१४) सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त।[१]

---

१ (क) आगमो मे जीवस्थान के बदले 'भूतग्राम' शब्द आया है और उसके १४ भेद जावस्थान के समान है—

चउदस भूअग्गामा पण्णत्ता त जहा—सुहुम अपज्जत्तया सुहुम पज्जत्तया, बादरा अपज्जत्तया बादरा पज्जत्तया बेइन्दिया अपज्जत्तया बेइन्दिया पज्जत्तया, तेंइदिया अपज्जत्तया तेंइदिया पज्जत्तया, चउरिंदियाअपज्ज-त्तया चउरिंदिया पज्जत्तया पचिंदिया असन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया असन्नि पज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि पज्जत्तया।

—समवायांग १४।१

एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर भेद सम्बन्धी स्पष्टीकरण

जीवस्थान के उक्त चौदह भेदो मे से एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर यह दो भेद माने गये है। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव तो बादर (स्थूल) शरीर वाले ही होते है और वे आँखो से भी दिखाई देते है, लेकिन एकेन्द्रिय जीवो के सूक्ष्म और बादर यह दो भेद मानने के कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव तो आँखो से नही देखे जा सकते है लेकिन उनका अस्तित्व ज्ञानगम्य है और बादर शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ आँखो से भी दिखलाई देते हैं।

एकेन्द्रियो के सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकर्म स्थावर दशक और बादर नामकर्म त्रसदशक मे मानी गई कर्म प्रकृति है।

सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वह स्वय न किसी से रुकता है और न अन्य किसी को रोकता है। अर्थात् सूक्ष्म नामकर्म से प्राप्त शरीर परस्पर व्याघात से रहित है। यह शरीर अन्य जीवो के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य होता है। यह अनुभवसिद्ध भी है। जिस प्रकार सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे के गोले मे प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार से सूक्ष्म नामकर्म से प्राप्त शरीर भी लोक के किसी भी प्रदेश मे प्रविष्ट हो सकता है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थो मे जीवस्थान के लिये जीवसमास शब्द का प्रयोग करके इस प्रकार से १४ भेद बतलाये हे—

पुढवीजलतेयवाऊवणप्फदी विविह थावरेइन्दी।
विगतिगचदुपचक्खा तसजीवा होंति सखादि ॥
समणा अमणा णेया पचिंदियणिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइन्दी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥

—द्रव्यसंग्रह गा० ११, १२

तैजस और कार्मण शरीर तो सूक्ष्मतम है। उनका सभी संसारी जीवों के साथ अनादि सम्बन्ध है तथा आघात-प्रतिघात से रहित है। मरणकाल मे इन दोनों शरीर के साथ ससारी जीव वज्रमय कमरे से भी निकल जाता है और कमरे मे किसी प्रकार का छेद या दरार आदि नही होती है। इसी प्रकार से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय वाले स्थावर एकेन्द्रिय जीवों मे से किन्ही-किन्ही जीवों का सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर न तो अपने अवस्थान से अन्य को आघात पहुँचाता है और न उनसे प्रतिघात को प्राप्त होता है। आँखो से दिखाई न देना यह सूक्ष्म की व्याख्या स्थूल दृष्टिकोण से की जाती है, लेकिन सूक्ष्म का वास्तविक अर्थ यह है कि वैसे शरीर की प्राप्ति होना जो मूर्त द्रव्यो के आघात, प्रतिघात, अनुग्रह आदि अवस्थाओं से रहित है।

जिस कर्म के उदय से जीव वादर काय की प्राप्ति करता है उसको वादर नामकर्म कहते है। अन्य को वाधा पहुँचाने वाले शरीर का निवर्तक वादर नामकर्म है। आँखो से दिखलाई दे, आँखो से देखा जा सके, चक्षुइन्द्रिय का विषय हो—यही वादर का अर्थ नही है। क्योकि एक-एक बादर काय वाले पृथ्वीकाय आदि का शरीर वादर शरीर को प्राप्त करने पर भी आँखो से देखा नही जा सकता है। किन्तु वादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों मे एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न करता है जिससे वादर पृथ्वीकाय आदि के जीवो के शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और उससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते है। वादर नामकर्म के कारण ही वादर जीवों का मूर्त द्रव्यो के साथ घात-प्रतिघात आदि होता है।

सूक्ष्म शरीर से असख्यात गुणी अधिक अवगाहना वाले शरीर को वादर और उस शरीर से युक्त जीवो को उपचार से वादर जीव अथवा

वादर शरीर से असख्यात गुणी हीन अवगाहना वाले शरीर को सूक्ष्म और उस शरीर से युक्त जीवों को उपचार से सूक्ष्म जीव कहते है तो इस प्रकार की कल्पना करना भी युक्तिसगत नही है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असख्यात गुण हीन अवगाहना वाले और वादर नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुए वादर शरीर की उपलब्धि होती है। अत अवगाहना की अपेक्षा सूक्ष्म और वादर का भेद नही किया जा सकता है।

इसी प्रकार प्रदेशो की अल्पाधिकता की अपेक्षा भी सूक्ष्म और वादर भेद नही है कि जिसमें अधिक परमाणु हों वह वादर और कम परमाणु हो वह सूक्ष्म। क्योकि तैजस और कार्मण शरीर अनन्त प्रदेशी है किन्तु उनका अति सघन और सूक्ष्म परिणमन होने से इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही होता है। यह भी नियम नही है कि स्थूल (वादर) वहुत प्रदेश सख्या वाला होना चाहिये, क्योकि स्थूल एरण्ड वृक्ष से सूक्ष्म लोहे के गोले की एकरूपता नही वन सकती है। एरण्ड का वृक्ष, रुई का ढेर स्थूल दृष्टि से अधिक स्थान को घेरता है और लोहे का पिण्ड कम स्थान को लेकिन उनके परमाणुओं की गिनती की जाये तो सम्भव है लोहे के पिण्ड मे एरन्ड के वृक्ष या रुई के ढेर से भी सख्यात, असख्यात गुने अधिक परमाणु हो। अत· प्रदेशापेक्षा भी ससारी जीवो के शरीर के लिये सूक्ष्म और वादर का विचार नही किया जा सकता है। समस्त ससारी जीवो के शरीर मे जो वादरत्व और सूक्ष्मत्व भेद माना जाता है वह वादर और सूक्ष्म नाम-कर्म जन्य है।

वादर और सूक्ष्म नामकर्म यह दोनो जीवविपाकिनी प्रकृतियाँ है।[1] लेकिन इनकी अभिव्यक्ति शरीर के पुद्गलो के माध्यम से होने

---

१ पचम कर्मग्रन्थ गा० २०

का कारण यह है कि जीवविपाकिनी प्रकृति का शरीर मे प्रभाव दिखाना विरुद्ध नही है। जैसे कि क्रोध यद्यपि जीवविपाकिनी प्रकृति है, लेकिन उसका उद्रेक—भौह का टेढा होना, आँखों का लाल हो जाना, ओठो मे फडफडाहट होना इत्यादि परिणामों द्वारा प्रकट रूप में दिखाई देता है। साराश यह है कि कर्मशक्ति विचित्र है। वह अपना फल किसी न किसी आधार एव माध्यम से देती है, इसलिये वादर नाम पृथ्वीकाय आदि जीवों मे एक प्रकार के वादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है जिससे उनके शरीरों मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते है। मूर्त द्रव्यो से आघात-प्रतिघात आदि होने लगता है। लेकिन सूक्ष्म नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे इस प्रकार का सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न कर देता है जिससे वे अनन्त जीवशरीर एकत्रित हो जाने पर भी दृष्टिगोचर नही हो पाते है और न अन्य किसी से उनका घात-प्रतिघात ही होता है लेकिन अपने प्राप्त शरीर से विद्यमान रहते है।

एकेन्द्रिय जीवो के सूक्ष्म और वादर यह दो भेद मानने के पूर्वोक्त कथन का साराश यह है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे है जिन्हें सूक्ष्म नामकर्म का उदय है। इनका शरीर इतना सूक्ष्मतम होता है कि यदि वे असख्यात, अनन्त भी एकत्रित हो जाये तव भी दृष्टिगोचर नही हो पाते है। ऐसे जीव सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। ज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने पर भी वाचनिक व्यवहार के अयोग्य है।

किन्तु वादर एकेन्द्रिय जीवो मे वादर नामकर्म का उदय होता है। ये जीव लोक के प्रतिनियत देश मे रहते है, सर्वत्र नही। यद्यपि वादर एकेन्द्रिय जीव भी ऐसे है कि प्रत्येक का पृथक्-पृथक् शरीर दृष्टिगोचर नही होता है किन्तु उनके शारीरिक परिणमन मे वादर रूप से परिणमित होने की, अभिव्यक्त होने की विशेप क्षमता होने से वे

समुदाय रूप मे दिखलाई दे सकते है। इसीलिये उन्हें ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ व्यवहारयोग्य कहा गया है।

सूक्ष्म और वादर सभी प्रकार के एकेन्द्रिय जीवो के सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय ये पाँचो एकेन्द्रिय वाले जीव है।

द्वीन्द्रिय जीवो के स्पर्शन (त्वचा, शरीर) और रसन (जीभ) ये दो इन्द्रियाँ होती है। शख, सीप, कृमि आदि जीव द्वीन्द्रिय है।

स्पर्शन, रसन और घ्राण (नाक) यह तीन इन्द्रियाँ जिन जीवो के होती है उन्हे त्रीन्द्रिय कहते है। जैसे खटमल, जूँ आदि।

चतुरिन्द्रिय जीवो के पूर्वोक्त तीन और नेत्र (आँख) यह चार इन्द्रियाँ होती है। भ्रमर, मक्खी, मच्छर, विच्छू आदि की गणना चतुरिन्द्रिय जीवो मे होती है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) यह पाँचो इन्द्रियाँ जिन जीवो के होती है, उन्हे पंचेन्द्रिय कहते है। जैसे मनुष्य, गाय, वैल, देव, नारक आदि।

ससार मे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति के रूप मे विद्यमान समस्त जीवो मे से तिर्यचगति के जीवो को छोडकर शेप नारक, मनुष्य और देव पचेन्द्रिय होते है। उन्हे स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त पाँचो इन्द्रियाँ होती है किन्तु तिर्यच जीवो मे से किन्हीं को एक, किन्ही को दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियाँ होती है।

तिर्यच गति के उक्त एक से लेकर पाँच इन्द्रिय तक के जीवो मे से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय वाले जीव तो अपने हिताहित की प्रवृत्ति-निवृत्ति के निमित्त हलन-चलन करने मे समर्थ है लेकिन एकेन्द्रिय वाले असमर्थ है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवो में मन नही होने से असज्ञी और पचेन्द्रिय वाले तिर्यच जीवो मे भी कोई

मनसहित और कोई मनरहित होते है। अत: पचेन्द्रिय तिर्यचों के संज्ञी और असंज्ञी की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते है।

संज्ञी और असंज्ञी मानने का कारण

संज्ञा शब्द के तीन अर्थ है—(१) नामनिक्षेप, जो कि व्यवहार आदि के लिये किसी का रख दिया जाता है। जैसे राम कृष्ण इत्यादि। (२) आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की इच्छा। (३) धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञान विशेष। जीवो के संज्ञित्व और असंज्ञित्व के विचार करने के प्रसंग मे सज्ञा का आशय नाम-निक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रिया विशेष लिया जाता है। यह मानसिक क्रिया दो प्रकार की होती है—ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक (आहारादि की इच्छा रूप)। इसीलिये सज्ञा के दो भेद है—ज्ञान और अनुभव। मति, श्रुत आदि पॉच प्रकार के ज्ञान ज्ञानसज्ञा है और (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओघ, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दु:ख, (१५) जुगुप्सा, (१६) शोक, यह अनुभव संज्ञा के १६ भेद है।[1]

ये अनुभव सज्ञाये सभी जीवों मे न्यूनाधिक प्रमाण मे पाई जाती है। इसलिये ये—सज्ञी-असज्ञी व्यवहार की नियामक नही है। शास्त्रो मे सज्ञी और असज्ञी का जो भेद माना जाता है वह अन्य सज्ञाओ की अपेक्षा से है। नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान

१ अनुभव सज्ञा के उक्त १६ भेद आचाराग निर्युक्ति गा० ३८-३९ के अनुसार है, लेकिन भगवती शतक ७, उद्देश ८ तथा प्रज्ञापना पद ८ मे आदि के १० भेद ही निर्दिष्ट है।

दिगम्बर ग्रन्थो मे आदि के चार भेद माने है—

सण्णा चउव्विहा—आहार-भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा चेदि।

—धवला २।१, १।४१३।२

(२) इस विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का स्मरण किया जा सके। यद्यपि इस विकास में भूतकाल का स्मरण किया जाता है लेकिन सुदीर्घ भूतकाल का नहीं। इससे इष्ट विषयों में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषयों में निवृत्ति भी होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान को हेतुवादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस दृष्टिकोण से द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस संज्ञी हैं और पांच स्थावर असंज्ञी।

(३) इस विभाग में इतना विकास विवक्षित है कि जिससे सुदीर्घ भूतकाल में अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमान काल के कर्तव्यों का निश्चय किया जाता है। यह कार्य विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा कहते है। दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ को विचारने की बुद्धि, निश्चयात्मक विचारणा, अन्वय धर्म का अन्वेषण, व्यतिरेक धर्म स्वरूप का पर्यालोचन तथा यह कार्य कैसे हुआ, वर्तमान मे कैसे हो रहा है और भविष्य मे कैसे होगा ? इ प्रकार के विचार-विमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने

क्षमता प्राप्त होती है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यच दीर्घ-कालोपदेशकी सज्ञा वाले है।

(४) इस विभाग मे विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सिवाय अन्य जीवो मे यह सम्भव नही है। इस विशिष्ट विशुद्ध ज्ञान को दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा कहते है।

उक्त चार विभागो में जीवो का वर्गीकरण करके शास्त्रो मे जहाँ कही भी सज्ञी और असज्ञी का उल्लेख किया है, वहाँ ओघ और हेतु-वादोपदेशकी सज्ञा वाले जीवो को असज्ञी तथा दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी सज्ञा वालो को सज्ञी कहा गया है।[1]

इस प्रकार की अपेक्षा से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरि-न्द्रिय जीवो को असज्ञी और पचेन्द्रिय जीवों को सज्ञी और असज्ञी दोनो प्रकार का कहा गया है। इसीलिए एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों के सात मुख्य भेद हो जाते है। यह सातो प्रकारों के जीव पर्याप्त भी होते है और अपर्याप्त भी। अत समस्त ससारी जीवों के चौदह भेद है। पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या और उसके कारण को नीचे स्पष्ट करते है।

---

१ (क) सज्ञित्व और असज्ञित्व के विशेप ज्ञान के लिए तत्त्वार्थभाष्य २।२५, नन्दीसूत्र, सूत्र ३९, विशेपावश्यक गा० ५०४-५२६, लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक ४४२-४६३ देखें।

(ख) श्वेताम्बर ग्रन्थो की तरह सज्ञी-असज्ञी का विचार दिगम्बर ग्रन्थो मे भी किया गया है। लेकिन उसमे कुछ अन्तर है। उसमे गर्भज तिर्यचो को सज्ञी मात्र न मानकर सज्ञी-असज्ञी उभय रूप माना है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे जो हेतुवादोपदेशकी, दीर्घकालिकी और दृष्टिवादोपदेशकी यह तीन सज्ञा के भेद माने गये है, उनका विचार दिगम्बरीय ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नही होता है।

पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या

पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है।

पर्याप्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार पेट में विद्यमान पुद्गलों में एक प्रकार की शक्ति होती है जिससे कि खाया हुआ आहार रस, रुधिर आदि भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होता जाता है। इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलों में ऐसी शक्ति बन जाती है जो आहारादि पुद्गलों को खल, रस आदि रूप में बदल देती है। इस शक्ति को पर्याप्ति कहते है। पर्याप्तिजनक पुद्गलों में से कुछ ऐसे होते है जो जन्मस्थान में आये हुए जीव के द्वारा प्रथम समय मे ही ग्रहण किये हुए होते है और कुछ ऐसे होते हैं जो बाद में प्रत्येक समय मे ग्रहण किये जाकर पूर्वगृहीत पुद्गलों के संसर्ग से तद्रूप बने हुए होते है और बनते जाते है।

इन गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत. इस कार्य-भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते है—

(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मन-पर्याप्ति।[१] इन छह पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि

---

१ आहारे य सरीरे तह इन्दिय आणपाण भासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा। —मूलाचार १०
इन पर्याप्तियो की व्याख्या प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथा ४६ मे की।

जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है।[1]

उक्त छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार और विकलेन्द्रिय--द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मनपर्याप्ति के सिवाय शेष पॉच तथा संज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के सभी छहों पर्याप्तियाँ होती है।[2]

पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्गलों को आहार आदि रूप में परिणित करने की शक्ति होती है और अपर्याप्त जीवो मे इस प्रकार की शक्ति नही होती है। इसलिए पर्याप्त और अपर्याप्त के निम्न प्रकार से दो-दो भेद है—

(१) लब्धि-अपर्याप्त, (२) करण-अपर्याप्त[3]।

(३) लब्धि-पर्याप्त, (४) करण-पर्याप्त।

---

१ पज्जत्ती पट्ठवण जुगव तु कामेण होदि णिट्ठवण। —गो० जीवकांड १२०

२ आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पच छप्पिय एगिंदिय विगल सन्नीण॥
—बृहत्संग्रहणी ३४६ व गो० जीवकांड ११६

३ दिगम्बर साहित्य मे करण-अपर्याप्त के वदले निर्वृत्ति-अपर्याप्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अर्थ मे भी थोडा-सा अन्तर है। वहा निर्वृत्ति-अपर्याप्त का लक्षण इस प्रकार वतलाया है—

पज्जत्तस्स य उदये णियणिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्ण णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव॥
—गो० जीवकांड १२१

पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियो से पूर्ण होता है, तथापि जव तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नही होती तव तक उसको पर्याप्त नही कहते है किन्तु निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहते है। लेकिन श्वेताम्वर साहित्य मे करण शब्द से 'शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ' इतना अर्थ किया हुआ मिलता है—

करणानि शरीराक्षादीनि। —लोकप्रकाश ३।१०

लब्धि-अपर्याप्त वे जीव है कहलाते है जो स्वयोग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किये विना ही मर जाते है किन्तु करण-अपर्याप्त के विषय में यह वात नही है। वे पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी होते है और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी। इसका आशय यह है कि चाहे पर्याप्त नामकर्म का उदय हो या अपर्याप्त नाम का किन्तु जब तक करणों—शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की पूर्णता न हो तव तक जीव करण-अपर्याप्त कहे जाते है।

लब्धि-पर्याप्त जीव वे कहलाते है जिनको पर्याप्त नामकर्म का उदय हो और इससे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते है, पहले नही। लेकिन करण-पर्याप्तों के लिए यह नियम नही है कि वे स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरण को प्राप्त होते है।

लब्धि-अपर्याप्त जीव भी करण-अपर्याप्त होते है। क्योकि यह नियम है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये विना नही मरते है। जीव का मरण तभी होता है जव आगामी भव की आयु का बंध हो जाता है और आयु तभी बाँधी जा सकती है जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय यह तीन प्रर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती है। लब्धि-अपर्याप्त जीव पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बाँधता

अतएव श्वेताम्बर साहित्य के उक्त मंतव्य के अनुसार जिसने शरीर-पर्याप्ति पूर्ण की है किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नही की है, वह भी करण-अपर्याप्त कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्त और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्त है। इसलिए शरीरपर्याप्ति से लेकर मन पर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर करण-पर्याप्त और उत्तरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से करण-अपर्याप्त कह सकते है लेकिन जव जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियो को पूर्ण कर लेता है तव उसे करण-अपर्याप्त नही कहते हैं।

है। जो अग्रिम आयु को नही बाँधता है और उसके अवाधाकाल को पूर्ण नही करता है, वह मर भी नही सकता।[1]

इस प्रकार से स्व-योग्य पर्याप्तियों के पूर्ण करने और न करने की योग्यता की अपेक्षा से समस्त संसारी जीवो—एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों—को पर्याप्त और अपर्याप्त माना जाता है। सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त पाँच प्रकार के होने पर भी एकेन्द्रियों के बादर व सूक्ष्म तथा पचेन्द्रियों के संज्ञी और असंज्ञी यह विशेष भेद हो जाते है और सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त के सभी जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों के पूर्ण करने या न करने की शक्ति वाले होते है। अतः इन सभी जीवो का बोध कराने के लिए जीवस्थान के चौदह भेद किये जाते है। इन चौदह प्रकारो का वर्गीकरण इतना वैज्ञानिक और युक्तियुक्त है कि उनमे सभी ससारी जीवो का समावेश हो जाता है।

जीवस्थानों के नामों का निरूपण करने के पश्चात् अब आगे की गाथा मे जीवस्थानों मे गुणस्थानो का कथन करते है। अर्थात् सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीवों मे कितने गुणस्थान सम्भवित है।

जीवस्थानों में गुणस्थान

बायरअसन्निविगले अपज्जि पढमबिय सन्निअपजत्ते।
अजयजुय सन्निपज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥३॥

शब्दार्थ—**बायरअसन्निविगले**—बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों मे, **अपज्जि**—अपर्याप्त, **पढमबिय**—पहला, दूसरा, **सन्नि अपज्जत्ते**—सज्ञी अपर्याप्त मे, **अजयजुय**—अविरति युक्त,

---

1 यस्मादागामि भवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः। तच्चाहारशरीरेन्द्रिय-पर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति।

—नन्दीसूत्र, मलयगिरि टीका

सन्निपज्जे—सज्ञी पर्याप्त मे, **सव्वगुणा**—सभी गुणस्थान, **मिच्छ**—मिथ्यात्व गुणस्थान, **सेसेसु**—शेप जीव मे ।

गाथार्थ—अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय मे पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान पाये जाते है। अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय में पहला, दूसरा और चौथा अविरति यह तीन गुणस्थान है। पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे सभी गुणस्थान तथा शेप रहे सात जीवस्थानो मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे चौदह जीवस्थानो मे से प्रत्येक जीवस्थान मे गुणस्थानों की विद्यमानता का संकेत किया गया है। गुणस्थानों के मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह भेदो का वर्णन दूसरे कर्मग्रन्थ मे किया जा चुका है। इन चौदह गुणस्थानों मे से कोई न कोई गुणस्थान प्रत्येक संसारी जीव को पाया ही जाता है। लेकिन इस गाथा मे विशेपरूप से यह वतलाया गया है कि किस जीव के कौन-कौनसे गुणस्थान हो सकते है। जिनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

जीवस्थान के चौदह भेदो मे से वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, इन पाँच जीवस्थानो मे आदि के दो गुणस्थान—मिथ्यात्व और सासादन—पाये जाते है।

इन पाँच जीवस्थानो मे से वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवो के जो दो गुणस्थान कहे गये है सो सभी प्रकार के वादर एकेन्द्रिय जीवों के नही किंतु पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के ही है, क्योकि तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव चाहे वादर हों या सूक्ष्म किंतु उनमे ऐसे परिणाम संभव नही है कि सासादनसम्यक्त्वयुक्त

जीव पैदा हो सके।[१] इसलिये सूक्ष्म और बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों को छोडकर शेष पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीन प्रकार के बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों मे मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान माने जाते हैं।[२]

बादर एकेन्द्रिय, असज्ञी पंचेन्द्रिय और विकलत्रिक इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानों में जो दो गुणस्थान माने गये हैं सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नही; क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टि वाला जीव लब्धि-अपर्याप्त रूप से पैदा नही होता है। इसलिये बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त आदि उक्त पॉच जीवस्थानो मे आदि के दो गुणस्थान तथा लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पॉचों मे पहला गुणस्थान समझना चाहिए।

'सन्नि अपजत्ते अजयजुय'—संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त मे मिथ्यात्व, सासादन इन दो गुणस्थानों के साथ चौथा अविरति यह तीन गुणस्थान कहे गये है।[३] अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में तीन गुणस्थान इस अपेक्षा से

---

१ तेजोवायूना मध्ये सम्यक्त्वलेशवतामपि उत्पादाभावात् सम्यक्त्वं चासादयता सासादनभावाभ्युपगमात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० ११६

२ एकेन्द्रिय जीवो मे दो गुणस्थान माने जाने का कथन कर्मग्रथ के मतानुसार है, क्योकि सिद्धान्त मे एकेन्द्रिय को पहला मिथ्यात्व गुणस्थान माना है—
एगिंदिया ण भते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी नियमा अन्नाणि।
भगवती ८।२

सिद्धान्त और कर्मग्रन्थो मे जिन बातो मे भिन्नता है, उनका सकेत चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा ४६ मे किया गया है।

३ दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकाड गाथा १२६, १२७) मे निर्वृ त्यपर्याप्त (श्वेताम्बर साहित्य प्रसिद्ध करण-अपर्याप्त) सज्ञी पचेन्द्रिय मे पहला, दूसरा, चौथा, छठा और तेरहवाँ ये पॉच गुणस्थान कहे गये है। छठे गुणस्थान के समय आहारकमिश्रकाययोग दशा मे आहारकशरीर पूर्ण न बनने तक अपर्याप्त दशा रहती है। तेरहवे गुणस्थान के समय केवली समुद्घात अवस्था मे योग की अपूर्णता के कारण अपर्याप्तता रहती है।

माने जाते है कि अपर्याप्त अवस्था मे मिश्र गुणस्थान नही होता है और मिश्रगुणस्थान मे मरण नही होता है तथा जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान् सहित मरकर सज्ञी पंचेन्द्रिय रूप मे पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अवस्था मे चौथा गुणस्थान सभव है। इसी प्रकार जो जीव सम्यक्त्व का त्याग करता हुआ सासादन भाव में वर्तमान होकर संज्ञी पचेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होता है तब उसमे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक दूसरा गुणस्थान सम्भव है। इन दोनो स्थितियों को छोड़कर अन्य सब संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो मे जो तीन गुणस्थान बतलाये है, सो यहाँ अपर्याप्त का आशय करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। लब्धि-अपर्याप्त जीवों के तो योग्यता न होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के सिवाय अन्य कोई भी गुणस्थान सभव नही है।

संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे सभी गुणस्थान माने है—सन्निपज्जे सव्व-गुणा। इसका कारण यह है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में गर्भज मनुष्यो का भी समावेश है और गर्भज मनुष्य मे सब प्रकार के शुभ-अशुभ तथा शुद्ध-अशुद्ध परिणामो की योग्यता है। इस योग्यता के कारण उनमे चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं।

कर्मग्रथ मे जो करण-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे तीन गुणस्थानो का कथन किया गया है, वह उत्पत्तिकालीन अपर्याप्त स्थिति को लेकर और गो० जीवकांड मे पाँच गुणस्थानो का कथन उत्पत्ति व लब्धिकालीन दोनो प्रकार की अपर्याप्त अवस्था को लेकर। इसलिए दोनो मे किसी प्रकार का विरोध नही है। यह तो आपेक्षिक कथन है।

यदि लब्धि-कालीन अपर्याप्त अवस्था को लेकर संज्ञी पचेन्द्रिय मे गुणस्थानो का विचार किया जाये तो पाँचवाँ गुणस्थान भी मानना चाहिए। क्योकि उस गुणस्थान मे वैक्रिय-लब्धि से वैक्रियशरीर की रचना के समय भी अपर्याप्त अवस्था रहती है।

सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के चौदह गुणस्थान मानने के सम्बन्ध मे जिज्ञासु का प्रश्न है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान मे क्षायिक ज्ञान होने से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप संज्ञा का अभाव है, अत: भाव-मन का भी अभाव होने से तेरहवाँ और चौदहवाँ यह दो गुणस्थान संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के संभव नही है, इसलिए पहले बारह गुणस्थान ही मानना चाहिए।

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि सञ्ज्ञी पचेन्यिय पर्याप्त जीवों मे तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान द्रव्यमन के सम्बन्ध से सञ्ज्ञित्व का व्यवहार अंगीकार करके माने जाते है।[1] इसलिए द्रव्यमन की अपेक्षा

---

१ (क) अथ कथ सञ्ज्ञिन: सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसम्भव. तद्भावे तस्याऽमनस्कतया सञ्ज्ञित्वायोगात् ? न तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमन:-सबन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाऽविशेषेण सञ्ज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवत संज्ञिताव्याघात ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२०

(ख) यही बात सप्ततिका चूर्णि के निम्नलिखित पाठ से भी स्पष्ट होती है—

मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो भन्नति, मनोविन्नाण पडुच्च ते सन्निणो न भवति त्ति।

केवली के भी द्रव्यमन होने से सञ्ज्ञी कहा जाता है, मनोज्ञान की अपेक्षा से नही। इसीलिए तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान माना जाता है।

(ग) दिगम्बर साहित्य मे भी केवली अवस्था मे द्रव्यमन के सम्बन्ध से सञ्ज्ञित्व का व्यवहार माना गया है—

मणसहियाणं वयण दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवायरेणिंदियणाणेण हीणम्हि॥
अगोवगुदयादो दव्वमणट्ठ जिणिदचदम्हि।
मणवग्गणखधाण आगमणादो दु मणजोगो॥

—गो० जीवकांड २२८, २२९

रखकर चौदह गुणस्थान मानने मे किसी प्रकार का विरोध नही है। लेकिन भावमन की अपेक्षा संज्ञित्व मानने मे आदि के बारह गुणस्थान होते है।

अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलेन्द्रियत्रिक, अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय, और पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय इन सात जीवस्थानो के सिवाय शेप सात जीवस्थानो मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इन सात जीवस्थानो के नाम इस प्रकार है—

(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, (४) पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, (५) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (७) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त शेप सात जीवस्थानो मे से पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्यन्त छह जीवस्थानो मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान इसलिए माना जाता है कि परभव से आकर उन-उन जीवो मे उत्पन्न होने पर उत्पत्तिकालपर्यन्त अपर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व सम्भव है किन्तु पर्याप्त अवस्था मे सक्लिष्ट परिणामों के कारण उसकी सम्भावना नही है। अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव मे सासादन सम्यक्त्व के शुभ परिणाम रूप होने से उसकी सम्भावना नही है और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवो मे महासक्लिष्ट परिणाम वाले ही उत्पन्न होते है।

सयोगि केवली गुणस्थान मे मन के न होने पर भी वचन होने के कारण उपचार से मन माना जाता है और उपचार का कारण यह है कि पूर्व गुणस्थानो मे मनवालो के वचन देखा जाता है। जिनेन्द्र देव के भी द्रव्य-मन के लिए अगोपाग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्क आगमन हुआ करता है, इसलिए उन्हे मनोयोग कहा है।

चौदह जीवस्थानों मे गुणस्थानो का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए :—

जीवस्थान का नाम	गुणस्थान की संख्या व नाम
(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(३) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(९) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(११) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(१२) असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(१३) सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	३ मिथ्यात्व, सासादन, अविरति
(१४) सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१४ मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त ।

जीवस्थानो में गुणस्थानों का कथन करने के पश्चात् अव आगे की तीन गाथाओं द्वारा जीवस्थानों मे योग और उपयोग की सख्या को वतलाते है ।

जीवस्थानों में योग व उपयोग

अपजत्त छक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसुं तणुपज्जेसुं उरलमन्ने ॥४॥
सव्वे सन्निपजत्ते उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं पजसन्निसु वार उवओगा ॥५॥

पज चउरिंदिअसन्निसु, दुदंस दुअनाण दससु चक्खुविणा।
सन्नि अपज्जे मणनाण चक्खु केवलदुग विहूणा ॥६॥

शब्दार्थ—**अपजत्तछक्कि**—अपर्याप्त छह जीवो मे, **कम्मुरल-मीस जोगा**—कार्मण, औदारिकमिश्र योग, **अपज्जसन्निसु**—अपर्याप्त सज्ञी मे, **ते**—वे (दो योग), **सविउव्वमीस**—वैक्रियमिश्र सहित, **एसुं**—इसमे, **तणुपज्जेसु**—शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त, **उरलं**—औदारिक योग, **अन्ने**—अन्य आचार्यो के मतानुसार ॥४॥

सव्वे—सर्व, सभी, **सन्निपजत्ते**—सज्ञी पर्याप्त मे, **उरलं**—औदारिक, **सुहुमे**—सूक्ष्म मे, **सभासु**—भाषा सहित, **तं**—उन, **चउसु**—चार मे, **बायरि**—बादर मे, **सविउव्विदुगं**—वैक्रियद्विक सहित, **पजसन्निसु**—पर्याप्त सज्ञी मे, **बार**—बारह, **उवओगा**—उपयोग ॥५॥

पजचउरिंदिअसन्निसु—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय मे, **दुदंस**—दो दर्शन, **दुअनाण**—दो अज्ञान, **दससु**—दस मे, **चक्खुविणा**—चक्षुदर्शन के विना, **सन्निअपज्जे**—सज्ञी अपर्याप्त मे, **मणनाण**—मनपर्यायज्ञान, **चक्खु**—चक्षुदर्शन, **केवलदुग**—केवलद्विक, **विहूणा**—विना (रहित) ॥६॥

गाथार्थ—छह अपर्याप्त जीवस्थानो मे कार्मण और औदारिकमिश्र योग होते है तथा अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय मे कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र योग होते है। किन्ही आचार्यो का यह मत है कि उक्त सातो प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तब उनमे सिर्फ औदारिक काययोग ही होता है ॥४॥

पर्याप्त सज्ञी मे सब योग पाये जाते है। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय में औदारिक काययोग होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय-त्रिक और असंज्ञी पचेन्द्रिय इन चार मे औदारिक काययोग व वचनयोग तथा बादर एकेन्द्रिय मे वैक्रियद्विक योग भी होते है। पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय मे बारह उपयोग होते है ॥५॥

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय में दो दर्शन और दो अज्ञान, दस जीवस्थानो मे चक्षुदर्शन के बिना तथा सज्ञी अपर्याप्त में मनपर्यायिज्ञान, चक्षुदर्शन और केवल-द्विक के सिवाय शेष उपयोग होते है ॥६॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जीवस्थानो मे योगो और उपयोगो की सख्या और उनके नामों का कथन किया है। उनमे से पहले जीवस्थानो मे योगो का वर्णन करते है।

योग के मुख्य तीन भेद है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद और काययोग के सात भेद होने से सब मिलाकर योग के पन्द्रह भेद हो जाते है। मनोयोग आदि के भेदों के नाम इस प्रकार है—

मनोयोग—(१) सत्य मनोयोग, (२) मृषा (असत्य) मनोयोग, (३) सत्यमृषा मनोयोग, (४) असत्यामृषा मनोयोग।

सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थो को विषय करने वाले मन को सत्य मन कहते है और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्य मनो-योग कहते है। इससे विपरीत योग को मृषा मनोयोग तथा सत्य और मृषा योग को सत्यमृषा मनोयोग कहते है। जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो उसे असत्यामृषा मन कहते है और उसके द्वारा जो योग होता है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते है।

वचनयोग—(१) सत्य वचनयोग, (२) मृषा वचनयोग, (३) सत्य-मृषा वचनयोग, (४) असत्यामृषा वचनयोग।

दस प्रकार के सत्य वचन मे वचनवर्गणा के निमित्त से जो योग होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते है। इससे विपरीत योग को मृषा वचनयोग तथा सत्य और मृषा वचन रूप योग को उभय (सत्यमृषा) वचनयोग कहते है। जो वचनयोग न तो सत्य रूप हो और न मृषा रूप ही हो उसे असत्यामृषा वचनयोग कहते है।

काययोग—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग, (३) वैक्रिय काययोग, (४) वैक्रियमिश्र काययोग, (५) आहारक काययोग, (६) आहारकमिश्र काययोग, (७) कार्मण काययोग।

औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेशो में परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिक काययोग कहते है। औदारिक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती काल में जो अपरिपूर्ण शरीर है वह औदारिकमिश्र काययोग है।

वैक्रिय शरीर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रिय काययोग कहते है। वैक्रिय शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को वैक्रियमिश्र काय कहते है। उसके द्वारा होने वाला जो योग है, वह वैक्रियमिश्र काययोग कहलाता है।

स्वयं सूक्ष्म अर्थ मे संदेह उत्पन्न होने पर सर्वविरति मुनि जिसके द्वारा केवली भगवान के पास जाकर अपने संदेह को दूर करता है, उसे आहारककाय और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारक काययोग कहते है। आहारक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश्र काय कहते है। उसके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है वह आहारकमिश्र काययोग कहलाता है।

कर्मों के समूह को अथवा कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले काय को कार्मण काय और उसके द्वारा होने वाले योग को कार्मण काययोग कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीरवर्गणाओ के विना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य

(शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मण काययोग कहते है।

जीवस्थानों में मनोयोग आदि योगो के लिए यह सामान्य नियम है कि संज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मन, वचन और काय यह तीनो योग और द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में वचन व काय-योग होते है तथा एकेन्द्रिय जीवों मे सिर्फ काययोग होता है। लेकिन काययोग के सात भेदो मे से सामान्य रूप से औदारिक काययोग तिर्यंच और मनुष्यो को होता है और इनके अपर्याप्त अवस्था मे औदारिकमिश्र काययोग। वैक्रिय काययोग देव, नारक तथा वैक्रिय-लब्धि-वान तिर्यंच, मनुष्यों को तथा वैक्रियमिश्र काययोग अपर्याप्त देव, नारकों को तथा मनुष्य, तिर्यंचों को वैक्रिय-लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ तथा परित्याग के समय होता है। आहारक काययोग चतुर्दश पूर्वधारी संयमी को और आहारकमिश्र काययोग आहारक शरीर के प्रारम्भ एवं परित्याग के समय मे होता है। कार्मण काययोग विग्रह-गति व उत्पत्ति के प्रथम समय में और केवली समुद्घात अवस्था मे होता है।

विशेष रूप से जीवस्थानों में योगों की सख्या वतलाने के लिए ग्रंथकार ने चौदह जीवस्थानों के अपर्याप्त और पर्याप्त की अपेक्षा दो विभाग करके योगों की सख्या का कथन किया है। अर्थात् पहले अपर्याप्त सात जीवस्थानो मे और पश्चात् पर्याप्त सात जीवस्थानों में योगसंख्या वतलाई है। अपर्याप्त सात जीवस्थानों में योगों की संख्या निम्न प्रकार से समझनी चाहिए—

गाथा मे 'अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा' पद से छह अपर्याप्त जीवस्थानों मे कार्मण काययोग और औदारिकमिश्र काययोग यह दो योग वतलाये है। यद्यपि गाथा मे छह अपर्याप्त जीवस्थानों के नामो का उल्लेख नहीं है किन्तु स्वोपज्ञ टीका मे उनके नाम इस प्रकार वतलाये है—

अपर्याप्तानां-सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपंचेन्द्रियाणां षट्कं अपर्याप्तषट्कं—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय। यहाँ अपर्याप्त शब्द से लब्धि और करण दोनों प्रकार की अपर्याप्तता ग्रहण करना चाहिए।

इन छह जीवस्थानों की अपर्याप्त दशा में कार्मण और औदारिक-मिश्र काययोग मानने का कारण यह है कि सभी प्रकार के जीवों को अन्तराल गति (विग्रहगति) में तथा जन्म-ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मण शरीर से होती है और उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्र काययोग सम्भव है। क्योंकि उस अवस्था में कार्मण और औदारिक आदि स्थूल शरीर के संयोग से योगप्रवृत्ति होती है। अपर्याप्त षट्क में सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जिन छह जीवस्थानों के नाम गिनाये है, वे सब औदारिक शरीर वाले हैं। इसलिए इनको अपर्याप्त अवस्था में कार्मण काययोग के बाद औदारिकमिश्र काययोग ही होता है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक जीव गर्भित है। इसलिए इसमें कार्मण काययोग, औदारिकमिश्र काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग यह तीन योग माने है। मनुष्य और तिर्यंचो की अपेक्षा से औदारिकमिश्र काययोग और देव व नारकों की अपेक्षा से वैक्रियमिश्र काययोग का समावेश किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचो के कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग तथा अपर्याप्त देव व नारको के कार्मण तथा वैक्रियमिश्र काययोग होते है। इन दोनो मे कार्मण काययोग समान है, अतः दोनो मे कार्मण योग समान होने से तीन योग माने जाते है।

गाथा में 'तणु पज्जेसु उरलमन्ने' पद से मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तब उनमे औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र योग नही।[१] इस मतान्तर का अभिप्राय यह है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने से शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिए अन्य पर्याप्तियो की पूर्णता न होने पर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है तभी से मिश्रयोग नही रहता है किन्तु औदारिक शरीर वालों को औदारिक काययोग और वैक्रिय शरीर वालों को वैक्रिय काययोग होता है।

इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानों में कार्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक यह तीन योग और अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय में कार्मण आदि उक्त तीन के साथ वैक्रियमिश्र तथा वैक्रिय इन दो योगों को मिलाने से कुल पॉच योग होते है।

इस मतान्तर के मानने वाले शीलांकाचार्य आदि प्रमुख आचार्य

---

१ मतान्तर के उल्लेख मे ग्रन्थकार ने जो 'उरल' पद गाथा मे दिया है। वह वैक्रिय काययोग का भी सूचक है। इसलिए वैक्रिय शरीरधारी देव-नारको के शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद अपर्याप्त दशा मे वैक्रिय काययोग समझ लेना चाहिए। अथवा यहाँ अपर्याप्त शब्द से अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले लब्धि-अपर्याप्त का ग्रहण करना चाहिए और अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले मनुष्य व तिर्यंच होते है। देव और नारको की जघन्य आयु भी दस हजार वर्ष होने से उनकी विवक्षा नही की है और लब्धि-अपर्याप्त जीव भी इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करने के बाद ही मरते है, उससे पहले नही। इसलिए यहाँ सिर्फ लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा की जाये तो किसी प्रकार का दोष नही है, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीवो के औदारिक शरीर ही होता है, वैक्रिय शरीर नही, जिससे देव-नारको को ग्रहण करने की आवश्यकता नही है।

है। उनका मन्तव्य है कि शरीर पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद भी शेष पर्याप्तियों के पूर्ण न होने से अपर्याप्त माने जाने वाले जीवों में शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण हो गया और उस स्थिति में औदारिक काययोग होता है।[1] इस मतान्तर को कार्मग्रन्थिक और सैद्धान्तिक मत-भिन्नता भी कह सकते हैं। सिद्धान्त में शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर शरीर की निष्पत्ति मानकर औदारिक काययोग माना है और कर्मग्रन्थों में सर्व पर्याप्तियों के पूर्ण होने से पहले तक को औदारिकमिश्र काययोग, क्योंकि जब तक इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन:पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक शरीर अपूर्ण है और कार्मण शरीर का भी व्यापार चालू रहता है। इसलिए औदारिकमिश्र काययोग मानना युक्तिसंगत है।[2]

ग्रन्थकार ने सैद्धान्तिक मतान्तर का उल्लेख करके भी कार्मग्रन्थिक मत को मुख्य मानकर टीका में लिखा है कि सिर्फ शरीर पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने से शरीर पूरा नहीं बनता है किन्तु शरीर की पूर्णता के लिए स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों का पूर्ण होना आवश्यक है। इसलिए शरीर पर्याप्ति के बाद भी जब तक सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण न हो जायें तब तक अपर्याप्त अवस्था है और उस अपर्याप्त अवस्था-पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्तिसंगत है।[3]

इस प्रकार से अपर्याप्त जीवस्थानों में योगों का कथन करके

---

१ औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम्, तदारतस्तु मिश्रः।
—आचारांग १।२।१ की टीका पृ० ९४

२ जीवविजयजी महाराज ने आगमिक मत को स्वीकार किया है।

३ यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापि इन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासम्पूर्णत्वाद् अतएव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२१

अब शेष रहे पर्याप्त सात जीवस्थानों में योगों की संख्या का संकेत करते है।

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों मे सभी योग पाये जाते है। क्योंकि उनके आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि छहों पर्याप्तियाँ होती हैं, जिससे उनकी मन, वचन, काययोग सम्बन्धी योग्यता विशिष्ट प्रकार की होती है। इसीलिए उनमे चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सातों काययोग होते है।

यद्यपि पहले यह वताया गया है कि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र यह तीन योग अपर्याप्त अवस्था भावी है; तथापि संज्ञी पचेन्द्रियों के पर्याप्त अवस्था मे भी उनको मानने का कारण यह है कि कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था मे तब होते है जब केवली भगवान केवलि-समुद्घात[1] करते हैं। केवलि-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे कार्मण काययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समय मे औदारिकमिश्र काययोग[2] तथा पहले और आठवे समय मे औदारिक काययोग होता है। वैक्रियमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था में तब होता है जब कोई वैक्रिय लब्धिधारी मुनि आदि वैक्रिय शरीर को बनाते है।[3]

---

१ केवली समुद्घात की स्थिति आठ समय प्रमाण है। इन आठ समयो मे केवली भगवान आत्म-प्रदेशो को सर्वलोकव्यापी वनाते है।

२ औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट.।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमपष्ठद्वितीयेपु ॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥

—उमास्वातिकृत प्रशमरति प्रकरण २७६-२७७

३ वैक्रियमिश्र संयतादेर्वैक्रिय प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्र-कार्मण-काययोगौ तु केवलिन समुद्घातावस्थायाम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२१

आहारक काययोग के अधिकारी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य ही हैं। जब चतुर्दश पूर्वधर मुनि आहारक शरीर बनाते हैं तब आहारक शरीर के बनाने व त्यागने के समय तो आहारकमिश्र काययोग और उस शरीर को धारण करने के समय आहारक काययोग होता है। औदारिक काययोग सभी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंचों को होता है और वैक्रिय काययोग के अधिकारी सभी पर्याप्त देव, नारक हैं। ये मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं अतः उनका ग्रहण संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में किया है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों को औदारिक काययोग माना गया है। क्योंकि उनमें जैसे मन और वचन की लब्धि नहीं है वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिए उनमें वैक्रिय काययोग आदि सम्भव नहीं है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय—पर्याप्त जीवों में औदारिक काययोग और वचनयोग (असत्यामृषा भाषा—व्यवहार भाषा रूप) यह दो योग माने गये हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी जीव तिर्यंच हैं और तिर्यंच जीवों के शरीर औदारिक काययोग निष्पन्न होते हैं, इसलिए उनके औदारिक काययोग तो अवश्य होगा ही और वचनयोग इसलिए माना जाता है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय के अनन्तर रसना आदि श्रोत्रेन्द्रिय पर्यन्त एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है। इस इन्द्रियवृद्धि के क्रम में रसनेन्द्रिय (जीभ) प्रथम है और जीभ ध्वनि, शब्दोच्चारण का साधन है, अतः जिन जीवों के रसनेन्द्रिय होगी वे किसी न किसी प्रकार के वचन (भाषा) ध्वनि का उच्चारण अवश्य करेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय आदि जीवों का भाषा-प्रयोग न तो सत्य रूप होता है और न मृषा रूप, किन्तु व्यवहार भाषा रूप होता है। इसलिए उनमें औदारिक

काययोग के साथ दूसरा व्यवहार-भाषा—असत्या-मृषा-भाषा—रूप वचनयोग माना जाता है।[1]

'बायरि सविउव्विदुगं' यानी बादर एकेन्द्रिय जीवों को पर्याप्त अवस्था में औदारिक काययोग के साथ वैक्रियद्विक—वैक्रिय और वैक्रियमिश्र यह तीन योग माने जाते है। पृथ्वी, जल आदि पाँच स्थावर बादर एकेन्द्रिय भी होते है और इनके पर्याप्त अवस्था मे औदारिक योग तो होता ही है, लेकिन वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग होने के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि यह दो योग केवल बादर वायुकाय में होते है, क्योकि बादर वायुकायिक जीवो के वैक्रियलब्धि होती है[2] और इससे जब वे वैक्रिय शरीर बनाते है तब वैक्रियमिश्र काययोग और वैक्रिय शरीर पूर्ण बन जाने पर वैक्रिय काययोग होता है।

---

१ विकलत्रिकासंज्ञिपचेन्द्रियेसु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगाऽसत्यामृषाभाषा-लक्षणौ द्वौ योगावित्यर्थ.। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२२

२ (क) आद्य तिर्यग्मनुष्याणा देवनारकयोः परम्।
केषाचिल्लब्धिमद्वायु सज्ञितिर्यग्नृणामपि ॥
—लोकप्रकाश सर्ग-३

पहला (औदारिक) शरीर तिर्यच और मनुष्यो को होता है और दूसरा (वैक्रिय) शरीर देव, नारको, लब्धि वाले वायुकायिको व लब्धिवान सज्ञी तिर्यच मनुष्यो को होता है।

(ख) वायुकायिक को लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर होने का संकेत तत्त्वार्थ-भाष्य की टीका मे भी किया गया है—
'वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव' इत्यादि
—तत्त्वार्थ०२।४८ की भाष्यवृत्ति

(ग) दिगम्बर साहित्य मे वायुकायिक, तेजस्कायिक को वैक्रियशरीर का स्वामी कहा है—

वायुकायिक जीवों द्वारा निष्पन्न वैक्रिय शरीर ध्वजाकार माना गया है। यह मतव्य श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य में समान रूप से मान्य है। जैसे—

मरुतां तद्ध्वजाकार द्वैधानामपि भूरुहाम् ।
स्युः शरीराण्यनियतः संस्थानानीति तद्विदः ॥

—लोकप्रकाश सर्ग ५, श्लोक २५४

मसुरंवुविन्दुसूई कलावधय सण्णिहो हवे देहो ।
पुढवी आदि चउण्हं तरुतसकाया अणेयविहा ॥

—गो० जीवकांड २०१

मसूर (अन्न विशेष), जल की बिन्दु, सुइयों का समूह, ध्वजा इनके सदृश क्रम से पृथ्वी, जल, तेज और वायुकायिक जीवों का शरीर होता है तथा वनस्पतिकाय व त्रस जीवो का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

जीवस्थानो में योगो की सख्या इस प्रकार जानना चाहिये—

जीवस्थान का नाम	योगों की संख्या व नाम
१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ औदारिक काययोग
३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र

'वैक्रियिक देवनारकाणा तेजोवायुकायिक पंचेन्द्रिय तिर्यग्मनुष्याना च केषाचित् ।' **—तत्त्वार्थ राजवार्तिक २।४९**

वादर तेऊवाऊ पचिदिय पुण्णगा विगुव्वति ।
ओरालिय सरीर विगुव्वणप्प हवे जे सिं ॥

—गो० जीवकांड २३३

वादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा सज्ञी पर्याप्त पचेन्द्रिय तिर्यच एव मनुष्य तथा भोगभूमिज तिर्यच, मनुष्य भी अपने औदारिक शरीर के द्वारा जिनके शरीर मे यह योग्यता पायी जाती है, विक्रिया करते है।

४ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ औदारिक, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र
५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषा वचनयोग
७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषा वचनयोग
९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषा वचनयोग
११ असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१२ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृषा वचनयोग
१३ सज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	३ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र
१४ सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१५ सत्य मनोयोग आदि कार्मण काययोग पर्यन्त सभी

मतान्तर से जीवस्थानों के सातो अपर्याप्त भेदो मे जब उक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तब उन्हें औदारिक काययोग भी होता है, औदारिकमिश्र नही।

इस प्रकार से जीवस्थानों मे योगो की संख्या का प्ररूपण करने के पश्चात् अब जीवस्थानों में उपयोगों का कथन करते है।

सामान्य से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग यह उपयोग के दो भेद है। उनमे से ज्ञानोपयोग के (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) मति-अज्ञान,

(७) श्रुत-अज्ञान और (८) विभगज्ञान (अवधि-अज्ञान)—यह आठ भेद है तथा दर्शनोपयोग के (१) चक्षुर्दर्शन, (२) अचक्षुर्दर्शन, (३) अवधिदर्शन, (४) केवलदर्शन—यह चार भेद होते है। कुल मिलाकर उपयोग के बारह भेद है। मतिज्ञान आदि रूप आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग साकार (विशेष रूप) है और चक्षुर्दर्शन आदि रूप चार प्रकार का दर्शनोपयोग निराकार (सामान्य रूप) है। ज्ञान और दर्शन उपयोगो को क्रमश: साकार-निराकार अथवा विशेष-सामान्य रूप मानने का कारण यह है कि वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। जिसमे से उत्पाद-व्ययात्मक अंश पर्यायरूप एव त्रिकाल अस्तित्व रूप अश ध्रौव्यात्मक है। पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से विशेष कहलाती है और उनका कुछ न कुछ आकार अवश्य होता है लेकिन ध्रौव्यात्मक रूप उन पर्यायो मे सदैव अनुस्यूत रहता है। पर्यायों के परिवर्तित होते रहने पर भी वस्तु के अस्तित्व, सदात्मकता मे किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नही आती है। इसीलिए इस न्यूनाधिकता के न होने से वस्तु को निराकार, सामान्यात्मक माना जाता है। उनमें से ज्ञान वस्तुगत विशेष धर्मो का, उत्पत्ति विनाशात्मक पर्यायों का बोध कराता है और दर्शन के द्वारा वस्तु के सद्रूप ध्रौव्यात्मकता, सामान्य धर्म की प्रतीत होती है।

'पज्जसन्निसु बार उवओगा' पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो में उक्त सभी बारह उपयोग पाये जाते है। इनमे से केवलज्ञान और केवल-दर्शन उपयोग की स्थिति समय मात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगो की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है।[1]

---

१ छद्मस्थो के उपयोग की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य मे समानता है। इस सम्बन्धी उल्लेख निम्न प्रकार है :—

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छद्मस्थो से लेकर केवलज्ञानियों तक का समावेश होता हैं और उनमें सभी उपयोग मानने का कथन सामान्य की अपेक्षा से है। छद्मस्थों में उपयोग क्रमभावी होते हैं यानी दर्शन के पश्चात् ज्ञानोपयोग । इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, किन्तु केवली के उपयोग सहभावी है या क्रमभावी, इसको लेकर मत-भिन्नता है। इस सम्बन्ध मे तीन पक्ष है।

प्रथम पक्ष सिद्धान्त का है। इसके समर्थक श्री भद्रवाहु स्वामी, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि है। सिद्धान्त मे ज्ञान और दर्शन का अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व वर्णित किया गया है। आवश्यक नियु क्ति मे केवलज्ञान—केवलदर्शन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण, उनके द्वारा सर्वविषयक ज्ञान और दर्शन का होना तथा युगपत् दो उपयोगों का निषेध स्पष्ट बतलाया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आवरण है, केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्तता लब्धि की अपेक्षा है। उपयोग की अपेक्षा उनकी स्थिति एक समय की है। उपयोगों का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे वे क्रमशः प्रवृत्त होते है। इसीलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग अलग माना जाता है।

दूसरा पक्ष केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपत् सहभावी

(क) उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाणः प्रकर्षाद् भवति ।

—तत्त्वार्थभाष्य २।८ की टीका

(ख) उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम् ।

—तत्त्वार्थभाष्य २।९ की टीका

(ग) मदिसुदओहिमणेहिं य सगसगविसये विसेस विण्णाण ।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो ॥
इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसि दूण ज गहणं ।
अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारे ॥

—गो० जीवकाड ६७४,६७५

मानने वालों का है। इसके पोषक श्री मल्लवादीसूरि आदि है। उनका मंतव्य है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का युगपत् क्षय होता है तथा पदार्थगत सामान्यविशेप धर्म सहभावी है, अतः आवरणक्षय रूप निमित्त और सामान्यविशेपात्मक विपय समकालीन होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते है। छाद्मस्थिक उपयोगों मे कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक भाव वन सकता है, क्षायिक उपयोग मे नही। क्योकि बोध स्वभाव आत्मा जव निरावरण हो जाती है तव उसके दोनों क्षायिक उपयोग निरन्तर ही होने चाहिए। केवलज्ञान और केवल-दर्शन की सादि-अपर्यवसिता (अनन्तता) युगपत् पक्ष मे ही घट सकती है क्योंकि इस पक्ष मे दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते है। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से उपयोगद्वय के प्रवाह को अनन्त कहा जा सकता है।

तीसरा पक्ष उभय उपयोगो का भेद न मानकर ऐक्य मानने वालों का है। इसके प्रस्तोता श्री सिद्धसेन दिवाकर है। उनका मतव्य है कि यथायोग्य सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय मे अनेक घट-पटादि विषय प्रतिभासित होते है, वैसे ही आवरणक्षय, विपय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल उपयोग पदार्थो के सामान्य-विशेप उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के समय मतिज्ञानावरण आदि का अभाव होने पर भी मतिज्ञान आदि केवलज्ञान से अलग नही माने जाते है वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर केवल-दर्शन को केवलज्ञान से अलग मानना उचित नही है। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन मे भिन्नता मानी जा सकती है; किन्तु अनन्त विषयकता और क्षायिक भाव समान होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन मे किसी प्रकार भेद नही माना जा सकता है। यदि केवलदर्शन को केवल

अलग माना जाये तो केवलदर्शन को सामान्यमात्र का विषय करने वाला होने से वह अल्प विषय वाला सिद्ध होगा, जिससे उसमे अनन्त विषयकत्व सिद्ध नही हो सकेगा। 'केवली का वचनोच्चार केवलज्ञान-केवलदर्शन पूर्वक होता है' यह कथन अभेद पक्ष मे ही पूर्णतया घट सकता है। केवलदर्शन और केवलज्ञान सम्बन्धी आवरणभेद कथचित् है अर्थात् वस्तुत: आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि भेद की अपेक्षा से उसका भेद समझना चाहिए।[1]

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने उक्त तीनों पक्षो का नयदृष्टि से समन्वय किया है कि सिद्धान्तपक्ष शुद्ध ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से, श्री मल्लवादीसूरि का पक्ष व्यवहारनय की अपेक्षा से और श्री सिद्धसेन दिवाकर का पक्ष संग्रहनय की अपेक्षा से जानना चाहिए।[2]

केवली मे उपयोग विषयक उक्त तीनों मंतव्यों में से

---

१ दिगम्बर साहित्य मे उक्त तीनो पक्षो मे से दूसरा—युगपत् उपयोगद्वय पक्ष माना है—

जुगवं वट्टइ णाण केवलणाणिस्स दसण च तहा।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्व॥

—नियमसार १६०

सिद्धाण सिद्धगई केवलणाण च दसणं खविय।
सम्मत्तमणाहार उवजोगाणक्कमपउत्ती॥

—गो० जीवकांड ७३०

दसण पुव्व णाणं छद्‌मत्थाण ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि णाहे जुगव तु ते दो वि॥

—द्रव्यसंग्रह ४४

२ ज्ञानविन्दु पृ० १६४

कार्म-ग्रन्थिकों ने सिद्धान्तमत को स्वीकार करते हुए क्रमभावी माना है।[1]

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय मे चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन तथा मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान यह चार उपयोग होते है। इन चार उपयोगो के होने का कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है तथा आवरण की घनिष्टता से चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनोपयोगों की तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोगो की सम्भावना नही है। इसलिए चक्षुर्दर्शन आदि श्रुत-अज्ञान पर्यन्त चार उपयोग पर्याप्त चतुरिन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के माने जाते है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानो मे भी पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के माने गये चार उपयोगो में से चक्षुर्दर्शन नही होने से सिर्फ अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग होते है। इसका आशय यह है कि—१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, २. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, ३ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ४ वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ६. द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त, ९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १० असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त—इन दस प्रकार के जीवों के अचक्षुर्दर्शन, तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग होते है।

---

१ ते च क्रमेणैव न तु युगपत्, उपयोगाना तथाजीवस्वभावतो यौगपद्यासमवात्। उक्त च—'समए दो णुवओगा' इति। श्री भद्रवाहुस्वामिपादा अप्याहु.—

नाणम्मि दसणम्मि य एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगव दो नत्थि उवओगा॥

(आव० निर्युक्ति गा० ९७

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ०

इन दस प्रकार के जीवों मे तीन उपयोग मानना कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार है, सैद्धातिक मत के अनुसार नही। क्योकि कार्मग्रन्थिक विद्वान् वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी-पंचेन्द्रिय इन पॉच प्रकार के अपर्याप्त जीवों में पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान मानते है—

सव्व जियठाण मिच्छे सगसासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ ४५

मिथ्यात्व गुणस्थान मे सब जीवस्थान है। सासादन मे पॉच अपर्याप्त (वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पचेन्द्रिय) तथा दो सज्ञी (पर्याप्त और अपर्याप्त) कुल सात जीवस्थान है। अविरति मे दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) जीवस्थान है। उनके अलावा शेष ग्यारह गुणस्थानो मे पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है।

लेकिन दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को ज्ञान रूप न मानकर अज्ञान रूप ही मानते है। इसलिए पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय इन प्रथम गुणस्थान वाले पॉच जीवस्थानों के समान वादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पॉच प्रकार के अपर्याप्त जीवस्थानों मे भी जिनमे दो गुणस्थान सम्भव है, अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग माने जाते है।

सिद्धान्त का मत उक्त मतव्य से भिन्न है कि सभी प्रकार के एकेन्द्रियो मे—चाहे वे वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त हो—पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय इन चार अपर्याप्त जीवस्थानो मे पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते है। साथ ही सिद्धान्त मे दूसरे गुणस्थान के

समय मति आदि को अज्ञान रूप न मानकर ज्ञान रूप माना है। अतएव सिद्धान्त के मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त जीवस्थानो मे अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पॉच उपयोग होते है तथा द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार के सिवाय शेप छह जीवस्थानों मे अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग समझना चाहिए।

एकेन्द्रिय मे माने गये तीन उपयोगों मे श्रुत-अज्ञान उपयोग को भी ग्रहण किया है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों मे मति-उपयोग मानना ठीक है, लेकिन भाषा और श्रवण लब्धि न होने के कारण उनमें श्रुत उपयोग कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि शास्त्र में भाषा और श्रवण लब्धि वालो को ही श्रुतज्ञान माना है—

भावसुयं भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स सुयं सोऊण य जं हविज्जाहि॥

—विशेषावश्यक, १०२

—बोलने और सुनने की शक्ति वाले को भावश्रुत होता है दूसरों को नही। क्योंकि श्रुतज्ञान उस ज्ञान को कहते है जो बोलने की इच्छा वाले अथवा वचन सुनने वाले को होता है।

इसका समाधान यह है एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्येन्द्रियों के न होने पर भी वृक्षादि जीवों मे पॉच भावेन्द्रियों का तथा बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र सम्मत है—

जह सुहुमं भाविंदिय नाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुया भावम्मि वि भावसुयं पत्थिवाईणं॥

—विशेषावश्यक, १०३

—जिस प्रकार द्रव्येन्द्रियों के अभाव मे भावेन्द्रियजन्य सूक्ष्मज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के अभाव मे भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों को अल्प भावश्रुत होता है। यद्यपि यह भावश्रुत दूसरों जितना स्पष्ट नही होता है।

एकेन्द्रियों मे अस्पष्ट भावश्रुत मानने का कारण यह है कि उनमें आहार संज्ञा (अभिलाष) विद्यमान है और यह आहार-अभिलाष क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष है—

आहारसंज्ञा आहाराभिलाष. क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवःखल्वात्मपरिणाणविशेषः इति।
—आवश्यक हारिभद्री टीका, पृ० ५८०

आहारसंज्ञा अर्थात् आहार का अभिलाष क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणामविशेष है। यह अभिलाष मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा, इस प्रकार के शब्द और अर्थ के विकल्पपूर्वक होता है और विकल्प सहित उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय का नाम ही श्रुतज्ञान है—

इन्दियमणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेण।
निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मईसेसं॥
—विशेषावश्यक, १००

—इन्द्रिय और मन के निमित्ति से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जो कि नियत अर्थ को कहने में समर्थ है तथा श्रुतानुसारी (शब्द और अर्थ के विकल्प से युक्त) है, उसे भावश्रुत कहते है तथा इसके सिवाय शेष मतिज्ञान है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एकेन्द्रियो मे श्रुत उपयोग न माना जाये तो उनमे आहार का अभिलाप नही घट सकता है। इसलिए बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमे अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग होता है, यह अवश्य मानना चाहिए।

शास्त्र में जो भाषा और श्रवण लब्धि वाले को ही भावश्रुत कहा गया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।

सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त मे 'मणनाणचक्खुकेवलदुग विहूणा' मनपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन इन चार उपयोगों के सिवाय शेष आठ उपयोग होते है। सज्ञी पचेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था मे आठ उपयोग इसलिए माने जाते है कि तीर्थंकर तथा सम्यग्दृष्टि देव, नारक आदि को उत्पत्ति के क्षण से ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन यह पाँच उपयोग होते है तथा मिथ्यादृष्टि देव, नारक को जन्मसमय से ही मति, श्रुत, अवधि-अज्ञान और दो दर्शन होते है। दोनो प्रकार के जीवों (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि) में दो दर्शन समान है अत. उनकी पुनरावृत्ति न करने से आठ उपयोग सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को अपर्याप्त अवस्था मे माने जाते है।

सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त दशा मे मनपर्यायज्ञान आदि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान संयमी जीवो को होता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था मे संयम सम्भव नही है तथा चक्षुर्दर्शन चक्षुरिन्द्रिय वालों को होता है और चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था मे चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नही होता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग कर्मक्षयजन्य है, किन्तु अपर्याप्त दशा मे कर्मक्षय होना सम्भव नही है। इसीलिए सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था में मनपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन तथा केवलद्विक से रहित आठ उपयोग माने जाते है।[1]

---

१ पचसग्रह मे चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय इन तीनो

संज्ञी पंचेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था मे जो आठ उपयोग कहे गये है सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त मे तो मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षु-दर्शन यह तीन उपयोग होते है।

जीवस्थानों मे उपयोगों की सख्या इस प्रकार है—

	जीवस्थान का नाम		उपयोगों की संख्या व नाम
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३	मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अचक्षुर्दर्शन
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३	,, ,, ,,
३	बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३	,, ,, ,,
४	बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३	,, ,, ,,
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३	,, ,, ,,
६	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	३	,, ,, ,,
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३	,, ,, ,,
८	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	३	,, ,, ,,
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३	,, ,, ,,
१०	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	४	,, ,, ,, चक्षुर्दर्शन
११	असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	३	,, ,, ,,
१२	असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	४	,, ,, ,, चक्षुर्दर्शन
१३	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	८	केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन के सिवाय शेष
१४	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१२	मतिज्ञान आदि केवलदर्शन पर्यंत

अपर्याप्त दशा मे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद चक्षुर्दर्शन होना माना है। श्री मलयगिरिसूरि ने इसका उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्या., अन्यथा करणापर्याप्तकेपु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्। —पंचसंग्रह १।८ की टीका

इस प्रकार से जीवस्थानों में योग और उपयोग की संख्या का निर्देश करने के बाद अब आगे की दो गाथाओं में लेश्या, बन्ध आदि को बतलाते है।

जीवस्थानों में लेश्या, बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता

सन्निदुगि छलेस, अपज्जबायरे पढमचउ ति सेसेसु।
सत्तट्ठ बन्धुदीरण संतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥
सत्तट्ठछेग बंधा संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्त-ट्ठ-छ-पंच-दुगं उदीरणा सन्नि पज्जत्ते ॥८॥

शब्दार्थ—**सन्निदुगि**, सज्ञीद्विक मे, **छलेस**—छह लेश्याये, **अपज्जबायरे**—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय मे, **पढमचउ**—आदि की चार, **ति**—तीन, **सेसेसु**—शेष जीवो मे, **सत्तट्ठ**—सात अथवा आठ, **बंधुदीरण**—बध और उदीरणा, **संतुदया**—सत्ता और उदय, **अट्ठ**—आठ कर्मों की, **तेरससु**—तेरह जीवस्थानो मे ॥७॥

सत्तट्ठ—सात, आठ, **छेग**—छह तथा एक, **बन्धा**—बध, **संतुदया**—सत्ता तथा उदय, **सत्त**—सात, **अट्ठ**—आठ, **चत्तारि**—चार, **सत्त-ट्ठ-छ-पंच-दुगं**—सात, आठ, छह, पाच और दो, **उदीरणा**—उदीरणा, **सन्नि पज्जत्ते**—सज्ञी पर्याप्त मे ॥८॥

गाथार्थ—सज्ञीद्विक मे छह लेश्याये होती है, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय मे आदि की चार लेश्याये तथा शेष ग्यारह जीवस्थानो मे तीन लेश्याये होती है। तेरह जीवस्थानों में सात या आठ कर्मो का बन्ध और उदीरणा होती है किन्तु सत्ता और उदय आठों ही कर्मो का होता है ॥७॥

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे बंध सात, आठ, छह और एक कर्म का तथा सत्ता और उदय सात, आठ और चार कर्मो का होता है। उदीरणा सात, आठ, छह, पाँच और दो की होती है ॥८॥

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं द्वारा जीवस्थानों में लेश्या तथा कर्मो के बध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन किया गया है।

जीवस्थानों में लेश्याओं का कथन जीवस्थानों के तीन विभाग करके किया है। पहले विभाग में संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण किया है कि 'सन्निदुगि छलेस' सज्ञीद्विक—सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त में कृष्णादि छहों लेश्याये पायी जाती है। दूसरे विभाग में अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवो के लेश्याओ की सख्या बतलायी है कि 'अपज्ज बायरे पढमचउ' अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में आदि की चार लेश्यायें होती हैं और तीसरे विभाग में उक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त तथा अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय 'ति सेसेसु' पद से शेप ग्यारह जीवस्थानों में कृष्णादि तीन लेश्याये बतलायी है।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकार के संज्ञी जीवों में छह लेश्याये मानने का कारण यह है कि उनमें शुभ और अशुभ परिणामो के तीव्रतम आदि सभी प्रकार होना सम्भव है तब शुभ और अशुभ परिणामों से निप्पन्न सभी लेश्याये भी अवश्य होगी। साराश यह है कि सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था में परिणामों की शुभाशुभता की विविध अवस्थायें पायी जाती है, अतः उन परिणामों से जन्य शुभ और अशुभ लेश्याये भी उनमें अवश्य पायी जायेगी। इसी वात को वतलाने के लिए सज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छह लेश्यायें होना माना जाता है।

अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय पद मे अपर्याप्त का अर्थ करण अपर्याप्त है, क्योंकि उसी में छह लेश्याये होना सम्भव है। लब्धि-अपर्याप्त तो सिर्फ कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओ के अधिकारी है।

एकेन्द्रिय जीवों के दो भेद है—सूक्ष्म और वादर तथा सूक्ष्म व वादर भी पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के हो

जाते है। यानी सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के है। सामान्यतया सभी एकेन्द्रिय जीवो के कृष्ण, नील और कापोत यह तीन लेश्यायें होती है, लेकिन जब उनके बादर, सूक्ष्म आदि भेदों की अपेक्षा लेश्या का विचार करते है, तो अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों की यह विशेषता है कि उनका लेश्यास्वामित्व चार लेश्याओं 'कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या' का है।

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों मे तेजोलेश्या मानने का कारण यह है कि तेजोलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव जब उसी लेश्या मे मरते है और बादर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय मे जन्म लेते है तब उनके अपर्याप्त अवस्था मे तेजोलेश्या होती है।[1]

समस्त संसारी जीव लेश्यावान है और जन्म से लेकर मरण तक कोई न कोई लेश्या अवश्य पायी जाती है। अत: यह सामान्य नियम है कि जिस लेश्या में मरण हो, जन्मते समय वही लेश्या होती है।[2] इसलिए ज्योतिषी आदि देवो के तेजोलेश्या के परिणामों में मरण करके पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों मे जन्म लेने पर अपर्याप्त दशा मे तेजोलेश्या मानी जाती है।

पूर्वोक्त सज्ञीद्विक और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त इन तीन

---

१ तेजोलेश्या कथमस्मिन्नवाप्यते ? इति चेद् उच्यते—यदा
पुढवीआउवणस्सइ गब्भेपज्जत्तसखजीवीसु।
सग्गचुआण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा॥

—बृहद् संग्रहणी १८०

इति वचनात् कश्चनपि देव· स्वर्गलोकात् च्युत सन् बादरैकेन्द्रियतया भूदकतरुषु मध्ये समुत्पद्यते तदा तस्य घण्टालालान्यायेन सा प्राप्यत इत्यदोष.। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृष्ठ १२४

२ जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ।

जीवस्थानों के सिवाय शेष ग्यारह जीवस्थानों—(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (४) अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, (५) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, (७) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (८) अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (९) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (१०) अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, (११) पर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय में कृष्ण, नील और कापोत यह तीन लेश्याये होती है। इन ग्यारह जीवस्थानों में कृष्णादि तीन लेश्याये मानने का कारण यह है कि ये ग्यारह जीवस्थान अशुभ परिणाम वाले ही होते है। अत: उनमे अशुभ परिणामजन्य कृष्ण, नील, कापोत यह तीन अशुभ लेश्यायें ही हो सकती है और शुभ परिणामों का अभाव होने से शुभपरिणामजन्य तथा शुभ परिणाम रूप तेजोलेश्या आदि तीन लेश्याये नही होती है।[1]

जीवस्थानो मे लेश्याये इस प्रकार है—

जीवस्थान का नाम	**लेश्याओं की संख्या व नाम**
१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३ कृष्ण, नील, कापोत
२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	४ ,, ,, ,, तेजोलेश्या
४ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,

१ 'ति सेसेसु' त्ति प्रथमा इत्यनुवर्तते, प्रथमास्तिस्र:—कृष्णनीलकापोतलक्षणा 'शेषेषु' प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपचेन्द्रियापर्याप्तवादरैकेन्द्रियवर्जितेपु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपचेन्द्रियपर्याप्तवादरैकेन्द्रियलक्षणेष्वेकादशसु जीवस्थानेपु भवन्ति ता नान्या तेपा सदैवाऽशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्यादय ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२४

७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३ कृष्ण, नील, कापोत						
८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	३	,,	,,	,,			
९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३	,,	,,	,,			
१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	३	,,	,,	,,			
११ असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	३	,,	,,	,,			
१२ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	३	,,	,,	,,			
१३ सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	६	,,	,,	,, तेज,	पद्म,	शुक्ल	
१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	६	,,	,,	,,	,,	,,	,,

इस प्रकार से जीवस्थानो मे लेश्याओ का स्वामित्व बतलाने के बाद वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार करते है। यह बन्ध आदि का विचार कर्मो की मूल प्रकृतियो को लेकर किया गया है कि प्रत्येक जीवस्थान मे किसी एक समय मे कर्मो की कितनी मूल प्रकृतियो का बन्ध, उदय, उदीरणा या सत्ता सम्भव है।

जीवस्थानो में बन्ध आदि का कथन दो विभागों मे किया गया है। प्रथम विभाग मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त को छोडकर शेष तेरह जीवस्थानों का बन्ध आदि बतलाया है और दूसरे विभाग में सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त का। अत: इस विभागानुसार पहले तेरह जीवस्थानो मे वन्ध, उदय आदि को बतलाते है।

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को छोड़कर शेष अपर्याप्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय आदि सभी प्रकार के जीव प्रत्येक समय सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियों का वन्ध करते है। सात या आठ प्रकृतियों के वन्ध को मानने का कारण यह है कि जब आयुकर्म का बन्ध नहीं होता तब सात प्रकृतियो का और आयुकर्म का बन्ध होने पर आठ प्रकृतियो का बन्ध होता है। प्रत्येक समय मे आयुकर्म के बन्ध न होने का कारण यह है कि आयु का बन्ध एक भव मे एक ही बार

जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है और एक बार भी बन्ध होने का नियम यह है कि वर्तमान आयु का तीसरा, नौवाँ अथवा सत्ताईसवाँ आदि भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु का बन्ध होता है। इस स्थिति मे भी यदि बन्ध न हो सके तो अन्त में वर्तमान आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर परभव की आयु का बन्ध अवश्य होता है।

आयुकर्म के बन्ध होने की इस स्थिति के कारण आयुकर्म के भी बन्ध के समय तो आठ कर्मो का बन्ध और आयुकर्म के बन्ध का अवसर न होने की स्थिति में आयुकर्म को छोडकर ज्ञानावरण आदि शेष सात कर्मो का बन्ध होता है।

सात या आठ कर्मो का जिन तेरह जीवस्थानो में बन्ध बतलाया गया है, उनके नाम इस प्रकार है—

(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (४) पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (५) अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (७) अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, (८) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (९) अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (१०) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (११) अपर्याप्त असज्ञी पंचेन्द्रिय, (१२) पर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय, (१३) अपर्याप्त सज्ञी पंचेन्द्रिय।

उपर्युक्त तेरह जीवस्थानों मे सात या आठ कर्मो के बन्ध के समान ही प्रत्येक समय में सात या आठ कर्मो की उदीरणा हुआ करती है। सात कर्मो की उदीरणा तो आयुकर्म की उदीरणा न होने के समय—जीवन की अन्तिम आवलिका—मे पायी जाती है। क्योंकि उस समय आवलिका-मात्र स्थिति शेप रहने के कारण उदयमान आयु की और अधिक स्थिति होने पर भी उदयमान न होने के कारण आगामी भव की आयु की उदीरणा नही होती है। शेप समय

में आठ कर्मों की उदीरणा हो सकती है ।[१] कर्मों की उदीरणा के लिए शास्त्रों में यह नियम बतलाया है कि जो कर्म उदय प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरे की नही और उदय प्राप्त कर्म भी आवलिका-मात्र शेप रह जाता है तब से उसकी उदीरणा[२] रुक जाती है।

उक्त तेरह प्रकार के जीवस्थानो में जो अपर्याप्त जीवस्थान है उनमे अपर्याप्त का अर्थ लब्धि-अपर्याप्त लेना चाहिये, करण-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीवो के सात या आठ कर्मो की उदीरणा सभव है। वे अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते है इसलिये उनमे आवलिका मात्र आयु शेष रहने पर सात कर्मो की और उसके

---

१ ....त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टाना वा वन्धः, सप्तानामष्टाना वा उदीरणा। तथाहि—यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनवभागादिरूपे शेषे सति परभवायुर्वध्यते तदाऽष्टानामपि कर्मणा वन्ध', शेष कालत्वायुपो वन्धाभावात् सप्तानामेव वन्ध। तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयावलिकावशेषं भवति तदा सप्तानामुदीरणा, अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात्, आवलिकाशेपस्योदीरणाऽनर्हत्वात्। उदीरणा हि उदयावलिकाबहिर्वर्तिनीभ्य स्थितिभ्य सकाशात् कपायसहितेन कपायासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयसमयप्राप्तदलिकेन सहाऽनुभवनम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२४

२ 'उदयावलियावहिरिल्लठिईहितो कसायसहियासहिएण जोगकरणेण दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलियेण सम अणुभवणमुदीरणा।

—कर्मप्रकृतिचूर्णि

उदयावलिका से वाहर की स्थिति वाले दलिको को कषायसहित या कपाय सहित योग द्वारा खीचकर उदयप्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है।

उदीरणा के उक्त लक्षण का आशय यह है कि उदयावलिका के दलिको की उदीरणा नही होती है। अतएव कर्म की स्थिति आवलिका-मात्र शेष रहने के समय उसकी उदीरणा रुक जाना नियमानुकूल है।

पूर्व आठ कर्मों की उदीरणा होती है। किन्तु करण-अपर्याप्त जीवो के अपर्याप्त अवस्था में मरने का नियम नहीं है। वे यदि लब्धि-पर्याप्त हुए तो पर्याप्त अवस्था ही में मरते है, इसलिये उनके अपर्याप्त अवस्था मे आवलिका मात्र आयु शेष रहने और सात कर्मो की उदीरणा होना सम्भव नहीं है।

उक्त तेरह जीवस्थानों मे यद्यपि बध और उदीरणा सात या आठ कर्मो की बतलाई है, लेकिन उदय और सत्ता के लिये यह नियम नही है। उदय तथा सत्ता तो आठों कर्मो की होती है। इसका कारण यह है कि सामान्यतया आठ कर्मो की सत्ता ग्यारहवे गुणस्थान तक और उदय दसवें गुणस्थान तक होता है। परन्तु पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय शेष तेरह जीवस्थानों मे अधिक से अधिक पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान सम्भव है। इसीलिये इन तेरह जीवस्थानो मे आठों ही कर्मो की सत्ता और उदय माना गया है।[1]

संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के अतिरिक्त शेष तेरह जीवस्थानों में कर्मो के बंध, उदीरणा, सत्ता और उदय को बतलाने के बाद अब सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे कर्मो के बंध आदि का निरूपण करते है।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के सर्वश्रेष्ठ जीवस्थान होने से उसके कर्मो के बध आदि की अपनी विशेषता है कि वह प्रत्येक समय

---

१ तथाहि—एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणा सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानक यावदनुवर्तते। एते च जीवा उत्कर्षतो यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एवेति। एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणा दृष्टव्य.। तथाहि— सूक्ष्मसपरायगुणस्थानक यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते, एतेषु च जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसम्भव इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२५

में 'सत्तट्ठछेग बधा' सात कर्म का, आठ कर्म का, छह कर्म का और एक कर्म का बंध कर सकता है। यानी संज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के उक्त चार बंधस्थान[1] है।

उपर्युक्त चार बधस्थानों में से सात कर्मो का बधस्थान आयुकर्म का बध नही होने के समय होता है। एक बार आयु का बंध हो जाने के बाद दूसरी बार उसका बध होने मे जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट काल छह मास कम तेतीस सागरोपम तथा अन्तर्मुहूर्त कम $\frac{1}{3}$ करोड़ पूर्व वर्ष प्रमाण है। अतएव सात कर्मो के बधस्थान की स्थिति भी जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम $\frac{1}{3}$ करोड पूर्व वर्ष तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण समझना चाहिये।

आठ कर्मो का बंधस्थान आयुकर्म के बध के समय पाया जाता है। आयुबध जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसीलिये आठ कर्मो के बधस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

छह कर्मो का बधस्थान दसवे गुणस्थान मे ही पाया जाता है। क्योकि उसमें आयु और मोहनीय इन दो कर्मो का बंध नही होता है। इस बधस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति दसवे गुणस्थान के बराबर है अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

---

१ जिन प्रकृतियो का बध एक साथ (युगपत्) हो उनके समुदाय को बधस्थान कहते है। इसी प्रकार जिन प्रकृतियो की सत्ता एक साथ पाई जाये उनके समुदाय को सत्तास्थान, जिन प्रकृतियो का उदय एक साथ पाया जाये उनके समुदाय को उदयस्थान तथा जिन प्रकृतियो की उदीरणा साथ पाई जाये उनके समुदाय को उदीरणास्थान कहते है।

एक कर्म का बधस्थान ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे इन तीन गुणस्थानो में होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानो के समय साता वेदनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मो का बध नहीं होता है। ग्यारहवे गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की और तेरहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड पूर्व वर्ष की है। अतएव इस बधस्थान की भी जघन्य स्थिति एक समय मात्र की और उत्कृष्ट नौ वर्ष कम करोड पूर्व वर्ष की समझना चाहिये।

गुणस्थानों की अपेक्षा यदि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कर्म-बंध का विचार किया जाये तो पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवे अप्रमत्त-संयत गुणस्थान तक सात या आठ कर्मो का, आयुकर्म का बध न होने से आठवे, नौवे गुणस्थान में सात कर्मो का, दसवे गुणस्थान मे छह कर्मो का तथा ग्यारहवे, बारहवे, तेरहवें गुणस्थान मे एक कर्म (साता वेदनीय) का बंध होता है।[1]

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के सात, आठ, छह और एक यह चार बधस्थान कहे गये है किन्तु सत्ता और उदयस्थान तीन है जो सात,

---

१ (क) अय चात्र तात्पर्यार्थ.—मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेपु सप्तानामष्टाना वा बध:, आयुर्वन्धाभावाद् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्ताना बन्ध·, सूक्ष्मसम्पराये पण्णा बध., उपशान्तमोहादिष्वेकस्या: प्रकृतेर्बन्ध·। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२५**

(ख) पहले से सातवे गुणस्थान तक सात गुणस्थान मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव को जो सात या आठ कर्मो के बध का कथन किया गया है, उसमे तीसरा गुणस्थान ग्रहण नही करना चाहिये। क्योकि तीसरे गुणस्थान मे आयुकर्म का बध नही होता है।

तीसरे गुणस्थान की तरह आठवें, नौवे गुणस्थान मे भी आयु-कर्म का बध नही होने से तीसरे, आठवे, नौवे इन तीन गुणस्थानो मे सात कर्मो का बध समझना चाहिये।

किन्तु भव्य की अपेक्षा स्थिति के लिये दो विकल्प है। सामान्य भव्य की अपेक्षा तो अनादि-सान्त है किन्तु उपशम श्रेणि से पतित होने वाले भव्य की अपेक्षा सादि-सान्त है। क्योकि उपशम श्रेणि से गिरने के वाद पुन: अन्तर्मुहूर्त में श्रेणि की जा सकती है। यदि पुन: अन्तर्मुहूर्त में श्रेणि न की जा सके तो कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त के वाद अवश्य ही की जाती है। इसलिए आठ कर्म के उदयस्थान की सादि-सान्त स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन अर्धपुद्गल परावर्त प्रमाण समझना चाहिये।

सात कर्मो का उदयस्थान ग्यारहवे और बारहवे इन दो गुण-स्थानों में जानना चाहिये। सात कर्मो के उदयस्थान मे मोहनीय कर्म को ग्रहण नही किया गया है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में मोह का उपशमन हो जाने से तथा बारहवे गुणस्थान मे मोह का क्षय हो जाने से मोहनीय कर्म का उदय नही रहता है।

सात कर्म के उदयस्थान की जघन्य स्थिति एक समय मात्र और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसका कारण यह है कि एक समय मात्र की जघन्य स्थिति उस समय होती है जब जीव ग्यारहवे गुणस्थान में एक समय मात्र रहकर मरता है और अनुत्तर विमान मे पैदा होता है तब पैदा होते ही आठ कर्मो का उदय अनुभव करता है। इस अपेक्षा से सात कर्मो के उदयस्थान की जघन्य स्थिति एक समय मात्र कही जाती है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने का यह कारण है कि जो जीव बारहवे गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह अधिक से अधिक उस गुणस्थान की स्थिति तक जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है, सात कर्मो के उदय का अनुभव करता है। इसके वाद तो तेरहवे गुण-स्थान को प्राप्त कर सिर्फ चार कर्मो (अघाती चतुष्क) के उदय का ही अनुभव करता है।

चार कर्मो का उदयस्थान तेरहवें और चौदहवे इन दो गुणस्थानों में पाया जाता है। क्योंकि इन गुणस्थानों मे सिर्फ चार अघाती कर्मो का ही उदय रहता है। चार कर्मो के उदयस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति देश-ऊन पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में आठ कर्म का, सात कर्म का, छह कर्म का, पाँच कर्म का और दो कर्म का यह पॉच उदीरणास्थान है।

आठ कर्म का उदीरणास्थान आयुकर्म की उदीरणा के समय और सात का उदीरणास्थान आयु कर्म की उदीरणा रुक जाने के समय होता है और आयु कर्म की उदीरणा तब रुक जाती है जब वर्तमान आयु आवलिका प्रमाण शेष रह जाती है।

आयु कर्म की उदीरणा पहले छह गुणस्थानों में होती है अतएव आठ कर्मो का उदीरणास्थान इन छह गुणस्थानों मे पाया जाता है और वर्तमान आयु की अन्तिम आवलिका के समय पहला, दूसरा, चौथा, पॉचवॉ और छठा ये पॉच गुणस्थान पाये जा सकते है। इसलिये सात का उदीरणास्थान इन पॉच गुणस्थानों मे समझना चाहिए। तीसरे मिश्र गुणस्थान को सात कर्मो के उदीरणास्थान में ग्रहण नही करने का कारण यह है कि आवलिका प्रमाण आयु शेष रहने पर यह गुणस्थान सम्भव नही है। इसलिये इस गुणस्थान मे आठ का उदीरणास्थान माना है।[1]

---

१ तत्र यदाऽनुभूयमानभवायुरावलिकावशेष भवति तदा तथास्वभावत्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात् सप्तानामुदीरणा, यदा [illegible] रावलिकावशेष न भवति तदाऽष्टानां प्रकृतिनामुदीरणा। दृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् प्रमत्तसयतगुणस्थानक [illegible]।

छह कर्मो का उदीरणास्थान सातवें गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थान की एक आवलिका प्रमाण स्थिति बाकी रहने तक पाया जाता है। क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय इन दो कर्मो की उदीरणा नही होती है।[1]

पॉच कर्मो का उदीरणास्थान दसवे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमे मोहनीय कर्म की भी उदीरणा रुक जाती है, से लेकर बारहवे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका पर्यन्त है। इस समय मे उदीरणायोग्य पॉच कर्मो के नाम हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय।

बारहवे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका जिसमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मो की उदीरणा रुक जाती है उससे लेकर तेरहवें गुणस्थान के अन्त पर्यन्त नाम और गोत्र इन दो कर्मो का उदीरणास्थान होता है।

अयोगिकेवली गुणस्थान अनुदीरक है। अयोगिकेवली गुणस्थान को अनुदीरक मानने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सयोगिकेवली गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी भवोपग्राही कर्म चतुष्टय का उदय है तब उसको अनुदीरक कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि—भवोपग्राही कर्म प्रकृतियों का उदय होने पर भी कर्म प्रकृतियो की उदीरणा के कारणभूत योग का अभाव

मष्टाना वा उदीरणा, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु सदैवाऽष्टानामेव उदीरणा, आयुष आवलिकाशेषे मिश्रगुणस्थानस्यैवाऽभावात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

१ तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यावलिकाशेषो न भवति तावद् वेदनीयायुर्वर्जाना षण्णा प्रकृतिनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयायुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

होने से अयोगिकेवली गुणस्थान को अनुदीरक कहा गया है।[1]
सारांश यह है कि चौदहवे गुणस्थान में नाम और गोत्र का उदय रहने पर भी योग न रहने के कारण उनकी उदीरणा नहीं होती है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव चौदह गुणस्थानों का अधिकारी है। यहाँ सामान्य से बंधस्थान, सत्तास्थान आदि का कथन किया गया है। किस गुणस्थान में कौनसा बन्धस्थान आदि होता है, इसका विचार आगे किया जा रहा है। चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वारो और अल्पबहुत्व का विवरण संलग्न यत्र मे देखिये।

इस प्रकार से जीवस्थानो मे (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता इन आठ विषयो का विचार करने के पश्चात् अब मार्गणास्थान को लेकर जीवस्थान आदि छह विपयों का विचार करते है।

---

१ अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीव सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोदयवान् वर्तते तत. कथ तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति ? नैष दोप., उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणाया, तदानी च तस्य योगासम्भवादिति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२७

चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वार और पन्नवणा सूत्र के आधार से अल्पबहुत्व दर्शक यंत्र

जीवस्थानो मे	१ सू ए. अ	२ सू. ए प	३ बा. ए अ	४ बा. ए. प.	५ द्वी अ	६ द्वी प	७ त्री. अ.
गुणस्थान १४	पहला १	पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २
योग १५	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३	औदा १	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३	औदा वैक्रियद्विक ३	कार्मण, औदा औदा. मिश्र. २/३	औदा. असयामृपा २	कार्मण, औदा. औदा. मिश्र २/३
उपयोग १२	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३
लेश्या ६	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ४	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३
कर्मबन्ध	७/८	७/८	७/८	७/८'	७/८	७/८	७/८
उदय	८	८	८	८	८	८	८
उदीरणा	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८
सत्ता	८	८	८	८	८	८	८
अल्पबहुत्व	असख्यात गुणा	सख्यात गुणा	असख्यात गुणा	अनन्त गुणा	विशेपाधिक	विशेपाधिक	विशेपाधिक

८ त्री प	९ चतु अ	१० चतु. प	११ असज्ञी पचे अ	१२ असज्ञी पचे प	१३ सज्ञी पचे. अ	१४ सज्ञी प प
पहला	पहला, दूसरा	पहला	पहला, दूसरा	पहला	पहला, दूसरा	१४
१	२	१	२	१	२	
औदा असत्यामृपा	कार्मण, औदा औदा. मिश्र	औदा. असत्यामृपा	कार्मण, औदा औदारिक मिश्र	औदा असत्यामृपा	कार्मण, औदा द्विक वैक्रियद्विक	१५
२	२/३	२	२/३	२	३/५	
मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षुदर्शन	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षुदर्शन	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान चक्षु अचक्षु दर्शन	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन	मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान चक्षु अचक्षु दर्शन	केवलद्विक मनपर्याय चक्षुदर्शन के सिवाय	१२
३	३	४	३	४	८	
आदि की	आदि की	आदि की	आदि की	आदि की	कृष्णादि	कृष्णादि
३	३	३	३	३	६	६
७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	८, ७, ६, १
८	८	८	८	८	८	७, ८, ४
७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७,८,६,५,२
८	८	८	८	८	८	७, ८, ४
विशेपाधिक	विशेपाधिक	सख्यात गुणा	असख्यात गुणा	विशेपाधिक	असख्यात गुणा	सबसे कम

२. मार्गणास्थान अधिकार

मार्गणास्थान को लेकर (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, और (६) अल्पबहुत्व, इन छह विषयो का विचार किया गया है। सर्वप्रथम मार्गणास्थान के नाम गाथा में बतलाते है—

गइइंदिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदंसणलेसा भवसम्मे सन्निआहारे[1] ॥९॥

शब्दार्थ—**गइ**—गति, **इंदिए**—इन्द्रिय मे, **य**-और, **काए**—काय मे, **जोए**—योग मे, **वेए**—वेद मे, **कसाय**—कषाय, **नाणेसु**—ज्ञान मे, **संजम**—सयम, **दंसण**—दर्शन, **लेसा**—लेश्या, **भव**—भव्य, **सम्मे**—सम्यक्त्व मे, **सन्नि**—सज्ञी, **आहारे**—आहार मे।

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व, और आहारकत्व, ये मार्गणास्थान के चौदह भेद है।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थलाघव की दृष्टि से ग्रन्थकार ने मार्गणास्थान के भेदों की सख्या को अलग से न बतला कर नामों के माध्यम से संख्या का सकेत किया है कि मार्गणा के गति, इन्द्रिय आदि चौदह भेद होते है जिनके नाम यह है—

---

१ (क) यह गाथा पचसग्रह (द्वार १, गाथा २१) मे भी इसी प्रकार से दी गई है।

(ख) गो० जीवकाड मे मार्गणा के चौदह भेदो के नाम इस प्रकार दिये गये है—

गइइदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
सजमदसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ॥१४२॥

१. गति मार्गणा	८. संयम मार्गणा
२. इंद्रिय मार्गणा	६. दर्शन मार्गणा
३. काय मार्गणा	१०. लेश्या मार्गणा
४ योग मार्गणा	११ भव्यत्व मार्गणा
५ वेद मार्गणा	१२. सम्यक्त्व मार्गणा
६. कषाय मार्गणा	१३ सज्ञित्व मार्गणा
७ ज्ञान मार्गणा	१४. आहारकत्व मार्गणा

मार्गणा के इन भेदों मे समस्त संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। इन चौदह भेदों मे से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों के नाम और उनके लक्षण आदि आगे १० से १४ तक पाँच गाथाओ में बतलाते है।

मार्गणा व उसके भेदों की व्याख्या

लोक मे विद्यमान जीवों के अन्वेषण का मुख्य आधार है वाह्य आकार-प्रकार की अवस्था-विशेष और उनमे विद्यमान त्रिकालावस्थायी भावों का समन्वय। सिर्फ बाह्य आकार-प्रकार, अवस्था की अपेक्षा से किये जाने वाले अन्वेषण मे उन जीवों का ग्रहण—बोध नही होता जो वाह्य-शरीर, इन्द्रिय आदि से रहित होकर आत्मिक भावो मे विद्यमान है और सिर्फ भावो की अपेक्षा द्वारा किये जाने वाले अन्वेषण से शरीर, इन्द्रिय आदि की विभिन्नता रखने वाले जीवों का ग्रहण नही होगा। इसीलिये वाह्य शरीर आदि आकार-प्रकार और भावों से युक्त सभी प्रकार के जीवों का बोध कराने के लिये मार्गणा की व्याख्या की जाती है—

समस्त जीव जिन भावों के द्वारा और जिन पर्यायो मे अनुमार्गण किये जाते है अर्थात् खोजे जाते है, उन्हे मार्गणा कहते है। जीवराशि अनन्त है। उन अनन्त जीवो मे जो जीव कर्म सहित होकर जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते है उन्हें संसारी और क

जीवों को मुक्त कहते है । इस प्रकार की भिन्नता होने पर भी समस्त जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावों और किसी न किसी अवस्था (पर्याय) में विद्यमान रहते है । यद्यपि मुक्त जीव वर्तमान मे पर्यायातीत हो चुके है, उनमे पर्यायजन्य किसी प्रकार का भेद नही है, इन्द्रिय, वेद आदि नहीं रहे है लेकिन भूतपूर्वप्रज्ञापन्न नय की अपेक्षा पर्याय का आरोप कर उनको भी पर्यायवान मान लिया जाता है ।

प्रस्तुत प्रसग मे संसारी जीवों का विवेचन मुख्य है। इसलिये गति, इन्द्रिय आदि—मार्गणा के चौदह भेद संसारी जीवो की अपेक्षा से किये गये है। मार्गणा के इन चौदह भेदों मे ससारी जीवों की समस्त पर्यायों और उनमे विद्यमान भावों का समावेश हो जाता है। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणा के लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

१ **गति**—गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय और जिससे जीव मनुष्य, तिर्यच, देव या नारक व्यवहार का अधिकारी कहलाता है, उसे गति कहते है। अथवा चार गतियों—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव मे गमन करने के कारण को गति कहते है ।[1]

२. **इन्द्रिय**—त्वचा, नेत्र आदि जिन साधनो से आत्मा को सर्दी-गर्मी, काले-पीले आदि विषयों का ज्ञान होता है, वे इन्द्रिय है। अथवा अपने-अपने विषय का ज्ञान करने मे अहमिन्द्रो के समान अपने को ही स्वामी—अधिकारी माने उन्हें इन्द्रिय कहते है। अथवा जो गूढ-सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में कारण है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

३. **काय**—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल स्कंधों से होती है और जो शरीर नामकर्म के

---

१ नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

उदय से निष्पन्न होता है, उसे कार्य कहते है ।[1] अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते है ।[2]

४. योग—वीर्य शक्ति के जिस परिस्पन्दन से—आत्मिक प्रदेशों की हलचल से—आत्मा की गमन, भोजन आदि क्रियाये होती है[3] और जो परिस्पन्दन शरीर, भाषा, मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, उसे योग कहते है । अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काययुक्त जीवो की जो कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते है ।[4]

५. वेद—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाये, उसे वेद कहते है ।[5] सयोगजन्य सुख के अनुभव की इच्छा वेद मोहनीयकर्म के उदय से होती है । अथवा वेद मोहनीयकर्म के उदय, उदीरणा से होने वाला जीव के परिणामों का संमोह (चचलता) जिससे गुण-दोष का विवेक नही रहता है, वह वेद है ।[6]

---

१ यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणागणैरुपचय नीयत इति कायः ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

२ जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ । —गो०जीवकांड १८१

३ युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति योग ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

४ पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारण जोगो ।।

—गो० जीवकांड, गा० २१६

५ वेद्यते—अनुभूयत इन्द्रियोद्भूतं सुखमनेनेति वेद. ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

६ वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज समोहो ।
समोहेण ण जाणदि जीवो हि गुण वा दोसं वा ।।

—गो० जीवकांड, गा०

६. **कषाय**—कषाय मोहनीयकर्म के उदयजन्य संसार वृद्धि के कारणरूप मानसिक विकारों को कषाय कहते है। किसी पर राग करना, किसी पर द्वेष करना आदि मानसिक विकार है। अथवा कषाय जीव के उस परिणाम को कहते है जिससे सुख-दु:ख रूप अनेक प्रकार के फल प्राप्त होते है और संसार रूप विस्तृत सीमा वाले कर्म रूप क्षेत्र का कर्षण किया जाता है।[१] अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकल-चारित्र और यथाख्यातचारित्र का घात करने वाले परिणाम को कषाय कहते है।[२]

७. **ज्ञान**—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु मे से उसके विशेष अंश को जानने वाले आत्मा के व्यापार को ज्ञान कहते है।[३] अथवा जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक—भूत, भविष्य और वर्तमान काल संबधी—समस्त द्रव्य और उनके गुणो और पर्यायों को जाने वह ज्ञान है।[४]

८. **संयम**—सावद्य योगों—पापजनक प्रवृत्तियों—से उपरत हो जाना, अलग हो जाना अथवा पापजनक व्यापार-आरम्भ, समारम्भ से आत्मा को जिसके द्वारा संयमित-नियमित किया जाता है, रोका जाता है, वह संयम कहलाता है।[५]

---

१ सुहदुक्खसु बहुसस्स कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स ।
ससारदूरमेरं तेण कसाओत्ति ण बेति ॥—गो० जीवकांड, गा० २८२

२ सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरण परिणामे ।
घादति वा कसाया.............. ....॥—गो० जीवकांड, गा० २८३

३ सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

४ जाणइ तिकाल विसए दव्व गुणे पज्जए य बहु भेदे ।
—गो० जीवकांड, गा० २८९

५ सयमन-सम्यगुपरमण सावद्ययोगादिति सयम यद्वा सयम्यते-नियम्यत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति सयम.।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

९. **दर्शन**—सामान्य-विशेषात्मक वस्तुस्वरूप में से वस्तु के सामान्य अंश को देखने वाले, जानने वाले चेतना के व्यापार को दर्शन कहते है।[1] अथवा सामान्य की मुख्यतापूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते है।[2]

१०. **लेश्या**—जिस परिणाम के द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ श्लेषण-चिपकना होता है उसे लेश्या कहते है।[3] अथवा जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध होता है वह लेश्या है।

११. **भव्यत्व**—मोक्ष पाने की योग्यता-प्राप्ति को भव्यत्व कहते है।[4]

१२. **सम्यक्त्व**—मोक्ष के अविरोधी आत्मा के परिणाम को सम्यक्त्व कहते है।[5] अर्थात् जीवादि पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित होकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रकार की श्रद्धा होने पर आत्मा की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता ये पॉच लक्षण प्राय· सम्यग्दृष्टि

---

१ दृश्यते-विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम् यदि वा दृष्टिर्दर्शनम्, सामान्य-विशेपात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको वोध इत्यर्थ.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

२ सामान्य प्रधानमुपसर्जनीकृत विशेषमर्थगृहण दर्शनमुच्यते।

—स्याद्वाद मंजरी, १।१०।२२

३ लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सहाऽत्माऽनयेति लेश्या।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

४ भवति—परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्य. सिद्धिगमनयोग्य.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

५ प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका,

जीव में पाये जाते है और अन्तर्मुखी परिणति होने से तत्त्व-चिन्तन में रुचि रहती है।

१३. **संज्ञित्व**—दीर्घकालिकी संज्ञा की प्राप्ति को सज्ञित्व कहते है।[1]

१४. आहारकत्व—ओज-आहार, लोम-आहार, कवलाहार में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है।[2]

औदारिक आदि तीन शरीर और आहार, शरीर आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते है अथवा उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण आहार कहलाता है।

आहार का लक्षण गो० जीवकांड मे इस प्रकार बतलाया है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥६६४॥

—शरीर नामकर्म के उदय से देह—औदारिक, वैक्रिय, आहारक इनमे से यथासम्भव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्यमन रूप

---

१ संज्ञान सज्ञा—भूतभवद्भाविभावस्वभाव पर्यालोचन सा विद्यते येपा ते सज्ञिनः। **—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७**

२ ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति—गृह्णातीत्याहारः। **—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२८**

ओज आहार आदि के लक्षण इस प्रकार है—

सरिरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा० ११८०

गर्भ मे उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणित रूप आहार कार्मण शरीर के द्वारा लिया जाता है वह ओज आहार, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह लोम और जो अन्न आदि खाद्य मुख द्वारा ग्रहण किया जाता है वह कवल-आहार है।

बनने के योग्य नोकर्मवर्गणाओ का जो ग्रहण होता है, उसको आहार[1] कहते हैं।

इन मार्गणाओ मे सम्पूर्ण ससारी जीवो का समावेश हो जाता है। मूल मे मार्गणाओ के चौदह भेद है, लेकिन ससारी जीवो मे विद्यमान विभिन्नताये अनेक प्रकार की है। कोई मनुष्य है तो कोई तिर्यंच (पशु) और कोई देव या नारक योनि का शरीर धारण किये हुए है। गति की अपेक्षा विद्यमान विभिन्नताओ की तरह इन्द्रिय, काय, ज्ञान आदि जन्य विभिन्नताये भी देखी जाती है। इसलिये उन अनेक प्रकार की विभिन्नताओ का समावेश करने एव बोध कराने के लिये प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेद कर लिये जाते है। गति आदि मार्गणाओ मे से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों के नाम आगे की गाथाओं मे कहते है।

गति, इन्द्रिय, काय और योग मार्गणा के भेद

सुरनरतिरिनिरयगइ इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०

शब्दार्थ—**सुर**—देव, **नर**—मनुष्य, **तिरि**—तिर्यंच, **निरय**—नरक, **गइ**—गति, **इग**—एक, **बिय**—दो, **तिय**—तीन, **चउ**—चार, **पण**—पॉच, **इंदि**—इन्द्रिय, **छक्काया**—छह काय, **भू**—पृथ्वी, **जल**—पानी, **जलण**—अग्नि (तेउ), **अनिल**—वायु, **वण**—वनस्पति, **तसा**—त्रस, **य**—और, **मण**—मन, **वयण**—वचन, **तणु**—काय (शरीर), **जोगा**—योग।

---

१ दिगम्बर साहित्य मे आहार के छह भेद किए हुए मिलते हे—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

—**प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय परिच्छेद**

नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार, यह आहार के क्रमशः छह भेद होते है।

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक यह चार गतियाँ हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियाँ है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय ये छह काय है। मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन योग है।

विशेषार्थ—गाथा मे गति आदि चौदह मार्गणाओं में से गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओं के अवान्तर (उत्तर) भेदो के नाम क्रमशः बतलाये है। उनके नाम इस प्रकार है—

गति मार्गणा के भेद

'सुरनरतिरिनिरयगइ' इस पद मे गति मार्गणा के भेदों के नाम बतलाये है कि (१) देवगति, (२) मनुष्यगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नरकगति, यह गति मार्गणा के चार भेद है। देवगति आदि के लक्षण इस प्रकार है—

१. **देवगति**—आभ्यन्तर कारण—देवगति नामकर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप, समुद्रादि अनेक स्थानो पर इच्छानुसार क्रीड़ा करते है, विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते है, दिव्य वस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा अपने शरीर की साहजिक काति से जो दीप्तमान रहते है, वे देव कहलाते है तथा देवगति नामकर्म के उदय से होने वाली पर्याय (शरीर का विशिष्ट आकार) जिससे 'यह देव है' ऐसा व्यवहार किया जाता है, उसे देवगति कहते है।

२. **मनुष्यगति**—जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करते है, कार्य करने मे निपुण है, उत्कृष्ट मन के धारक है, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करने वाले है वे मनुष्य है और 'यह मनुष्य

है' इस प्रकार का व्यवहार कराने वाली मनुष्यगति नामकर्म की उदयजन्य पर्याय को मनुष्यगति कहते है।

३. **तिर्यंचगति**—जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त है, जिनकी आहारादि सज्ञाये सुव्यक्त है, निकृष्ट अज्ञानी है, तिरछे गमन करते है और जिनके अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है उनको तिर्यंच कहते है। तिर्यचगति नामकर्म के उदय से होने वाली जिस पर्याय से जीव तिर्यंच कहलाता है, उसे तिर्यचगति कहते है। उपपाद जन्म वालों और मनुष्यो को छोडकर शेष सब जीव तिर्यचगति वाले होते है।

४. **नरकगति**—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे तथा परस्पर मे रत नही है अर्थात् प्रीति नहीं रखते है, सदैव हिसादि कार्यो मे निरत—लगे रहते है, जीवों को सदैव कष्ट पहुँचाते रहते है, उन्हें नारक कहते है तथा नरकगति नामकर्म के उदय से जिस पर्याय को प्राप्त कर जीव 'नारक' कहलाता है, उसे नरकगति कहते है।

इन्द्रिय मार्गणा के भेद

गाथा मे 'इगवियतियचउपणिदि' पद से इन्द्रिय मार्गणा के पाँच भेदो के नाम बतलाये है। उक्त पाँच भेदों के नाम इस प्रकार है--

(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पचेन्द्रिय।

१. **एकेन्द्रिय**—जिन जीवो के एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है और सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय पाई जाती है उन्हे एकेन्द्रिय कहते है।

२. **द्वीन्द्रिय**—जिन जीवो के स्पर्शन और रसन यह दो इन्द्रियाँ है तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय है, उन जीवो को द्वीन्द्रिय कहते हैं।

३. **त्रीन्द्रिय**—जिस जाति में त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से स्पर्शन, रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ हों उसे त्रीन्द्रिय कहते है।

४. **चतुरिन्द्रिय**—चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु यह चार इन्द्रियाँ होती है वे जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते है।

५. **पंचेन्द्रिय**—पचेन्द्रिय जीवो के स्पर्शन,रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँच इन्द्रियाँ होती है और इन पाँच इन्द्रियो के होने मे निमित्त पचेन्द्रिय जाति नामकर्म है।

काय मार्गणा के भेद

काय मार्गणा के छह भेद होते है—इसका सकेत गाथा मे 'छक्काया' पद से किया गया है और उन छह भेदों के नाम 'भूजल-जलणाऽनिलवणतसा' पद में गिनाये है कि—

(१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) अग्निकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय, यह कायमार्गणा के छह भेद है।

१. **पृथ्वीकाय**—पृथ्वी से बनने वाले पार्थिव शरीर को पृथ्वीकाय कहते है।

२. **जलकाय**—जलीय शरीर जो जल परमाणुओ से बनता है।

३. **अग्निकाय**—इसको तेजस्काय भी कहते है। इन जीवो का शरीर तेज परमाणुओ से बनता है।

४. **वायुकाय**—वायु से बनने वाले वायवीय शरीर को वायुकाय कहते है।

५. **वनस्पतिकाय**—जिन जीवो का शरीर वनस्पतिमय होता है, वह वनस्पतिकाय है।

पृथ्वी आदि का शरीर नामकर्म के उदय से स्व-योग्य रूप, रस,

गध और स्पर्श से युक्त पृथ्वी आदि में ही बनता है। ये पाँचो काय स्थावर नामकर्म वाले होते है।

६. **त्रसकाय**—जो शरीर चल-फिर सकता है और जो त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है, उसे त्रसकाय कहते है।

द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस नामकर्म का उदय होता है और वे अपने-अपने प्राप्त शरीर से चल-फिर सकते है। हिताहित के लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप क्रिया भी कर सकते है। पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त के जीव स्थावर कहलाते है।

योग मार्गणा के भेद

काय मार्गणा के पश्चात् योग मार्गणा का क्रम है। उसके 'मण-वयणतणुजोगा' मनोयोग, वचनयोग और काययोग यह तीन भेद होते है। योग का स्वरूप पहले बतला चुके है कि मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले परिस्पन्दन को योग कहते है। मनोयोग आदि के लक्षण नीचे बतलाते है।

१. **मनोयोग**—जीव के उस व्यापार को मनोयोग कहते है जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए मन-प्रयोग्य वर्गणा की सहायता से होता है। अथवा काययोग के द्वारा मन:प्रयोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग से मन रूप परिणत हुए वस्तुविचारात्मक द्रव्य को मन[1] कहते है और उस मन के सह-कारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते है।[2] अथवा जिस योग का

---

१ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतानुसार द्रव्यमन को शरीरव्यापी और शरीरा-कार समझना चाहिये। दिगम्बर सम्प्रदाय मे द्रव्यमन का स्थान हृदय और आकार कमल जैसा माना है।

२ तनुयोगेन मन.प्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि वस्तुचिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारिकारण-भूतेन योगो मनोयोग। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२८

विषय मन है उसे मनोयोग कहते है। अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलंबन से जीव का जो संकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है।[1]

२. **वचनयोग**—जीव के उस व्यापार को वचनयोग कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा संचय किये हुए भाषा द्रव्य की सहायता से होता है। अथवा भाषा-परिणामरूपता को प्राप्त हुए पुद्‌गलसमूह को वचन कहते है और उस सहकारी कारणभूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचनयोग कहते है[2] या वचन को विषय करने वाले योग को वचनयोग कहते है। अथवा भाषा-वर्गणा संबधी पुद्‌गल स्कधों के अवलम्बन से जो जीव-प्रदेशों का सकोच-विकोच होता है उसे वचनयोग कहते है।[3]

३. **काययोग**—शरीरधारी आतमा की शक्ति के व्यापार-विशेष को काययोग कहते है। अथवा जिसमें आत्म-प्रदेशों का सकोच-विस्तार हो, उसे तनु—शरीर, काय कहते है और उसके द्वारा होने वाले योग को काययोग कहते है। अथवा औदारिकादि सात प्रकार के कायो मे जो अन्वयरूप से रहता है उसे सामान्य काय कहते है और उस काय से उत्पन्न हुए आत्म-प्रदेशपरिस्पन्द लक्षण वीर्य (शक्ति) के द्वारा जो योग होता है वह काययोग है।

---

१ मणवग्गणादोणिप्पण्णदव्वमणमवलविय जो जीवस्स सकोचविकाचो सो मणजोगो। —धवला टीका ७।२, १, ३३।७६।६

२ उच्यत इति वचन भाषापरिणामापन्न. पुद्‌गलद्रव्यसमूह इत्यर्थ', तेन वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोग:।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२८

३ भासावग्गणा पोग्गलखधे अवलविय जीवपदेसाण सकोचविकाचो सो वचिजोगोणाम। —धवला ७।२, १, ३३।७६।७

तत्त्वार्थराजवार्तिक मे मन, वचन और काय इन तीनो योगों की बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखाकर बहुत ही स्पष्ट व्याख्या की गई है। जो इस प्रकार है—

मनोयोग—वाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होने वाला जो मनन के अभिमुख आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द, वह मनोयोग है। इसका वाह्य कारण मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम है।

वचनयोग—वाह्य और आभ्यन्तर कारणजन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रदेशपरिस्पन्द वचनयोग है। इसका वाह्य कारण पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होने वाला वचन वर्गणा का अवलम्बन और अन्तरग कारण वीर्यान्तराय कर्म तथा मतिज्ञानावरण और अक्षर श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है।

काययोग—बाह्य और आभ्यन्तर कारणजन्य आत्मा का गमनादिक सम्वन्धी प्रदेशपरिस्पन्द काययोग है। इसका बाह्य कारण औदारिक आदि किसी न किसी प्रकार की शरीर वर्गणा का आलम्बन और अंतरग कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।[1]

---

१ पुद्गलविपाकिन. शरीरनामकर्मण उदयापादिते कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालवने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरण क्षयोपशमापादिताभ्यतरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुख्यस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः॥

आभ्यन्तर वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशममात्मकमन उपलब्धि सन्निधाने पूर्वोक्त वाह्यनिमित्तालम्वने च सति मनः परिणामाभिमुखस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोग.।

वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे च औदारिकादि मप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्वऽनापेक्षात्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोग·।

—तत्त्वार्थसूत्र ६।१ तत्व °र ॰ ॥

मनोयोग, वचनयोग और काययोग के उक्त लक्षणों के आधार पर जिज्ञासु तर्क करता है कि मनोयोग और वचनयोग यह दोनों काय-योग ही है, क्योंकि इन दोनों योगों के समय शरीर का व्यापार अवश्य रहता है तथा इन दोनों योगों के अवलंबनभूत मनोद्रव्य तथा भाषा-द्रव्य का ग्रहण भी किसी न किसी प्रकार के शारीरिक योग से ही होता है।

जिज्ञासु के उक्त तर्क का समाधान यह है कि मनोयोग और वचनयोग काययोग से पृथक् नही है किन्तु काययोगविशेष है। मनोयोग और वचनयोग के व्यापार में काययोग सहकारी कारण है, क्योंकि जो काययोग मनन करने में सहायक होता है वही उस समय मनोयोग माना जाता है और जो काययोग भाषा बोलने में सहकारी होता है वह उस समय वचनयोग कहलाता है। इसका सारांश यह है कि मुख्यता काययोग की है किन्तु काययोग की सहायता से होने वाले भिन्न-भिन्न व्यापार को व्यवहार के लिये काययोग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग यह तीन भेद किये जाते है।

उक्त समाधान पर पुनः प्रश्न होता है कि जैसे मनन करने मे, वचन बोलने में सहायक काययोग को मनोयोग और वचनयोग कहा जाता है, वैसे ही श्वासोच्छ्वास मे सहायक होने वाले काययोग को श्वासोच्छ्वासयोग कहना चाहिए और तब तीन की बजाय चार योग मानना चाहिये। इस प्रश्न का यह समाधान है कि व्यवहार मे मन और भाषा का जैसा विशिष्ट प्रयोजन दिखता है वैसा श्वासोच्छ्वास का नही। यानी—शरीर, मन, वचन का प्रयोजन जैसा भिन्न और विशिष्ट है वैसा श्वासोच्छ्वास और शरीर का प्रयोजन भिन्न नही है। इसीलिये तीन ही योग माने जाते है।

इस प्रकार से गति से लेकर योग मार्गणा तक के अवान्तर भेदों के नामो को बतलाकर अब आगे की गाथा मे वेद, कषाय और ज्ञान मार्गणाओं के भेदों को कहते है।

वेद, कषाय और ज्ञान मार्गणा के भेद

वेय नरित्थिनपुंसा कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुअनाण सागारा ॥११॥

शब्दार्थ—**वेय**—वेद, **नरित्थिनपुंसा**—पुरुष, स्त्री, नपुसक, **कसाय**—कषाय, **कोह**—क्रोध, **मय**—मान, **माय**—माया, **लोभ**—लोभ, **त्ति**—इस प्रकार, **मइसुयऽवहिमणकेवल**—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल, **विभंग**—विभग (कुअवधि), **मइसुअनाण**—मति, श्रुत अज्ञान, **सागारा**—साकार उपयोग।

गाथार्थ—पुरुष, स्त्री और नपुसक ये तीन वेद है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के चार भेद है। मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवलज्ञान तथा विभगज्ञान, मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान यह आठ भेद ज्ञान के है।

विशेषार्थ—गाथा मे वेद मार्गणा के तीन, कषाय मार्गणा के चार और ज्ञान मार्गणा के आठ भेदो के नाम वतलाये है। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

वेद मार्गणा के तीन भेद—(१) पुरुषवेद, (२) स्त्रीवेद, (३) नपुसकवेद।

कषाय मार्गणा के चार भेद—(१) क्रोध कपाय, (२) मान कपाय, (३) माया कषाय और (४) लोभ कपाय।

ज्ञान मार्गणा के आठ भेद—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) मतिअज्ञान, (७) श्रुतअज्ञान, (८) अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान)। इन वेद आदि मार्गणाओ के भेदो के लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

वेद मार्गणा के भेद

१ **पुरुषवेद**—स्त्री के ससर्ग की इच्छा को पुरुषवेद कहते है।[1]

---

१ नरस्य—पुरुषस्य स्त्रिय प्रति अभिलापो नरवेद.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२९

२. स्त्रीवेद—पुरुष के ससर्ग की इच्छा को स्त्रीवेद कहते है।[1]

३. नपुंसकवेद—स्त्री-पुरुष दोनो के संसर्ग की इच्छा नपुसक वेद है।[2]

वेद के दो प्रकार है—(१) द्रव्यवेद, (२) भाववेद। द्रव्यवेद का निर्णय शरीर के बाह्य चिह्नो से किया जाता है—जैसे पुरुष के चिह्न दाढी, मूछ आदि, स्त्री के चिह्न दाढी, मूछ का अभाव और स्तन आदि का सद्भाव और नपुसक मे स्त्री व पुरुष दोनो के कुछ चिह्न होते है। द्रव्यवेद के चिह्नों का निर्माण शरीर और अंगोपाग नामकर्म के द्वारा होता है। भाववेद मोहनीय कर्म के भेद वेद नोकषाय मोहनीय कर्म-जन्य है। ऊपर जो पुरुषवेद आदि के लक्षण कहे गये है वे भाववेद की मुख्यता से बतलाये है। द्रव्य और भाव वेद प्राय समान होता है परन्तु कही-कही विषमता भी पाई जाती है। यानी बाह्य शरीर, आकृति और चिह्न पुरुष के है लेकिन भाव स्त्री या नपुसक जैसे होते है।

द्रव्य और भाव वेद सयुक्त पुरुष, स्त्री, नपुसक वेद की व्याख्या प्रज्ञापना भाषा पद की टीका मे इस प्रकार की गई है—

> 'योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ।
> पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते॥
> मेहनं खरता दार्ढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता।
> स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते॥
> स्तनादिश्मश्रुकेशादि भावाभावसमन्वितम्।
> नपुंसकं बुधा प्राहुर्मोहानलसुदीपितम्॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक का निरुक्तिसिद्ध अर्थ गो० जीवकाड मे इस प्रकार बताया है—

---

१ स्त्रियः—योषित पुरुष प्रत्यभिलाप. स्त्रीवेद'।

२ नपुसकस्य—पण्ढस्य स्त्रीपुरुषौ प्रत्यभिलापो नपुसकवेद ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२६

पुरुगुणभोगेसेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरुसो ॥२७३॥

उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो अथवा जो लोक मे उत्कृष्ट गुण युक्त कार्य करे या जो स्वय उत्तम हो उसको पुरुष कहते है ।

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥२७४॥

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम आदि दोपो से स्वय को आच्छादित करे तथा अपने शरीर-व्यापार आदि से दूसरो (पुरुषों) को भी हिंसा आदि दोषों से आच्छादित करे, उसको आच्छादन स्वभाव-युक्त होने से स्त्री कहते है।

स्त्री शब्द की उक्त निरुक्ति द्वारा मुख्यतया प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ का बोध कराया है। क्योंकि तीर्थकरो की माता या सम्यक्त्व आदि गुणो से युक्त दूसरी स्त्रियाँ अपने को तथा दूसरो को दोषो से आच्छादित नही करती है। उनमे स्त्री का लक्षण घटित नही होता है। वहुलता की अपेक्षा स्त्री शब्द का उक्त अर्थ किया जाता है।

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुस चित्तो ॥२७५॥

जो न स्त्री हो और न पुरुप हो ऐसे दोनों के लिगो से रहित जीव को नपुसक कहते है। इसकी अवा (भट्टे) मे पकती हुई ईट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है।

कषाय मार्गणा के भेद[1]

कषाय मार्गणा के कापायिक शक्ति के तीव्र-मंद आदि भावो

---

1 कापायिक शक्ति के तीव्र-मद-भाव की अपेक्षा क्रोध आदि कपायो के

अपेक्षा होने वाले अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण आदि चार प्रकारो को न करके जाति की अपेक्षा बनने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार भेद किये गये है जिनके लक्षण इस प्रकार है—

१. क्रोध—अंतरंग में परम उपशम रूप अनंत गुण वाली आत्मा में क्षोभ तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आवेश रूप विकार उत्पन्न होने को क्रोध कहते है अथवा अपने और पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला क्रूर परिणाम क्रोध कहलाता है।

क्रोध, रोष, संरम्भ यह तीनों समानार्थवाची है। इनके अर्थ में कोई अन्तर नही है।

२. मान—जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे-बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति, कुल, तप आदि के अहंकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते है।

मान, गर्व, स्तब्धत्व ये एकार्थवाची शब्द है।

३. माया—आत्मा के कुटिल भाव को माया कहते हैं। दूसरे को ठगने के लिये जो कुटिलता या छल आदि किये जाते है, अपने हृदय के विचारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती है, वह माया है।

४. लोभ—धन आदि की तीव्र आकाक्षा या गृद्धि को, बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुराग वुद्धि को लोभ कहते है।

चार भेद कर्मग्रन्थ और गो० जीवकाड (दिगम्बर ग्रन्थ मे) समान है किन्तु गो० जीवकाड मे लेश्या और आयु वन्धावध की अपेक्षा क्रमश. चौदह-चौदह और वीस-वीस भेद भी वतलाये है। उन भेदो का वर्णन परिशिष्ट मे किया गया है। श्वेताम्बरीय ग्रन्थो मे इनका वर्णन देखने मे नही आया है।

ज्ञान मार्गणा के भेद

ज्ञान मार्गणा के मतिज्ञान आदि विभगज्ञान पर्यन्त आठ भेद होते है। इन भेदों में मतिज्ञान आदि केवलज्ञान पर्यन्त पॉच सम्यक्ज्ञानों के साथ उनके प्रतिपक्षी कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभगज्ञान) इन तीन अज्ञानों को इसलिये ग्रहण किया जाता है कि ये भी ज्ञान की एक अवस्था विशेष है तथा मिथ्यात्व सहित होने से इनके द्वारा पदार्थ का सम्यक्ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान रूप कार्य होता है। मतिज्ञान आदि के लक्षण इस प्रकार है—

१. **मतिज्ञान**—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य स्थान मे अवस्थित वस्तु के होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते है।[1] अधिकतर यह ज्ञान वर्तमान कालिक विषयों को जानता है।

२. **श्रुतज्ञान**—जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिसमे शब्द और अर्थ का सम्वन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के वाद होता है तथा शब्द व अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है उसे श्रुतज्ञान कहते है।[2] जैसे जल शब्द सुनकर यह जानना कि यह शब्द पानी का बोधक है अथवा पानी को देखकर यह विचारना कि यह जल शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार से उसके वारे मे अन्य-अन्य वातो का विचार करना श्रुतज्ञान कहलाता है।

३. **अवधिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न कर साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक

---

१ मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियत वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२९

२ श्रवण श्रुतम्—शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १

पदार्थ का ग्रहण करना अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा रूपी पदार्थो को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते है।[1]

४. **मनपर्यायज्ञान**—मन की पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को मनपर्यायज्ञान कहते हैं। अथवा संज्ञी जीवों की मन की पर्यायों—चितनगत परिणामों को जानना मनपर्याय ज्ञान कहलाता है।[2] इस ज्ञान के होने मे इन्द्रिय और मन की सहायता की नही किन्तु आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

५. **केवलज्ञान**—ज्ञानावरण कर्म का नि:शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ जानी जाती है उसे केवलज्ञान कहते है।[3] यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाती, असाधारण, अनन्त, स्वतत्र और अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय छाद्मस्थिक ज्ञानों के क्षय होने पर होती है। इसीलिये इस ज्ञान को केवल, एक, असहायी ज्ञान कहते है।[4]

---

१ अवधानमवधि.—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन: साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा अवधि:—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि·, अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२९**

२ परि—सर्वतोभावे अवनमव·, अवन गमन वेदनमिति पर्याया:। मनसि मनसो वा पर्यवो मन.पर्यव: सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ·, मन पर्यवश्च तद् ज्ञान च मन:पर्यव ज्ञानम्। यद्वा मन.पर्यायज्ञानम्·· तेषा (सज्ञि जीवानाम्) मनसा पर्याया:—चिन्तनानुता. परिणामा—मन:पर्याया: तेषु तेषा व संवन्धि ज्ञान मन पर्याय ज्ञानम्। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२९**

३ शुद्ध वा केवल तदावरणमलकलकपकापगमात्······ यथावस्थित समस्त भूतभवद्भाविभावावभासि ज्ञानमिति।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका: पृ० १२९**

४ केवल—एक मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'

—**आवश्यक निर्युक्ति, गा० ५३९**

६. **मतिअज्ञान**—मिथ्यादर्शन के उदय से होने वाले विपरीत मति उपयोग को मति-अज्ञान कहते है। जैसे घट आदि को एकात सद्‌रूप या असद् रूप ही मानना।

७. **श्रुतअज्ञान**—मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को श्रुत-अज्ञान कहते है। चौरशास्त्र, हिसाशास्त्र आदि हिसादि पाप कर्मो के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रथ कुश्रुत और उनका ज्ञान श्रुत-अज्ञान कहलाता है।

८. **अवधि-अज्ञान**—इसको विभगज्ञान भी कहते है। मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थो के विपरीत अवधिज्ञान को अवधिअज्ञान (विभगज्ञान) कहते है।[1]

मति, श्रुत और अवधि इन तीन के मिथ्यारूप भी होने का कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है तब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का वोध नही हो पाता है तथा वस्तु स्वरूप का विपरीत या निरपेक्ष ज्ञान होता है और अवस्तु मे वस्तु तथा वस्तु मे अवस्तु रूप बुद्धि होती है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते है, क्योकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से देखता है और उसका ज्ञान हेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है। लेकिन मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार मे समीचीन होने पर भी प्रत्येक वस्तु को एकात दृष्टि से जानने वाला होता है। उसके ज्ञान मे हेय-उपादेय का विवेक नही होता है।

मनपर्याय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्‌भाव मे ही होते है। इसलिये यह दोनों अज्ञान रूप नही है।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार इसलिये कहलाते है कि ये वस्तु के प्रतिनियत आकार को ग्रहण करने वाले है। यानी

---

१ वि—विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भग. विपर्यय. इति विभग ॥

ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभयरूप है। उनमें ज्ञान के द्वारा विशेषरूप (विशेष आकार) जाना जाता है।

इस गाथा में वेद, कषाय और ज्ञान मार्गणा के भेदो का निरूपण करने के पश्चात आगे की गाथा में संयम और दर्शन मार्गणा के भेदों की संख्या बतलाते है।

संयम और दर्शन मार्गणा के भेद

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया।
चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसण अणागारा ॥१२॥

शब्दार्थ—**सामइय**—सामायिक, **छेय**—छेदोपस्थापनीय, **परिहार**—परिहारविशुद्धि, **सुहुम**—सूक्ष्मसपराय, **अहखाय**—यथाख्यात, **देसजय**—देशविरति, **अजया**—अविरति, **चक्खु**—चक्षुदर्शन, **अचक्खू**—अचक्षुदर्शन, **ओही**—अवधिदर्शन, **केवलदंसण**—केवलदर्शन, **अणागारा**—अनाकारोपयोग।

गाथार्थ—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात, देशविरति, और अविरति यह सयम के सात भेद है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन; अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार अनाकार उपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा के पहले चरण मे सयम मार्गणा के सामायिक आदि सात भेदों के नाम तथा दूसरे चरण मे चक्षुदर्शन आदि दर्शन मार्गणा के चार भेदो के नाम बतलाये है।

संयम मार्गणा के भेद

संयम मार्गणा के सात भेद है। जिनके नाम इस प्रकार है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म-सपराय, (५) यथाख्यात, (६) देशविरति, (७) अविरति।

१. **सामायिक**—रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते है और जिस सयम से समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक सयम कहलाता

है ।[1] अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते है और उनकी आय—लाभ-प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहते है ।[2]

सामायिक के दो भेद है—१ इत्वर, २. यावत्कथित। इत्वर सामायिक वह है जो अभ्यासार्थी शिष्यो को स्थिरता प्राप्त करने के लिए पहले-पहल दिया जाता है और जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त—वडी दीक्षा लेने तक—मानी जाती है। यह सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करने वालों को प्रतिक्रमण सहित अहिसा, सत्य आदि पॉच महाव्रत अंगीकार करने पड़ते है तथा इसके स्वामी स्थितकल्पी[3] होते है।

यावत्कथित सामायिक सयम वह है जो ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। यह सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र में मध्यवर्ती दो से लेकर तेईस तीर्थंकर पर्यन्त बाईस तीर्थंकरो के शासन मे ग्रहण किया जाता है। इस सयम को धारण करने वालो के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

२ **छेदोपस्थापनीय सयम**—पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर से

---

१ सम. रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभ. प्राप्तिरिति पर्याया, समस्य आय. समाय समाय एव सामायिक।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०

२ समाना—ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय —लाभ· समाय. समाय एव सामायिक।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०

३ आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा—इन दश कल्पो मे जो स्थित है वे स्थितकल्पी और शय्यातरपिण्ड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चार नियमो से स्थित तथा शेष छह कल्पो मे जो अस्थित होते है वे स्थितास्थितकल्पी कहलाते है। **—आवश्यक हरिभद्री वृत्ति पृ० ७९०**

उपस्थापन (व्रतारोपण) करना छेदोपस्थापनीय संयम कहलाता है।[1] इसका आशय यह है कि पहले जितने समय तक संयम का पालन किया हो उतने समय को व्यवहार में न गिनकर दुबारा सयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़े का व्यवहार करना छेदोपस्थापनीय सयम है। इसके (१) सातिचार और (२) निरतिचार यह दो भेद होते है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय सयम उसे कहते है जो किसी कारण से मूलगुणों—महाव्रतों का भग हो जाने पर फिर से ग्रहण किया जाता है।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय सयम उसको कहते है जिसको इत्वर सामायिक संयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते है। यह सयम भरत, ऐरावत क्षेत्र मे प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधुओं को होता है और एक तीर्थ के साधु जब दूसरे तीर्थ में सम्मिलित होते हैं तब ग्रहण करते है। जैसे कि पार्श्वनाथ के केशी आदि श्रमण जब भगवान महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हुए थे तब पुनर्दीक्षा रूप मे इसी संयम को ग्रहण किया था। यह छेदोपस्थापनीय सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही होता है।

३. परिहारविशुद्धि संयम—परिहार का अर्थ है तपोविशेप और उस तपोविशेष से जिस चारित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है उसे परिहारविशुद्धि सयम कहते है।[2] अर्थात् जिसमे परिहारविशुद्धि

---

१ तत्र पूर्वपर्यायस्य छेदेनोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपण यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०

२ परिहरण परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३१

नामक तपस्या की जाती है वह परिहारविशुद्धि सयम कहलाता है। इसके दो भेद है—

(१) निर्विश्यमान, (२) निर्विष्टकायिक।

परिहारविशुद्धि सयम को धारण करने वाले निर्विश्यमान और उस सयम के धारकों की सेवा करने वाले निर्विष्टकायिक कहलाते है।

परिहारविशुद्धि तपस्या का विधान संक्षेप मे इस प्रकार है[1]—

नौ साधुओ का गण (समुदाय) होता है। जिसमे से चार इस तप का आचरण करने वाले तथा शेष रहे पॉच मे से चार उनके परिचारक और एक वाचनाचार्य बनते है। तपस्या करने वाले ग्रीष्मकाल मे जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास तथा शीतकाल मे जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास तथा वर्षा ऋतु मे जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पॉच उपवास करते है। यह क्रम छह मास तक चलता है और पारणे के दिन अभिग्रह सहित 'आयविल व्रत'[2] करते है। परिचारक पद ग्रहण करने वाले सदा आयंविल ही करते है।

दूसरे छह महीनो मे तपस्या करने वाले तो परिचारक वनते है और परिचारक तपस्वी। ये भी पूर्व तपस्वियो की तरह तपाचरण करते है।

---

१ इस तपस्या की विधि प्रवचनसारोद्धार गाथा ६०२ से ६०६ मे वतलाई है। परिहारविशुद्धि सयम के धारक आदि का विशद वर्णन चतुर्थ कर्म-ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका पृ० १३२–१३७ मे किया गया है। सक्षिप्त विवरण परिशिष्ट मे देखिए।

२ आयविल एक प्रकार का व्रत है, जिसमे विगय—घी, दूध आदि रस छोड़ कर केवल दिन मे एक वार अन्न खाया जाता है तथा गरम किया हुआ (प्रासुक) पानी पिया जाता है। —आवश्यक निर्युक्ति, गा० १६०३-५

दूसरे छह माह के बाद तीसरे छह माह के लिये वाचनाचार्य ही तपस्वी बनते है और शेष आठ साधुओं मे से सात परिचारक और एक वाचनाचार्य बनते है। इस प्रकार तीसरे छह माह पूर्ण होने के बाद अठारह माह की यह परिहारविशुद्धि तपस्या[1] पूर्ण होती है।

---

१ इस सयम का अधिकारी बनने के लिये गृहस्थ पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधु पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० वर्ष और दोनो का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष माना है—

एयस्स एस नेओ गिहिपरियाओ जहन्नि गुणतीसा।
जइपरियाओ वीसा दोसु वि उक्कोस देसूणा।

—पंचवस्तुक, गा० १४९४

इस सयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होता है। श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे मे लिखा है कि इसका ग्रहण तीर्थंकर या तीर्थंकर के अन्तेवासी के पास होता है। इस सयम के धारक मुनि दिन के तीसरे पहर मे भिक्षा व विहार कर सकते है और अन्य समय मे ध्यान, कायोत्सर्ग आदि।

दिगम्बर साहित्य मे इसके बारे मे थोडा-सा मतभेद है। उसमे तीस वर्ष की उम्र वाले को इस सयम का अधिकारी माना है और नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक बताया है। तीर्थंकर के सिवाय और किसी के पास इस सयम को ग्रहण करने की मनाई की है तथा तीन सध्याओ को छोडकर दिन के किसी भाग मे दो कोस जाने की सम्मति दी है—

तीस वासो जम्मे वासुपुधत्त खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाण पढिदो सझूण दुगाउय विहारो॥

—गो० जीवकाण्ड, गा० ४७३

जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुन. दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व का अध्ययन करने वाले जीव को यह सयम होता है। इस सयम वाला तीन सध्याकालो को छोड कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है।

इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते है अथवा अपने पूर्व के गच्छ में लौट जाते है या पुनः वैसी ही तपस्या प्रारम्भ कर देते हैं।

४. **सूक्ष्मसम्पराय संयम**—जिन क्रोधादि कषायों द्वारा संसार में परिभ्रमण होता है, उनको संपराय कहते है। जिस संयम मे संपराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति स्वल्प) रहता है, वह सूक्ष्म संपराय सयम है।[1] इसमे लोभ कषाय का उदयमात्र होता है और यह सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान मे होता है। (१) संक्लिश्यमानक और (२) विशुद्ध्यमानक—सूक्ष्म सपराय संयम के दो भेद है।[2] उपशम-श्रेणि से गिरने वालों को दसवे गुणस्थान की प्राप्ति के समय होने वाला सयम 'सक्लिश्यमानक सूक्ष्मसंपराय सयम' है। क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम सक्लेश प्रधान ही होते जाते है। लेकिन 'विशुद्ध्यमानक सूक्ष्मसपराय सयम' उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वालों को दसवें गुणस्थान मे होता है। क्योंकि श्रेणि आरोहण के समय के परिणाम विशुद्धि प्रधान ही होते है।

५. **यथाख्यात संयम**—जिस संयम मे कषाय का उदय लेशमात्र भी नही है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था रूप जो वीतराग संयम होता है उसे यथाख्यात सयम कहते है।[3] इसके छाद्मस्थिक और अछाद्मस्थिक

---

१ सम्परैति—पर्यटति ससारमनेनेति सपराय -क्रोधादि कषाय , सूक्ष्मो लोभांश-मात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७

२ इदमपि सक्लिश्यमानकविशुद्ध्यमानकभेद द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यव-मानस्य सक्लिश्यमानकम्, श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकमिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७

३ उवसते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छदुमत्थो व जिणो वा अहखाओ सजओ साहू॥ —पंचसंग्रह १।१३३

(केवली) यह दो भेद है। यथाख्यात सयम के इन दो भेदों का कारण मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय तथा चारो घाति कर्मो का क्षय होकर आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होने रूप दशा की प्राप्ति होना है।

छाद्मस्थिक यथाख्यात सयम उसे कहते है जो ग्यारहवें और वारहवे गुणस्थान वालों को होता है। ग्यारहवे गुणस्थानों मे तो मोहनीय कर्म (कषायों) का उपशम हो जाने से उदय नही रहता है, उसकी सत्ता मात्र रहती है, किन्तु वारहवें गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से कषायों की सत्ता भी नही रहती है। ग्यारहवे, बारहवें गुणस्थान मे यद्यपि मोहनीय कर्म नही है किन्तु अन्य छद्मो (घातिकर्मो) के रहने से इन दोनो गुणस्थानवर्ती जीवों के चारित्र को छाद्मस्थिक यथाख्यात संयम कहते है।

अछाद्मस्थिक यथाख्यात संयम केवलियों को होता है। क्योंकि केवली को छद्मों (चार घातिकर्मो) का सर्वथा क्षय हो जाने से अछाद्मस्थिक दशा की प्राप्ति हो जाती है। केवली के दो भेद हैं—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। अत: इस अछाद्मस्थिक यथाख्यात सयम के भी सयोगिकेवली यथाख्यात और अयोगिकेवली यथाख्यात यह दो भेद हो जाते है। सयोगिकेवली के संयम को सयोगि-केवली यथाख्यात और अयोगि-केवली के सयम को अयोगि-केवली यथाख्यात कहते है।

६. **देशविरति संयम**—कर्मबंधजनक आरभ-समारंभ से आंशिक निवृत्त होना, निरपराध त्रस जीवों की संकलपपूर्वक हिसा न करना देशविरति संयम कहलाता है।[1] इसके अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) है।

---

१ देशे—सकल्पनिरपराध त्रसवध विपये यतं—यमन सयमो यस्य स देशयतः, सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थ.।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७**

सावद्य योगो से पूर्णतया निवृत्त होना अथवा पापरूप व्यापार—आरभ-समारभ से आत्मा को नियत्रित करना, रोकना अथवा पच महाव्रतो जो यम कहलाते है, का पालन करना सयम कहलाता है। मुनि तो सावद्य योगो से पूर्णतया निवृत्त और अहिसा आदि पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले होने से सव प्रकार की हिसा आदि से मुक्त है किन्तु श्रावक मर्यादा सहित संयम का पालन करने वाले, अहिसा अणुव्रत आदि श्रावक के बारह व्रतों के धारक होने से आंशिक त्यागी, देशविरति सयमी कहलाते है।

सयम पालन की इस मर्यादा-भिन्नता के कारण मुनि की अहिंसा (जीवदया) परिपूर्ण कही जाती है किन्तु श्रावक की नही। क्योंकि समर्यादित व्रतों का पालन करने वाले होने से श्रावक की अहिसा का प्रमाण आशिक (वहुत कम) होता है। यदि मुनियों की अहिसा वीस विस्वा माने तो श्रावक की सवा बिस्वा होती है।

इस वात को शास्त्रो मे स्पष्ट करते हुए कहा है—साधु सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के जीवों की हिसा नही करते है किन्तु श्रावको के सूक्ष्म जीवो की अहिसा—दया का पालन नही कर पाने से मुनियों की वीस विस्वा अहिसा की अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है यानी श्रावक की अहिसा दस विस्वा रह जाती है। वादर जीवो की हिसा—विराधना भी सकल्प, आरभ इन दो प्रकारों से होती है। इनमे मे श्रावक संकल्पी हिसा का त्याग कर सकते है, आरभजन्य हिसा का नही। अतएव उस आधे (दस विस्वा) मे से भी आधा भाग निकल जाने पर पाँच विस्वा दया वाकी रहती है। संकल्प के भी दो प्रकार है—अपराधी सम्वन्धी और निरपराधी सम्वन्धी। इनमे से श्रावक अप-राधी सम्वन्धी संकल्पी हिंसा का त्याग नही कर सकते है। जिससे ढाई विस्वा दया रहती है। निरपराधी जीव भी दो प्रकार के है—सापेक्ष और निरपेक्ष। इसमें से श्रावक निरपेक्ष जीवो की हिसा का

त्याग कर सकते है सापेक्ष जीवों की नही, जिससे श्रावको की दया सवा बिस्वा रह जाती है। इस भाव को जानने के लिये एक प्राचीन गाथा में कहा गया है—

जीवा सुहुमा थूला संकप्पाऽऽरंभओ य ते दुविहा।
सावराह निरवराहा सविक्खा चेव निरविक्खा ॥

सूक्ष्म और स्थूल जीवों की सकल्प और आरम्भ से, अपराधी और निरपराधी की, सापेक्ष और निरपेक्ष की हिसा का त्याग होने की अपेक्षा से (मुनि और श्रावक के त्याग में अन्तर है।)

७. अविरति—किसी प्रकार के सयम को स्वीकार न करना अविरति है।[1] अविरति के सात भेद है। यह अविरित अवस्था पहले से चौथे तक चार गुणस्थानो मे पाई जाती है।

दर्शन मार्गणा के भेद

गाथा मे 'चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसण अणागारा' पद से दर्शन मार्गणा के चार भेद बतलाये है—

(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन, (४) केवलदर्शन।[1]

---

१ न विद्यते यत—विरत विरतिर्यस्य सोऽयत· सर्वथा विरतिहीन·।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १३७

२ दर्शन के चक्षुदर्शन आदि केवलदर्शन पर्यन्त चार भेद प्रसिद्ध है। मन-पर्यायदर्शन नही होने के कारण यह है कि मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह स्वमुख से विषयो को नही जानता है किन्तु परकीय मन प्रणाली से जानता है। अत· जिस प्रकार मन अतीत, अनागत अर्थों का विचार चिंतन तो करता है किन्तु देखता नही है, उसी प्रकार मन पर्यायज्ञानी भी भूत, भविष्यत् को जानता तो है, पर देखता नही है। वह वर्तमान को भी मन के विपय विशेपाधिकार से जानता है। अत. सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मन.पर्यायदर्शन नही माना जाता है। किन्तु किन्ही-किन्ही आचार्यो ने मन पर्यायदर्शन को भी स्वीकार किया है—केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनाया मन.पर्यायज्ञाने दर्शनना पठ्यते। **—तत्त्वार्थ भाष्य १।२४ की टीका**

१. चक्षुदर्शन—चक्षुइन्द्रिय के द्वारा जो पदार्थ के सामान्य अंश का वोध होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते है। इसका अंतरंग कारण चक्षु-दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम है।

२. अचक्षुदर्शन—चक्षु को छोडकर अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य अंश के बोध को अचक्षुदर्शन कहते है।[1]

३. अवधिदर्शन—अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से इद्रियों की सहायता के बिना रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है वह अवधिदर्शन कहलाता है।

४. केवलदर्शन—सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायों को सामान्य रूप से विषय करने वाले वोध को केवलदर्शन कहते है।[2] समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से सिर्फ आत्मा ही मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का पूर्णतया सामान्यरूप से अवबोध करती है।

दर्शन को अनाकार इसलिये कहा जाता है कि यद्यपि पदार्थो में सामान्य, विशेप दोनो ही धर्म रहते है किन्तु दर्शन द्वारा केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा से स्व-पर सत्ता का अभेद रूप निर्विकल्प अव-भासन होता है। इसीलिये वह निराकार है और शब्दों द्वारा इसका प्रतिपादन नही किया जा सकता है।[3]

संयम और दर्शन मार्गणा के भेदों का कथन करने के वाद अब आगे की गाथा मे लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणा के भेदों को वतलाते है।

---

१ चक्खूण ज पयासइ दीसइ त चक्खुदसण विति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति॥ —पंचसंग्रह १३६

२ केवलेन—सपूर्णवस्तुतत्त्वगाहकवोधविशेपरूपेण यद् दर्शन—सामान्याश-गहण तत् केवलदर्शनम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७

३ भावाण सामण्णविसेसयाण सरूवमेत्त जं।
वण्णणहीणग्गहण जीवेण य दसण होदि॥ —गो० जीवकांड ४८३

लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणा के भेद—

किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ॥१३॥

शब्दार्थ—**किण्हा**—कृष्ण, **नीला**—नील, **काऊ**—कापोत, **तेऊ**—तेज, **पम्हा**—पद्म, **य**—और, **सुक्क**—शुक्ल, **भव्वियरा**—भव्य और इतर (अभव्य), **वेयग**—वेदक, **खइगुवसम**—क्षायिक, औपशमिक, **मिच्छ**—मिथ्यात्व, **मीस**—मिश्र, **सासाण**—सासादन, **सन्नियरे**—सज्ञी तथा इतर असज्ञी ।

गाथार्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः (पीत), पद्म और शुक्ल यह लेश्यायें है। भव्य और उसके उल्टे अभव्य यह दो भेद भव्यत्व मार्गणा के है। वेदक, क्षायिक और औपशमिक, मिथ्यात्व, मिश्र तथा सासादन यह भेद सम्यक्त्व मार्गणा के होते है। संज्ञित्व मार्गणा के सज्ञी और असज्ञी यह दो भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे लेश्या से लेकर संज्ञी मार्गणा पर्यन्त चार मार्गणाओं के भेद बतलाये है। 'किण्हा··· सुक्क' तक के पद द्वारा लेश्या मार्गणा के 'भव्वियरा' पद से भव्यत्व मार्गणा के, 'वेयग······ सासाण' पद द्वारा सम्यक्त्व मार्गणा के और 'सन्नियरे' पद से संज्ञी मार्गणा के भेदों को वतलाया है। उक्त भेदों के नाम क्रमशः इस प्रकार है—

लेश्या मार्गणा—(१) कृष्ण लेश्या, (२) नील लेश्या, (३) कापोत लेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्म लेश्या, (६) शुक्ल लेश्या।

भव्यत्व मार्गणा—(१) भव्यत्व, (२) अभव्यत्व।

सम्यक्त्व मार्गणा—(१) वेदक सम्यक्त्व, (२) क्षायिक सम्यक्त्व, (३) औपशमिक सम्यक्त्व, (४) मिथ्यात्व, (५) मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व), (६) सासादन सम्यक्त्व।

संज्ञी मार्गणा—(१) संज्ञित्व, (२) असंज्ञित्व।

उक्त भेदों के लक्षण क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है।

लेश्या मार्गणा के भेद

१. **कृष्ण लेश्या**—काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलो के सम्बन्ध से आत्मा मे ऐसे परिणामों का होना जिससे हिंसा आदि पॉच आस्रवों मे प्रवृत्ति हो। मन, वचन, काय का संयम न रहना, गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही कार्य करने की आदत बन जाना, क्रूरता आ जाना आदि। यह परिणाम कृष्ण लेश्या है।

२ **नील लेश्या**—अशोक वृक्ष के समान नीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा मे ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल-कपट आदि होने लगते हैं, निर्लज्जता आ जाती है, विषयों के प्रति उत्कट लालसा होती है आदि। इन परिणामों को नील लेश्या कहते है।

३. **कापोत लेश्या**—इस लेश्या वाले के परिणाम कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्गलों जैसे होते हैं। ऐसे परिणामों के होने से मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में वक्रता ही वक्रता रहती है, दूसरो को कष्ट पहुँचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति होती है, किसी भी विषय मे सरलता नही होती है और नास्तिकता रहती है।

४. **तेजोलेश्या**—तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा मे ऐसे परिणाम होते है जिससे कि नम्रता आ जाती है, शठता और चपलता नही रहती है धर्म-रुचि दृढ होती है, दूसरों का हित करने की इच्छा होती है। यह परिणाम तेजोलेश्या है।

५. **पद्म लेश्या**—हल्दी के समान पीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा मे एक तरह का परिणाम होता है जिससे कापायिक प्रवृत्ति काफी अशो मे कम हो जाती है। चित्त प्रशान्त रहता है। आत्मसंयम और जितेन्द्रियता की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्म है

६. **शुक्ल लेश्या**—इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता

उपशांत रहती है। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन, वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शंख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते है।[१]

भव्यत्व मार्गणा के भेद

१. **भव्य**—जो मोक्ष को प्राप्त करते है या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है, वे भव्य है।

भव्य जीवो मे से कुछ ऐसे होते है जो निकट काल में अति शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले है, कुछ बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करने वाले है और कुछ ऐसे भी होते है जो मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नही कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सके। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है परन्तु अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यों के उक्त तीनों प्रकारो को क्रमशः आसन्नभव्य, दूरभव्य और जातिभव्य[२] कहते है।

२. **अभव्य**—जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते उन्हें अभव्य कहते है।[3]

---

१ लेश्याओ के विशद ज्ञान के लिये उत्तराध्ययन का लेश्याध्ययन (३४वां) देखिये। उसमे लेश्याओ का वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि द्वारों से विस्तृत विवेचन किया गया है।

गो० जीवकाड गा० ४९५ मे लेश्याओ के वर्ण क्रमशः भ्रमर के समान, नीलमणि के समान, कवूतर के समान, सुवर्ण के समान, कमल के समान और शख के समान वतलाये है।

२ दिगम्बर साहित्य मे जातिभव्य को 'अभव्यसमभव्य' कहा हैं।

३ भव्य. मुक्तिगमनार्ह., अभव्य. कदाचनापि सिद्धिगमनानर्हः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३८

सम्यक्त्व मार्गणा के भेद

गाथागत क्रम के वजाय औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, सासादन, मिश्र और मिथ्यात्व के क्रम से सम्यक्त्व मार्गणा के भेदो के लक्षण कहने के पूर्व सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक, सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भेदों के वनने के कारण के वारे मे विचार करते है।

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्योकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जैसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सव मे समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिये सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है।

सम्यक्त्व परिणामो को सहेतुक मान लेने पर प्रश्न होता है कि उसके नियत हेतु निमित्त कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि वाह्य और अंतरग के भेद से हेतु के दो प्रकार हैं। इनमे से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जव इस अनादि पारिणामिक भाव—भव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि वाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण वन जाते है। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायता मिलती है। लेकिन सिर्फ प्रवचन-श्रवण, अध्ययन आदि वाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते है। क्योकि वाह्य निमित्तों के रहने पर भी अनेक भव्यों को अभव्यों की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है।

इसका सारांश यह है कि भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व-प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन-श्रवण आदि वाह्य कारण है और ये प्रवचन-श्रवण आदि वाह्य कारण महकारी मात्र होते है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आंतरिक कारण—भव्यत्व भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते है। जैसे अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षयोपशम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का, उपशम औपशमिक सम्यक्त्व का और क्षय क्षायिक सम्यक्त्व का, सम्यक्त्व से गिराकर मिथ्यात्व की ओर झुकाने वाला अनन्तानुबधी कषाय का उदय सासादन सम्यक्त्व का, मिश्र मोहनीय का उदय मिश्र सम्यक्त्व का और सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्व का कारण है।

अभिव्यक्ति के कारणों की उक्त विविधता से ही सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद होते है। जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार है—

१. **औपशमिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—कुल सात प्रकृतियो के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्मपरिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते है।[1] इसके दो भेद है—(१) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी। ग्रथिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणिभावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पॉचवे, छठे या सातवे इन चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान मे हो सकती है परन्तु आठवे गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है।[2]

---

१ दंसणमोहस्सुदए उवसते सच्चभावसद्दहण।
उवसमसम्मत्तमिण पसण्णकलुस जहा तोय॥ —पंचसंग्रह १६५

२ ग्रन्थिभेदजन्य और श्रेणिभावी उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का विचार द्वितीय कर्मग्रन्थ गाथा २ की व्याख्या मे किया गया है। ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी कहते है।

औपशमिक सम्यक्त्व के समय आयुबध, मरण, अनतानुबधी कषाय का बध व उदय—ये चार बाते नही होती है। किन्तु उससे च्युत होने के बाद सासादनभाव के समय ये चार बाते हो सकती है।

२ **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**—अनन्तानुबंधी कपायचतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियो के उदयभावी क्षय और इन्हीं के सद्वस्थारूप उपशम से तथा देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[1] इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अन्तर

उपशमजन्य पर्याय को औपशमिक और क्षयोपशमजन्य पर्याय को क्षायोपशमिक कहते है। इनका विशद अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये।

क्षयोपशम शब्द मे दो पद है—क्षय और उपशम। क्षयोपशम शब्द का मतलब कर्म के क्षय और उपशम दोनो से है। क्षय यानी आत्मा से कर्म का सम्बन्ध टूट जाना और उपशम यानी कर्म का अपने स्वरूप में आत्मा के साथ सलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना। इस शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा क्षयोपशम के पारिभाषिक अर्थ मे यह विशेपता है कि बधावलि के पूर्ण हो जाने पर जब किसी विवक्षित कर्म का क्षयोपशम प्रारम्भ होता है तब विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यन्त के कर्मदलिको[2] का तो प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा

---

१ (क) अनन्तानुबधिकपायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धान क्षायोपशमिक सम्यक्त्वम्। —सर्वार्थसिद्धि २।५।१५७।६

(ख) मिच्छत्त जमुइन्न त खीण अणुदिय च उवसत।
मीसीभावपरिणय वेइज्जत खओवसम॥
—विशेषावश्यक, ५३२

(ग) तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अनुदीर्णस्य चोपशमेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्तं तत् क्षायोपशमिकम्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३८

२ उदयावलिकाप्राप्त या उदीर्णदलिक।

क्षय होता रहता है और जो दलिक विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यन्त मे उदय आने योग्य नही हैं[१] उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मंद रस मे परिणमन) हो जाता है। जिससे वे दलिक अपनी उदयावलि को प्राप्त होने पर प्रदेशोदय या मद विपाकोदय द्वारा क्षीण हो जाते है यानि आत्मा पर अपना फल प्रगट नही कर सकते या कम प्रगट करते है।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त के उदयप्राप्त कर्मदलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदय सम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मंद रस में परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहते है।

लेकिन औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ क्षयोपशम के उपशम शब्द की व्याख्या से कुछ भिन्न है। अर्थात् क्षयोपशम के उपशम शब्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदय सम्बन्धी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मंद रस में परिणमन होना है किन्तु औपशमिक के उपशम शब्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है। क्षयोपशम मे कर्म का क्षय भी चालू रहता है। यह क्षय प्रदेशोदय रूप होता है किंतु उपशम मे यह बात नही है, क्योकि जब कर्म का उपशम होता है तभी से उसका क्षय रुक जाता है, अतएव इसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता नही रहती है। इसीलिये उपशम अवस्था तभी मानी जाती है जबकि अन्तरकरण[२] होता है और अन्तरकरण मे वेद्य दलिकों का अभाव होता है।

---

१ उदयावलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक।

२ अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त मे उदय पाने योग्य दलिको मे से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते है और कुछ दलिक बाद मे उदय पाने योग्य बना दिये जाते है।

क्षयोपशम और उपशम की उक्त व्याख्या का सारांश यह है कि क्षयोपशम के समय प्रदेशोदय या मंद विपाकोदय होता है किन्तु उपशम के समय वह भी नही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय दर्शनमोहनीय के किसी प्रकार का उदय नही होता किन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व के समय सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होता है। इसीलिये औपशमिक सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व भी कहते है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उक्त व्याख्यागत विशेषता के अतिरिक्त दोनो मे यह भी विशेषता है कि उपशम और क्षयोपशम होने योग्य घातिकर्म[1] है, लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व मे तो घातिकर्मो मे से सिर्फ मोहनीय कर्म का उपशम होता है लेकिन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे क्षयोपशम सभी घातिकर्मो का होता है। घातिकर्म के देशघाति[2] और सर्वघाति[3] यह दो भेद है और इन दोनों के क्षयोपशम मे होने वाली भिन्नता का रूप इस प्रकार है—

---

१ आठ मूल कर्मो मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय घाती कर्म कहलाते है।

२ १-४ मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानावरण, ५-७ चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण, ८-११ सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, १२-२० हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, २१-२५ दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय। यह २५ प्रकृतियाँ देशघाती है।

३ १ केवलज्ञानावरण, २ केवलदर्शनावरण, ३-७ निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, ८-१६ अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, २० मिथ्यात्व। यह २० प्रकृतियाँ सर्वघाती है।

देशघाती कर्मो के क्षयोपशम के समय मंद रस युक्त कुछ दलिको का विपाकोदय साथ ही रहता है और ये विपाकोदय प्राप्त दलिक अल्प रस युक्त होने से अपने आवरण करने योग्य गुण का घात नही कर सकते है। देशघाति कर्म के क्षयोपशम के समय विपाकोदय विरुद्ध नहीं है, अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य—आवरण करने योग्य अपने गुण के विकास—को नही रोक सकता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि देशघाती कर्म के विपाकोदय मिश्रित क्षयोपशम के समय सर्वघाती रस युक्त कोई भी दलिक उदयमान नही होता है। जब सर्व-घाति रस शुद्ध अध्यवसाय से देशघाति रूप में परिणत हो जाता है तभी (देशघाति स्पर्धक के ही विपाकोदय काल मे) क्षयोपशम प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की सर्वघातिनी प्रकृतियाँ बीस हैं। उनमे से केवलज्ञाना-वरण और केवलदर्शनावरण इन दो का क्षयोपशम नही होता है। क्योंकि इनके दलिक कभी भी देशघाति रस युक्त बनते ही नही है और न इनका विपाकोदय रोका जा सकता है। शेष अठारह प्रकृतियाँ ऐसी है जिनका क्षयोपशम हो सकता है किन्तु देशघातिनी प्रकृतियों के क्षयोपशम के समय जैसे विपाकोदय होता है वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियों के समय नही होता है। इन अठारह प्रकृतियो का क्षयोपशम तभी सम्भव है जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसीलिये यह सिद्धान्त माना है कि विपाकोदयवती प्रकृतियों का क्षयोपशम यदि होता है तो देशघातिनी का ही, सर्वघातिनी का नही।

दिगम्बर ग्रन्थो मे उदय की अपेक्षा देशघाती और सर्वघाती प्रकृ-तियों की संख्या बताई है अतः सर्वघाती २१ और देशघाती २६ प्रकृतियाँ है। सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती और सम्यक्त्व देशघाती। कर्मग्रन्थ मे बध की अपेक्षा देश व सर्वघाती का भेद किया है। अत २० सर्वघाती और २५ देशघाती प्रकृतियाँ बताई है।

घातिकर्मों की पच्चीस प्रकृतियाँ देशघातिनी है। उनमे से मति व श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और पॉच अंतराय इन आठ प्रकृतियों का क्षयोपशम तो सदा होता रहता है। अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण इन चार प्रकृतियो का क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है। यानी जब इनके सर्वघाति रस स्पर्धक देशघाति रूप मे परिणत हो जाते है तभी उनका क्षयोपशम होता है। शेप तेरह प्रकृतियॉ (चार सज्वलन और नौ नो-कपाय) अध्रुवोदयिनी है। इसलिए जब उनका क्षयोपशम प्रदेशोदय मात्र से युक्त होता है तब वे अपने गुण का लेशमात्र भी घात नही करती है और न देशघातिनी मानी जाती है, लेकिन जब उनका क्षयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होता है तब वे अपने आवरण करने योग्य गुण का कुछ घात करने से देशघातिनी कहलाती है।

३. **क्षायिक-सम्यक्त्व**—अनन्तानुवन्धी कपाय चतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक इन सात प्रकृतियो के क्षय से आत्मा में जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यग्-दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता है तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयो को देखकर विस्मित या शकित नही होता है। आयुबध करने के वाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव तो तीन-चार भव मे मोक्ष जाते है और अवद्धायुष्क (अगले भव की आयुवध से पहले क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले) वर्तमान भव मे ही मुक्ति प्राप्त कर लेते है।

४. **सासादन**—औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हे। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण है। इसके समय मे अनन्तानुवंधी कपायो का

उदय होने से जीव के परिणाम निर्मल नही होते है। जिससे सम्यक्त्व की विराधना होती है।

५. मिश्र सम्यक्त्व—सम्यग्‌मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों की रुचिरूप जो मिश्र परिणाम होता है वह मिश्र सम्यक्त्व कहलाता है। इसमे न तो मिथ्यात्व रूप और न सम्यक्त्व रूप ही आत्मपरिणाम होते है किन्तु दोनों से मिश्रित परिणाम होते है।

६. मिथ्यात्व—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्म-परिणाम मिथ्यात्व है। इस परिणाम वाला जीव तत्त्वार्थ का श्रद्धान करने वाला नही होता है। जड़-चेतन के भेद को नही जानता है और न आत्मोन्मुख प्रवृत्ति वाला होता है।

सासादन, मिश्र और मिथ्यात्व मे यह अतर है कि सासादन मे अतत्त्व रुचि अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त किन्तु मिश्र (सम्यग्‌मिथ्यात्व) अवस्था मे तत्त्व और अतत्त्व के प्रति समान रुचि रहती है।

सज्ञी मार्गणा के भेद

१. संज्ञित्व—विशिष्ट मन:शक्ति, दीर्घकालिकी सज्ञा का होना सज्ञित्व है और सज्ञायुक्त जीव सज्ञी कहलाते है।

२. असंज्ञित्व—उक्त सज्ञा का न होना असज्ञित्व है और सज्ञित्व विहीन जीव असज्ञी कहलते है।[1]

इस गाथा मे लेश्या से लेकर सज्ञी मार्गणा तक चार मार्गणाओ के भेदों का कथन करने से अभी तक गति आदि तेरह मार्गणाओ के अवान्तर भेदों की सख्या बतलाई जा चुकी है। आगे की गाथा मे

---

१ विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् सज्ञी, इतरोऽसज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादि:।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४२

चौदहवीं आहारक मार्गणा के भेद और मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले विषयों का निरूपण प्रारंभ करते है।

आहारक मार्गणा के भेद और मार्गणाओं में जीवस्थान

आहारेयर भेया सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे।
सम्मत्ततिगे पम्हा सुक्का सन्नीसु सन्निदुगं ॥१४॥

शब्दार्थ—आहार—आहारक, इयर—इतर, (अनाहारक) भेया—भेद होते है, सुर—देवगति, नरय—नरकगति, विभंग—विभग ज्ञान, मइसुअ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, ओहिदुगे—अवधिद्विक मे (अवधिज्ञान और अवधिदर्शन मे), सम्मत्ततिगे—सम्यक्त्वत्रिक मे, पम्हा—पद्म लेश्या, सुक्का—शुक्ल लेश्या, सन्निसु—सज्ञी मे, सन्निदुगं—सज्ञीद्विक।

गाथार्थ—आहारक मार्गणा के आहारक और इतर—अनाहारक—ये दो भेद है। देवगति, नरकगति, विभंगज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिद्विक (अवधिज्ञान और अवधिदर्शन), सम्यक्त्वत्रिक (औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक), पद्म और शुक्ल लेश्या तथा सज्ञित्व इन तेरह मार्गणाओ में अपर्याप्त सज्ञी और पर्याप्त संज्ञी ये दो जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे चौदहवी आहारक मार्गणा के भेद को बतलाने के बाद मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले विषयों मे से जीवस्थान विषय का विचार प्रारभ किया है कि देवगति आदि तेरह मार्गणाओं मे पर्याप्त और अपर्याप्त सज्ञी यह दो जीवस्थान होते है।

आहारक मार्गणा के भेद

आहारक मार्गणा के दो भेद है—(१) आहारक, (२) अनाहारक।

१. आहारक—ओज, लोम और कवल इनमे से किसी भी प्रकार के आहार को करने वाले जीव को आहारक कहते है।

२. अनाहारक—उक्त तीन प्रकार के आहारों में से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण न करने वाला जीव अनाहारक कहलाता है।[1]

इस प्रकार मार्गणास्थान के मूल भेद चौदह और उनके चार, पाँच, छह, आदि अवान्तर भेदों की कुल संख्या वासठ है। बासठ भेदों की संख्या इस प्रकार है—गति ४, इद्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८, (पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान) संयम ७, (पाँच सयम, देश विरति, अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, सम्यक्त्व ६, (सम्यक्त्व-त्रय, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र) संज्ञी २, आहारक २। इन सब भेदो को मिलाने पर मार्गणाओं के उत्तरभेद वासठ होते है।[2]

मार्गणाओं में जीवस्थान

गति आदि—मार्गणाओं के उत्तर भेदों को बतलाने के वाद मार्गणास्थान के वर्ण्य-विषयों का विचार प्रारंभ करते है।

मार्गणास्थान में (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व इन छह विषयो की विवेचना की गई है। अतः क्रमानुसार सर्वप्रथम बासठ मार्गणास्थानों में जीवस्थानों की संख्या बतलाते है।

गाथा मे 'सुरनरय····· ·····सन्नीसु' पर्यन्त तेरह मार्गणाओ में 'सन्निदुगं' पद से दो जीवस्थान होने का संकेत दिया है कि (१) देव-गति, (२) नरकगति, (३) मतिज्ञान, (४) श्रुतज्ञान, (५) अवधिज्ञान, (६) विभगज्ञान (कु-अवधि), (७) अवधिदर्शन, (८) पद्म लेश्या, (९) शुक्ल लेश्या, (१०) औपशमिक सम्यक्त्व, (११) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (१२) क्षायिक सम्यक्त्व, (१३) संज्ञी। इन तेरह मार्गणाओ

---

१ ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः। इतर. अना-हारकः। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४२

२ चउ पण छ त्तिय तिय चउ अड सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि।
गइयाइमग्गणाण इय उत्तरभेय वासट्ठी॥

मे संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त यह दो जीव-स्थान होते है।

गतिमार्गणा के देवगति और नरकगति, इन दो भेदों मे संज्ञीद्विक् (अपर्याप्त, पर्याप्त) जीवस्थान मानने का कारण यह है कि देव और नरक गति में वर्तमान कोई भी जीव असंज्ञी नही होते है। चाहे वह अपर्याप्त हो या पर्याप्त किन्तु सभी सज्ञी होते है। इसीलिये इन दो गतियो में संज्ञीद्विक जीवस्थान माने है।

विभगज्ञान प्राप्ति की योग्यता असज्ञी जीवों मे नही होती है। अत: उसमें भी अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी ये दो जीवस्थान माने जाते है। यद्यपि पंचसंग्रह द्वार १ गाथा २७[1] मे अपेक्षादृष्टि से विभगज्ञान मे संज्ञी पर्याप्त यह एक जीवस्थान वताया है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीका में कहा है कि 'विभगज्ञान मे जो पर्याप्त सज्ञी रूप एक ही जीवस्थान माना है, वह तिर्यच, मनुष्य और असज्ञी नारक की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योकि सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य को अपर्याप्त अवस्था मे विभंगज्ञान उत्पन्न नही होता है तथा असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यचों मे से जो रत्न-प्रभा नरक मे उत्पन्न होते हैं उनका असज्ञी नारक इस नाम से व्यवहार होता है और उनको भी अपर्याप्त अवस्था मे विभंगज्ञान उत्पन्न नही होता है परन्तु सपूर्ण पर्याप्तियों के पूर्ण होने के वाद पैदा होता है। इसीलिये विभंगज्ञान मे संज्ञी पर्याप्त यह एक जीवस्थान माना जाता है।

लेकिन उक्त कथन के साथ यहाँ वताये गये 'विभंगज्ञान मे दो जीवस्थान होते हैं' का विरोध नही है। क्योकि वह आपेक्षिक कथन है और अन्य अपेक्षा से विभगज्ञान मे दो जीवस्थान भी पंचसंग्रह-

---

१ दो मणुयओहिदुगे एक्कं मणनाणकेवलविभगे।
इग तिग व चक्खुदंसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे॥

कार को इष्ट हैं। जो टीका के निम्नलिखित अर्थ से स्पष्ट हो जाता है—

'सामान्य विचार करने पर विभंगज्ञान मार्गणा मे संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दोनों जीवस्थान होते है। क्योंकि संज्ञी तिर्यंच और मनुष्यो में से उत्पन्न होने वाले नारक, देवों को अपर्याप्त अवस्था मे भी विभंगज्ञान उत्पन्न होता है।'

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक इन चार मार्गणाओं में संज्ञी-द्विक जीवस्थान मानने का कारण यह है कि—

किसी असंज्ञी में सम्यक्त्व संभव नहीं है और सम्यक्त्व के सिवाय मति-श्रुत ज्ञान आदि का होना असभव है तथा कोई-कोई जीव जब मति आदि तीन ज्ञानों सहित जन्म ग्रहण करते है, उस समय उन जीवों के अपर्याप्त अवस्था में भी मति, श्रुत, अवधिद्विक होते है।

संज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों में पद्म और शुक्ल लेश्या के परिणाम न होने से इन दो लेश्याओ में अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी यह दो जीव-स्थान माने है।।

औपशमिक आदि सम्यक्त्वत्रिक में संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त यह दो जीवस्थान होते है। इसका कारण यह है कि जो जीव आयु बाँधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बांधी हुई आयु के अनुसार चारों गतियो मे से किसी भी गति मे जन्म ले सकता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त अवस्था मे क्षायिक सम्यक्त्व माना जाता है। इसी प्रकार अपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि जब देव आदि गति से च्यवन कर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते है तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते है। औपशमिक सम्यक्त्व के लिये यह जानना कि आयु के पूर्ण हो जाने पर जब कोई औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे

गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तर विमान मे पैदा होता है तब अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।[1]

अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी होने से संज्ञी मार्गणा में उक्त सज्ञी-द्विक जीवस्थानों के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान सभव नही है।

देवगति आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओं में अपर्याप्त सज्ञी शब्द करण-अपर्याप्त के लिये प्रयुक्त हुआ है न कि लब्धि-अपर्याप्त के लिये। क्योंकि देवगति और नरकगति में लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई भी जीव पैदा नही होता है और न लब्धि-अपर्याप्त को मतिज्ञान आदि ज्ञान और क्षायिक आदि सम्यक्त्व तथा पद्म आदि लेश्याये होती है।

तमसन्नि अपजजजुयं नरे सबायर अपज्ज तेऊए।
थावर इगिंदि पढमा चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥१५॥

शब्दार्थ—**तम्**—वे (पूर्वोक्त दो), **असन्नि**—असज्ञी, **अपज्ज-जुयं**—अपर्याप्त सहित, **नरे**—मनुष्यगति में, **सबायर अपज्ज**—बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित, **तेऊए**—तेजोलेश्या में, **थावर**—स्थावर, **इगिंदि**—एकेन्द्रिय, **पढमा**—प्रथम, पहले, **चउ**—चार, **बार**—बारह, **असन्नि**—असज्ञी मे, **दु दु**—दो-दो, **विगले**—विकलेन्द्रियो मे।

गाथार्थ—मनुष्यगति मे पूर्वोक्त संज्ञीद्विक (अपर्याप्त और पर्याप्त सज्ञी) और अपर्याप्त असंज्ञी ये तीन जीवस्थान है। तेजोलेश्या मे बादर अपर्याप्त सहित सज्ञीद्विक यह तीन जीवस्थान होते हैं। पाँच स्थावरो और एकेन्द्रिय में पहले

---

1 अपर्याप्त सज्ञी अवस्था में भी औपशमिक सम्यक्त्व पाये जाने का मंतव्य सप्ततिका (छठे कर्मग्रन्थ) और पंचसग्रह के मतानुसार समझना चाहिए। सम्बन्धित विशेष विवरण परिशिष्ट मे दिया गया है।

चार तथा असंज्ञी जीवों में संज्ञीद्विक के सिवाय आदि के बारह और विकलेन्द्रियत्रिक में दो-दो जीवस्थान है।

विशेषार्थ—गाथा मे मनुष्यगति, तेजोलेश्या, पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरों और एकेन्द्रिय, असंज्ञी और विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) कुल बारह मार्गणाओं मे जीवस्थानों की संख्या बतलाई है।

मनुष्यगति मे अपर्याप्त संज्ञी, पर्याप्त संज्ञी, अपर्याप्त असंज्ञी यह तीन जीवस्थान बतलाये है। मनुष्यगति में अपर्याप्त असंज्ञी जीवस्थान मानने का कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के है—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। इनमे से गर्भज मनुष्य तो संज्ञी ही होते है और वे अपर्याप्त और पर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते है, लेकिन संमूर्च्छिम मनुष्य भी होते हैं, जो ढाई द्वीप समुद्र में गर्भज मनुष्यों के मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदि में पैदा होते है और जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की ही होती है। वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है। इसीलिये संमूर्च्छिम मनुष्यों[1] को ग्रहण करने से मनुष्यगति में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञीद्विक और अपर्याप्त असज्ञी यह तीन जीवस्थान पाये जाते है।

---

१ सम्मूर्च्छिम मनुष्यो की उत्पत्ति आदि के बारे मे प्रज्ञापना सूत्र मे वर्णन है कि—'कहि ण भते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति ? गोयमा ! अतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अतरदीवेसु गब्भवक्कतियमणुस्साण चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा समुच्छंति अगुलस्स असखेज्जभाग मित्ताए ओगाहणाए। असन्नी-मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहि पज्जत्तीहि अपज्जत्ता अन्तमुहुत्ताउया चेव कालं करति त्ति।

तेजोलेश्या पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के सज्ञी जीवों तथा वादर एकेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था मे होती है। इस दृष्टि से तेजोलेश्या में पर्याप्त, अपर्याप्त सज्ञी तथा वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त यह तीन जीवस्थान माने है।

वादर एकेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या इस अपेक्षा से मानी जाती है कि भवनपति, व्यंतर[1] आदि देव जिनमे तेजोलेश्या सम्भव है, तेजोलेश्या सहित मरकर पृथ्वी, जल या वनस्पति में जन्म ग्रहण करते है,[2] तव उनको अपर्याप्त अवस्था (करण-अपर्याप्त) मे कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है।

आदि के चार जीवस्थानो में—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त,

—संमूर्च्छिम मनुष्यो के वारे मे गौतम गणधर द्वारा पूछने पर भगवान महावीर कहते है कि पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के भीतर ढाई द्वीप समुद्र मे पद्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन्न अन्तर्द्वीपो मे गर्भज मनुष्यो के मल-मूत्र, कफ, शोणित, शुक्र, रज आदि सभी अशुचि पदार्थो मे समूर्च्छिम पैदा होते हैं। जिनका देह प्रमाण अगुल के असंख्यातवे भाग होता है तथा वे मिथ्यात्वी, अज्ञानी और अपर्याप्त होते है और अन्तर्मुहूर्त मात्र मे मर जाते है।

१ किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहम्मीसाणि तेउलेसा मुणेयव्वा॥

—वृहत्संग्रहणी पत्र ८१

—भवनपति और व्यतर देवो मे कृष्ण आदि चार लेश्यायें होती है किन्तु ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोक मे तेजोलेश्या ही होती है।

२ पुढवीआउवणस्सइ गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु।
सग्गचुयाण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा॥

—वृहत्संग्रहणी पत्र ७७

—पृथ्वी, जल, वनस्पति और सख्यात वर्ष आयु वाले गर्भज पर्याप्त इन स्थानो मे ही स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानो मे नही।

(२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, (३) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान मे एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नहीं है। इसीलिये एकेन्द्रिय तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन छह मार्गणाओं में पहले चार जीवस्थान माने जाते है।

संज्ञित्व और असंज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवों में ही पाया जाता है, लेकिन शेष बारह जीवस्थान असंज्ञी जीवों के है। इसीलिये असंज्ञी मार्गणाओं में बारह जीवस्थान समझना चाहिये।

विकलेन्द्रियत्रिक में दो-दो जीवस्थान हैं। यानी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—यह विकलेन्द्रिय कहलाते है और ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के है। इसलिये इन प्रत्येक मे दो-दो जीवस्थान है। अर्थात् द्वीन्द्रिय मे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, त्रीन्द्रिय में त्रीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय में चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, इस प्रकार से दो-दो जीवस्थान समझना चाहिये।

दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे।
पढमतिलेसा भवियर अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥१६॥

शब्दार्थ—**दस**—दस, **चरम**—अत के, **तसे**—त्रसकाय मे, **अजयाहारग**—अविरति और आहारक मार्गणा में, **तिरि**—तिर्यंच गति, **तणु**—काय योग, **कसाय**—कषाय, **दु**—दो, **अनाणे**—अज्ञान मे, **पढम**—पहली, **तिलेसा**—तीन लेश्याओ मे, **भवियर**—भव्य और अभव्य, **अचक्खु**—अचक्षुदर्शन, **नपु**—नपुसक वेद, **मिच्छि**—मिथ्यात्व मे, **सव्वेवि**—सभी जीवस्थान है।

गाथार्थ—त्रसकाय में अंतिम दस, अविरति, आहारक, तिर्यंच गति, काययोग, चार कषाय, मति-श्रुत-अज्ञान, कृष्ण आदि तीन लेश्या, भव्यत्व, अभव्यत्व, अचक्षुदर्शन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व इन मार्गणाओं में सभी जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसकाय में दस जीवस्थान तथा 'अजयाहारग ......मिच्छि' तक के पद में वतलाई गई अठारह मार्गणाओं में सभी (चौदह) जीवस्थान होना वतलाया है। जिनका विवेचन नीचे लिखे अनुसार है।

'तसे चरम दस' यानी त्रस जीवो मे अंतिम दस जीवस्थान है। त्रस नामकर्म के उदय वाले जीवों को त्रस कहते हैं। त्रस नामकर्म का उदय द्वीन्द्रिय आदि पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों को होता है। इसीलिये अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त-पर्याप्त वादर-एकेन्द्रिय इन चार जीवस्थानो को छोड़कर शेप दस जीवस्थान त्रस काय मे अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पचेन्द्रिय माने जाते है।

(१) अविरति, (२) आहारक, (३) तिर्यंचगति, (४) काययोग, (५-८) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ चारो मे) (९) मतिअज्ञान, (१०) श्रुत-अज्ञान, (११) कृष्ण लेश्या, (१२) नील लेश्या, (१३) कापोत लेश्या, (१४) भव्य, (१५) अभव्य, (१६) अचक्षुदर्शन, (१७) नपुसक वेद, और (१८) मिथ्यात्व इन अठारह मार्गणाओ में सभी (चौदह) जीवस्थान होते है। इन अठारह मार्गणाओ मे सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते है कि सव प्रकार के जीवो मे यह मार्गणाये संभव है और सव जीवस्थानो मे सामान्यतः इन अठारह मार्गणाओ गत वाह्य शरीर आदि और आंतरिक भाव आदि पाये जाते है।

अचक्षुदर्शन में सव जीवस्थान मानने का कारण

उक्त अठारह मार्गणाओं में अचक्षुदर्शन को भी ग्रहण करके उसमे सव जीवस्थान मानने पर जिज्ञासा होती है कि अचक्षुदर्शन मे जो सात अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते है सो इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण न हुई हो वैसी

अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा रखकर है या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मानकर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों तो उस स्थिति मे सभी जीवस्थान अचक्षुदर्शन में माने जा सकते है। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, जिसका श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे में उल्लेख करते हुए सिद्धात के आधार से बताया है कि विग्रहगति और कार्मण योग में अवधिदर्शन रहित जीवों को अचक्षुदर्शन होता है, तो इस पक्ष में यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय नहीं होने से उस अवस्था मे अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है ?

इसके समाधान के निम्नलिखित दो प्रकार है—

१. द्रव्येन्द्रिय होने पर भी द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रियजन्य उपयोग अथवा द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रियजन्य उपयोग, यह उपयोग के दो प्रकार होते है। इनमे से विग्रहगति में और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व पहले प्रकार का उपयोग तो नही हो सकता है किन्तु दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है।

२. अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप जो अचक्षुदर्शन इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है, वह शक्ति रूप (लब्धि रूप) होता है किन्तु उपयोग रूप नही। क्योंकि प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वी गाथा की टीका में कहा है—

त्रयाणामप्यचक्षुदर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्युपगमात्।

इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले शक्ति रूप में अचक्षुदर्शन मानने पर पुन. प्रश्न होता है कि अचक्षुदर्शन की तरह चक्षुदर्शन

भी शक्ति रूप मे मानना चाहिये। तो इसका समाधान यह है कि चक्षुदर्शन नेत्र रूप विशेष इन्द्रियजन्य दर्शन को कहते हैं। ऐसा दर्शन तभी माना जा सकता है जब द्रव्य नेत्र हो। इसलिये चक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। लेकिन अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नही है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिससे वह शक्ति रूप अथवा द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनो रूपो में अथवा भावेन्द्रिय रूप मे होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं में माना है।

मिथ्यात्व में जो सब जीवस्थान कहे है यानी सब जीवस्थानो में सामान्यत: मिथ्यात्व कहा है, सो पहले बारह जीवस्थानो मे अनाभोग जन्य (अज्ञानजन्य अतत्त्वरुचि) मिथ्यात्व समझना चाहिये।

पजसन्नी केवलदुग संजयमणनाणदेसमणमीसे।
पण चरम पज्ज वयणे तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥

शब्दार्थ—पजसन्नी—पर्याप्त सज्ञी मे, केवलदुग—केवलद्विक (केवलज्ञान और दर्शन) संजय—सयम, मणनाण—मनपर्याय ज्ञान, देस—देशविरति, मण—मनोयोग, मीसे—मिश्र (सम्यग्‌मिथ्यात्व), पण—पाँच, चरम—अत के, पज्ज—पर्याप्त, वयणे—वचन योग मे, तिय—तीन, छ—छह, व—अथवा, पज्जियर—पर्याप्त, अपर्याप्त, चक्खुम्मि—चक्षुदर्शन मे।

गाथार्थ—केवलद्विक, संयम, मनपर्याय ज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्र सम्यक्त्व मार्गणा मे सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान होता है। वचनयोग मे अत के पाँच पर्याप्त जीवस्थान है। चक्षुदर्शन मे अन्त के तीन पर्याप्त अथवा पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से अत के तीन यानी कुल छह जीवस्थान होते हैं।

अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा रखकर है या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मानकर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों तो उस स्थिति मे सभी जीव-स्थान अचक्षुदर्शन में माने जा सकते हैं। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, जिसका श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे मे उल्लेख करते हुए सिद्धांत के आधार से बताया है कि विग्रहगति और कार्मण योग में अवधिदर्शन रहित जीवों को अचक्षुदर्शन होता है, तो इस पक्ष मे यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय नही होने से उस अवस्था मे अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है ?

इसके समाधान के निम्नलिखित दो प्रकार है—

१. द्रव्येन्द्रिय होने पर भी द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रियजन्य उपयोग अथवा द्रव्येन्द्रिय के अभाव में केवल भावेन्द्रियजन्य उपयोग, यह उपयोग के दो प्रकार होते है। इनमें से विग्रहगति मे और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व पहले प्रकार का उपयोग तो नही हो सकता है किन्तु दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है।

२. अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप जो अचक्षुदर्शन इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है, वह शक्ति रूप (लब्धि रूप) होता है किन्तु उपयोग रूप नही। क्योकि प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४६वी गाथा की टीका में कहा है—

त्रयाणामप्यचक्षुदर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्यु-पगमात्।

इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले शक्ति रूप मे अचक्षुदर्शन मानने पर पुनः प्रश्न होता है कि अचक्षुदर्शन की तरह चक्षुदर्शन

भी शक्ति रूप मे मानना चाहिये। तो इसका समाधान यह है कि चक्षुदर्शन नेत्र रूप विशेप इन्द्रियजन्य दर्शन को कहते है। ऐसा दर्शन तभी माना जा सकता है जव द्रव्य नेत्र हों। इसलिये चक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद ही माना है। लेकिन अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नही है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिससे वह शक्ति रूप अथवा द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनो रूपों मे अथवा भावेन्द्रिय रूप मे होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं मे माना है।

मिथ्यात्व मे जो सव जीवस्थान कहे है यानी सव जीवस्थानो मे सामान्यत: मिथ्यात्व कहा है, सो पहले वारह जीवस्थानों में अनाभोग जन्य (अज्ञानजन्य अतत्त्वरुचि) मिथ्यात्व समझना चाहिये।

पजसन्नी केवलदुग संजयमणनाणदेसमणमीसे।
पण चरम पज्ज वयणे तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥

शब्दार्थ—पजसन्नी—पर्याप्त सज्ञी मे, केवलदुग—केवलद्विक (केवलज्ञान और दर्शन) संजय—सयम, मणनाण—मनपर्याय ज्ञान, देस—देशविरति, मण—मनोयोग, मीसे—मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), पण—पाँच, चरम—अत के, पज्ज—पर्याप्त, वयणे—वचन योग मे, तिय—तीन, छ—छह, व—अथवा, पज्जियर—पर्याप्त, अपर्याप्त, चक्खुम्मि—चक्षुदर्शन मे।

गाथार्थ—केवलद्विक, सयम, मनपर्याय ज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्र सम्यक्त्व मार्गणा मे सिर्फ पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान होता है। वचनयोग मे अंत के पांच पर्याप्त जीवस्थान है। चक्षुदर्शन मे अन्त के तीन पर्याप्त अथवा पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से अत के तीन यानी कुल छह जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा में (१) केवलज्ञान, (२) केवलदर्शन, (३) सामायिक, (४) छेदोपस्थापना, (५) परिहारविशुद्धि, (६) सूक्ष्मसपराय, (७) यथाख्यात-संयम, (८) मनपर्याय ज्ञान, (९) देशविरति, (१०) मनोयोग, (११) मिश्रदृष्टि, इन ग्यारह मार्गणाओं मे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त यह एक जीवस्थान बताया है तथा (१२) वचन योग में अंतिम पाँच पर्याप्त जीवस्थान (पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय) और (१३) चक्षुदर्शन में तीन और मतान्तर से छह जीवस्थान कहे है।

केवलज्ञान आदि मिश्रदृष्टि तक ग्यारह मार्गणाओ में सिर्फ एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माने जाने का कारण यह है कि पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य प्रकार के जीवो मे सर्वविरति और देशविरति संयम संभव नहीं है। जिससे विरति से सम्बन्ध रखने वाले केवलदर्शन, सामायिक आदि पॉच सयम, देशविरति और मनपर्याय ज्ञान नही होते है। इसी तरह पर्याप्त संज्ञी के सिवाय अन्य जीवों मे मन का सद्भाव न होने से मनोयोग नही होता है तथा सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के सिवाय अन्य जीवो मे तथाविध परिणामों की योग्यता न होने से मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व) भी नही होती है।[1]

वचनयोग में पॉच पर्याप्त जीवस्थान—पर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त त्रीन्द्रिय, पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय—मानने का कारण यह है कि पर्याप्त अवस्था में स्वर या

---

१ तत्र केवलद्विके सयतेपु मनःपर्यायज्ञाने देशविरते च सज्ञिपर्याप्तलक्षण जीवस्थानक विना नान्यद् जीवस्थानक सम्भवति तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात्। मनोयोगेऽप्येतदन्तरेणाऽन्यद् जीवस्थानक न घटते, तत्र मन.सद्भावायोगात्। मिश्रे पुनः पर्याप्तसज्ञिव्यतिरेकेण शेषं जीवस्थानक तथाविध परिणामाभावादेव न सम्भवतीति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४५

शब्दोच्चारण होता है, उससे पूर्व नही तथा वचन का सम्बन्ध भाषा-पर्याप्ति से है।

एकेन्द्रिय जीवों में आदि की चार पर्याप्तियाँ—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोछ्वास होती है, भाषा पर्याप्ति नही। किन्तु द्वीन्द्रिय आदि जीवो मे भाषा पर्याप्ति संभव है। जब वे स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते है तब उनमें भाषापर्याप्ति के पूर्ण हो जाने से वचनयोग हो सकता है। इसीलिये वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पाँच जीवस्थान माने है।

'तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि' यानी चक्षुदर्शन मे तीन अथवा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदो को भी मिलायें तो छह जीवस्थान होते है। इस प्रकार से चक्षुदर्शन में तीन अथवा छह जीवस्थान होने का कारण यह है कि चक्षुदर्शन आँखों वालो के ही होता है और आँखें चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीन प्रकार के जीवों के पर्याप्त अवस्था मे होती है। इनके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों मे चक्षुदर्शन का अभाव है। अतएव चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान माने जाते है।

लेकिन दूसरे मत के अनुसार स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले भी—अपर्याप्त अवस्था मे भी—चक्षुदर्शन माना जाता है। किन्तु इसके लिए इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति न बन जाये तब तक आँख के पूर्ण न बनने से चक्षुदर्शन हो ही नही सकता है। इसलिए इस दूसरे मत के अनुसार चक्षुदर्शन मे छह जीवस्थान और पहले मत के अनुसार तीन जीवस्थान हैं।

चक्षुदर्शन में जीवस्थानों की मतभिन्नता का कारण

चक्षुदर्शन मे तीन और छह जीवस्थान मानने सम्बन्धी मतभिन्नता का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति की निम्नलिखित दो व्याख्याये है—

१ इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा धातु

मे परिणत आहार पुद्गलों में से योग्य पुद्गल इन्द्रिय रूप से परिणत किये जाते हैं।

२. इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों को इन्द्रिय रूप में परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

इन्द्रियपर्याप्ति की प्रथम व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति में है। इस व्याख्या के अनुसार स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के बाद ही इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था मे चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षु होने पर भी उसका उपयोग नही होता है। इस अपेक्षा से चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान होते है।

दूसरी व्याख्या बृहत्सग्रहणी तथा भगवती वृत्ति मे है। इस व्याख्या के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है, यानी उस अपेक्षा से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न की हों और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली हो ऐसे जीव को चक्षुदर्शन होता है और उस अपेक्षा से छह जीवस्थान चक्षुदर्शन में माने जाते हैं। इस मत की पुष्टि पंचसग्रह मलयगिरि वृत्ति के इस मंतव्य से होती है—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते।

—करण-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय आदि में इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने पर चक्षुदर्शन होता है।

उक्त दोनों मतों का संक्षेप मे साराश यह है कि प्रथम मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलब इन्द्रियजनक शक्ति से है और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने के बाद (पर्याप्त अवस्था में) सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त अवस्था मे नही। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद नेत्र होने पर भी अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन नही माना जाता है। लेकिन

दूसरे मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलव इन्द्रियरचना से लेकर इन्द्रियजन्य उपयोग तक की सव क्रियाओ को करने की शक्ति से है। इसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण वन जाने से अपर्याप्त अवस्था मे भी सवको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति वन जाने के वाद नेत्रजन्य उपयोग होने के कारण अपर्याप्त अवस्था में भी चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन मानना चाहिए।

थीनरपणिदि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा।
ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

शब्दार्थ—थीनरपणिदि—स्त्रीवेद, पुरुपवेद और पचेन्द्रिय, चरमा—अत के, चउ—चार, अणहारे—अनाहारक मार्गणा मे, दु सन्नि—दो सज्ञी, छ अपज्जा—छह अपर्याप्त, ते—वे, सुहुम-अपज्ज—सूक्ष्म अपर्याप्त, विणा—विना, सिवाय, सासणि—सासादन मे, इत्तो—इसके पश्चात्, गुणं—गुणस्थान, वुच्छ—कहूँगा।

गाथार्थ—स्त्री वेद, पुरुप वेद, पचेन्द्रिय मार्गणा में अन्त के चार तथा अनाहारक मार्गणा में दो सज्ञी और छह अपर्याप्त कुल आठ जीवस्थान है तथा सासादन सम्यक्त्व में उक्त आठ मे से सूक्ष्म अपर्याप्त को छोडकर शेप सात जीव-स्थान होते है। अव आगे गुणस्थान का कथन किया जा रहा है।

विशेपार्थ—गाथा मे स्त्रीवेद, पुरुपवेद, पंचेन्द्रिय जाति, अना-हारक तथा सासादन सम्यक्त्व मे जीवस्थानो को वतलाकर आगे की गाथा से मार्गणास्थानो मे गुणस्थानो की सख्या वतलाने का सकेत किया है।

स्त्रीवेद, पुरपवेद और पचेन्द्रिय इन तीन मार्गणाओ में अपर्याप्त-पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय तथा अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय यह चार जीवस्थान कहे गये है। यहाँ अपर्याप्त का मतलव करण-अपर्याप्त है,

में परिणत आहार पुद्गलों में से योग्य पुद्गल इन्द्रिय रूप से परिणत किये जाते है।

२. इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों को इन्द्रिय रूप में परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

इन्द्रियपर्याप्ति की प्रथम व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति मे है। इस व्याख्या के अनुसार स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के बाद ही इन्द्रिय-जन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षु होने पर भी उसका उपयोग नही होता है। इस अपेक्षा से चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान होते है।

दूसरी व्याख्या बृहत्संग्रहणी तथा भगवती वृत्ति मे है। इस व्याख्या के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है, यानी उस अपेक्षा से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न की हों और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली हो ऐसे जीव को चक्षुदर्शन होता है और उस अपेक्षा से छह जीवस्थान चक्षुदर्शन मे माने जाते हैं। इस मत की पुष्टि पंचसंग्रह मलयगिरि वृत्ति के इस मंतव्य से होती है—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते।

—करण-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय आदि में इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने पर चक्षुदर्शन होता है।

उक्त दोनों मतो का सक्षेप मे साराश यह है कि प्रथम मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलब इन्द्रियजनक शक्ति से है और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने के बाद (पर्याप्त अवस्था में) सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त अवस्था मे नही। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के वाद नेत्र होने पर भी अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन नही माना जाता है। लेकिन

दूसरे मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलब इन्द्रियरचना से लेकर इन्द्रियजन्य उपयोग तक की सब क्रियाओं को करने की शक्ति से है। इसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण बन जाने से अपर्याप्त अवस्था में भी सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति बन जाने के बाद नेत्रजन्य उपयोग होने के कारण अपर्याप्त अवस्था में भी चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन मानना चाहिए।

थीनरपणिंदि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा।
ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

शब्दार्थ—**थीनरपणिंदि**—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पचेन्द्रिय, **चरमा**—अत के, **चउ**—चार, **अणहारे**—अनाहारक मार्गणा मे, **दु सन्नि**—दो सज्ञी, **छ अपज्जा**—छह अपर्याप्त, **ते**—वे, **सुहुम-अपज्ज**—सूक्ष्म अपर्याप्त, **विणा**—विना, सिवाय, **सासणि**—सासादन मे, **इत्तो**—इसके पश्चात्, **गुण**—गुणस्थान, **वुच्छ**—कहूँगा।

गाथार्थ—स्त्री वेद, पुरुष वेद, पंचेन्द्रिय मार्गणा मे अन्त के चार तथा अनाहारक मार्गणा मे दो संज्ञी और छह अपर्याप्त कुल आठ जीवस्थान है तथा सासादन सम्यक्त्व में उक्त आठ में से सूक्ष्म अपर्याप्त को छोडकर शेष सात जीव-स्थान होते है। अब आगे गुणस्थान का कथन किया जा रहा है।

विशेषार्थ—गाथा मे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, पंचेन्द्रिय जाति, अना-हारक तथा सासादन सम्यक्त्व में जीवस्थानों को वतलाकर आगे की गाथा से मार्गणास्थानो मे गुणस्थानों की संख्या वतलाने का सकेत किया है।

स्त्रीवेद, पुरुपवेद और पचेन्द्रिय इन तीन मार्गणाओं में अपर्याप्त-पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय तथा अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय यह चार जीवस्थान कहे गये है। यहाँ अपर्याप्त का मतलब करण-अपर्याप्त है,

लब्धि-अपर्याप्त नही, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त को तो नपुंसक वेद होता है ।

यद्यपि कार्मग्रन्थिकों ने असंज्ञी पंचेन्द्रिय को स्त्री और पुरुष ये दो वेद माने है और सिद्धान्त में नपुसक वेद[1], लेकिन इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है क्योंकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से और कार्मग्रन्थिकों कथन द्रव्यवेद की अपेक्षा से है ।[2]

अनाहारक मार्गणा मे निम्नलिखित आठ जीवस्थान होते है—

अपर्याप्त—पर्याप्त सज्ञी तथा अपर्याप्त, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय । इन आठ में से सात अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है । सव प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते है जिस समय वे विग्रहगति में (वक्रगति में) एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते ।[3]

---

१ ते ण भते ! असन्निपचेन्दियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, नपु सकवेयगा? गोयमा ! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा नपु सगवेयगा ! —भगवती

२ तथापीह स्त्रीपुसलिगाकारमात्रमगीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासज्ञी निर्दिष्ट इत्यदोष । उक्त च पचसग्रह मूल टीकायाम्—

यद्यपि चासज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुसकौ तथापि स्त्रीपुसलिंगाकारमात्रमंगीकृत्य स्त्रीपुसावुक्ताविति ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४६

३ विग्गहगइभावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥

—श्रावकप्रदीप, गा० ६८

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिये छद्मस्थ जीव को पूर्व स्थान छोडकर दूसरे स्थान पर जाना पडता है । यदि दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्रेणि पतित (वक्ररेखा) मे हो तव उसे वक्रगति करनी पडती है । उस स्थिति मे कोई उत्पत्ति स्थान ऐसा होता है जिसको जीव एक विग्रह (घुमाव)

लेकिन पर्याप्त संज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना है कि केवलज्ञानी केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करते हैं।[१]

करके प्राप्त कर लेता है. किसी स्थान के लिये दो और किसी के लिये तीन विग्रह भी करने पड़ते हैं। ये विग्रह उत्पत्तिस्थान की वक्रता पर निर्भर हैं। लेकिन यह निश्चित है कि तीन विग्रह में अवश्य ही उस स्थान को प्राप्त कर लिया जाता है। इस विषय में दिगम्बर साहित्य में विचार-भेद नहीं है—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। —तत्त्वार्थसूत्र २।२८

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। —तत्त्वार्थसूत्र २।३०

इनकी टीकाओ (सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक) मे व गो० जीवकांड (गा० ६६६) मे इसी मत का समर्थन किया है।

लेकिन श्वेताम्बर साहित्य मे मतान्तर का उल्लेख है—

एकं द्वौ वाऽनाहारकः। —तत्त्वार्थसूत्र २।३०

आचार्य उमास्वाति ने अपने भाष्य मे तथा इसकी टीका मे व श्री सिद्धसेनगणि ने त्रिविग्रह गति का भी उल्लेख किया है। साथ ही चतुर्विग्रह गति का मतान्तर भी दिया है। बृहत्संग्रहणी (गाथा ३२५) व भगवती ७।१ तथा १४।१ की टीका में भी इसका सकेत किया है। लेकिन मतान्तर का उल्लेख करके साथ ही यह स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्विग्रह गति का उल्लेख किसी मूल सूत्र मे नही है। इससे तीन विग्रह वाली गति का पक्ष बहुमान्य है।

तीन विग्रह वाली गति तक चार समय लगने के बारे मे श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य मे समानता है कि एक विग्रह में दो समय, दो विग्रह में तीन समय और तीन विग्रह मे चार समय। लेकिन जहाँ चार विग्रह का मत है वहाँ पाँच समय बताये है।

समय-मान की भिन्नता अपेक्षा विशेष से समझना चाहिए लेकिन तीन विग्रह और चार समय का मत बहुमान्य समझना चाहिये।

१ कार्मणशरीरयोगी तृतीयके पचमे चतुर्थे च।
समयत्रये च तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्॥ —प्रशमरति० २

सासादन सम्यक्त्व में सात जीवस्थान कहे है। इन सात जीवस्थानों में छह अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य छह प्रकार के जीवस्थानों में सासादन सम्यक्त्व इसलिये माना जाता है कि जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय या संज्ञो पचेन्द्रिय में जन्म ग्रहण करता है तव उसके अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। परन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करते हुए सूक्ष्म-एकेन्द्रिय मे पैदा नही होता है, इसलिए सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व नही माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सासादन सम्यक्त्व कुछ शुभ परिणाम रूप है और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में महा सक्लिष्ट परिणाम वाला ही उत्पन्न होता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व वाला नही होता है क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले जीव संज्ञी ही होते हैं, दूसरे नही।

मार्गणाओं के ६२ भेदों में जीवस्थानो की संख्या का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिए।[1]

---

१ जीवस्थान बोधक सकेत चिह्न—सं. प. प.—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त। स. पं अप.—सज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त। अस. प. अप.—असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त। अस. प प.—असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त। सू ए. अप.—सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त। सू ए. प—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त। वा. ए. प.—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त। वा. ए. अप—वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त। द्वि. अप.—द्वीन्द्रिय अपर्याप्त। द्वी. प.—द्वीन्द्रिय पर्याप्त। त्री. अप.—त्रीन्द्रिय अपर्याप्त। त्री. प.—त्रीन्द्रिय पर्याप्त। चतु. अप.—चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त। चतु. प.—चतुरिन्द्रिय पर्याप्त।

१५.	६ त्रसकाय	१०	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त से लेकर संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त तक
	योग मार्गणा		
१६.	१ मनोयोग	१	सं. पं. प
१७	२ वचनयोग	५	प - द्वि., त्रि., चतु., असज्ञी पं., संज्ञी पं.
१८.	३ काययोग	१४	सभी जीवस्थान
	वेद मार्गणा		
१९.	१ पुरुष वेद	४	असं पं. अप, असं. पं प., सं. पं. अप., सं. प प
२०	२ स्त्री वेद	४	,, ,, ,,
२१.	३ नपुंसक वेद	१४	सभी जवस्थान
	कषाय मार्गणा		
२२.	१ क्रोध	१४	सभी जीवस्थान
२३.	२ मान	१४	,, ,,
२४.	३ माया	१४	,, ,,
२५.	४ लोभ	१४	,, ,,
	ज्ञान मार्गणा		
२६.	१ मतिज्ञान	२	सं पं. प., सं. पं अप
२७.	२ श्रुतज्ञान	२	,,
२८.	३ अवधिज्ञान	२	,,
२९	४ मनपर्यायज्ञान	१	सं. पं प.
३०.	५ केवलज्ञान	१	स. पं. प.
३१.	६ मतिअज्ञान	१४	सभी जीवस्थान
३२	७ श्रुतअज्ञान	१४	,, ,,
३३.	८ विभगज्ञान	२	सं. पं प., सं. पं. अप.

संयम मार्गणा

३४.	१ सामायिक	१	सं. प प
३५.	२ छेदोपस्थापना	१	,,
३६	३ परिहार विशुद्धि	१	,,
३७	४ सूक्ष्म संपराय	१	,,
३८.	५ यथाख्यात	१	,,
३९.	६ देशविरति	१	,,
४०	७ अविरति	१४	सभी जीवस्थान

दर्शन मार्गणा

४१	१ चक्षुदर्शन	३/६	प –चतु., अ. पं., स. पं. या प –अप.-चतु अ. पं., सं. पं
४२.	२ अचक्षुदर्शन	१४	सब जीवस्थान
४३	३ अवधिदर्शन	२	सं प प., सं प अप
४४.	४ केवलदर्शन	१	स पं. प

लेश्या मार्गणा

४५	१ कृष्ण लेश्या	१/४	सभी जीवस्थान
४६	२ नील लेश्या	१४	,,
४७.	३ कापोत लेश्या	१४	,,
४८.	४ तेजोलेश्या	३	बा ए अप, सं प प., स. प अप
४९.	५ पद्म लेश्या	२	स. प प, स पं. अप
५०.	६ शुक्ल लेश्या	२	,, ,,

भव्यत्व मार्गणा

५१.	१ भव्य	१४	सभी जीवस्थान
५२.	२ अभव्य	१४	,, ,,

सम्यक्त्व मार्गणा

५३	१ औपशमिक	२	सं. पं प, सं पं. अप
५४	२ क्षायोपशमिक	२	,, ,,
५५.	३ क्षायिक	२	,, ,,
५६.	४ मिश्र	१	सं. पं. प
५७.	५ सासादन	७	सं. पं अप. सं. प. प अप.-बा ए. द्वि., त्रि., चतु., अस. प
५८.	६ मिथ्यात्व	१४	सभी जीवस्थान

संज्ञी मर्गणा

५९	१ संज्ञी	२	सं. प. प., स प. अप
६०	२ असज्ञी	१२	आदि के १२ जीवस्थान (संज्ञीद्विक को छोड)

आहारक मार्गणा

६१.	१ आहारक	१४	सभी जीवस्थान
६२	२ अनाहारक	८	सं. पं अप., सं. पं. प., अप-सू. ए, बा ए., द्वि, त्रि., चतु, अस. प

इस प्रकार से मार्गणाओं मे जीवस्थानों के भेदों की संख्या वतला-कर अव आगे मार्गणाओं मे गुणस्थानो की सख्या वतलाते है।

मार्गणाओं में गुणस्थान

पण तिरि चउ सुरनरए नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे।
इग विगल भू दग वणे दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥१९॥

शब्दार्थ—पण—पाँच, तिरि—तिर्यंचगति में, चउ—चार, सुरनरए—देव और नरक गति मे, नर—मनुष्य गति, सन्नि—सज्ञी, पणिंदि—पचेन्द्रिय, भव्व—भव्य, तसि—त्रसकाय मे, सव्वे—सभी,

इग—एकेन्द्रिय, **विगल**—विकलेन्द्रिय, **भू**—पृथ्वीकाय, **दग**—जलकाय, **वण**—वनस्पतिकाय, **दु-दु**—दो-दो, **एगं**—एक, **गइतस**—गतित्रस, **अभव्वे**—अभव्य मे।

गाथार्थ—तिर्यंच गति मे पाँच, देव और नरक गति मे चार, मनुष्य, सज्ञी, पचेन्द्रिय, भव्य, और त्रस मार्गणाओं मे सभी गुणस्थान होते है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, जल और वनस्पति काय मे दो-दो गुणस्थान है। गतित्रस (तेजस्काय और वायु काय) और अभव्य जीवों मे एक ही गुणस्थान होता है।

विशेषार्थ—वर्णन-क्रम के अनुसार मार्गणाओं में जीवस्थानों का कथन करने के बाद इस गाथा से गुणस्थानों की[1] संख्या बतलाई है।

'पण तिरि' तिर्यंचगति मे आदि के पॉच गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति—होते है। क्योंकि उसमें जाति-स्वभाव से सर्वविरति होना सम्भव नही है, और छठे आदि आगे के गुणस्थान सर्वविरति के ही होते है। सर्वविरति का धारण-पालन सिर्फ मनुष्यगति मे हो सकता है।

संयम धारण करने की शक्ति की अभिव्यक्ति न होने से देव और नारक स्वभाव से ही विरति रहित होते है। जिससे उनमे आदि के चार गुणस्थान माने जाते है—चउ सुरनरए।

मनुष्यगति, संज्ञी, पचेन्द्रिय, भव्य और त्रसकाय इन पॉच मार्गणाओं में सभी प्रकार के परिणाम संभव होने से सब गुणस्थान पाये जाते है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, इन सात मार्गणाओं मे मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान पाये जाते

---

१ गुणस्थानो के नाम और उनकी व्याख्या द्वितीय कर्मग्रन्थ गा. २ मे देखिये।

है। अज्ञान के कारण तत्त्वश्रद्धाहीन होने से मिथ्यात्व गुणस्थान तो सामान्यत: इन सभी जीवों मे पाया जाता है और सासादन गुणस्थान इनकी अपर्याप्त अवस्था में ही होता है। क्योंकि एकेन्द्रिय आदि की आयु का बंध हो जाने के बाद जब किसी को औपशमिक सम्यक्त्व होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादन सम्यक्त्व सहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म ग्रहण करता है तब अपर्याप्त अवस्था मे कुछ काल के लिये दूसरा गुणस्थान पाया जाता है।

अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जो सासादन सम्यक्त्व के अधिकारी कहे गये हैं वे करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो मिथ्यात्वी ही होते है।

'एग गइतस अभव्वे' गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय तथा अभव्य जीवों मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। तेजस्काय और वायुकाय इन दोनों मे सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान मानने का कारण यह है कि न तो इनमे औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करने वाला जीव ही इनमें पैदा होता है।

अभव्यों में पहला गुणस्थान इसलिये माना जाता है कि वे स्वभाव से ही सम्यक्त्व लाभप्राप्ति की योग्यता नही रखते है और सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना दूसरे आदि गुणस्थान होना सम्भव नही है।

वेय ति कसाय नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥

शब्दार्थ—**वेय तिकसाय**—वेद और तीन कषाय, **नव**—नौ, **दस**—दस, **लोभे**—लोभ मे, **चउ**—चार, **अजइ**—अविरति मे, **दु ति**—दो अथवा तीन, **अनाणतिगे**—अज्ञानत्रिक मे, **बारस**—बारह, **अचक्खु-चक्खुसु**—अचक्षु और चक्षु दर्शन मे, **पढमा**—पहले, आदि के, **अहखाइ**—यथाख्यात मे, **चरम**—अंत के, **चउ**—चार।

गाथार्थ—तीन वेद और तीन कषायों में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभकषाय मे पहले दस गुणस्थान पाये जाते है। अविरति में चार तथा अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान होते है। अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन में पहले बारह गुणस्थान और यथाख्यात चारित्र मे अंत के चार गुणस्थान है।

विशेषार्थ—गाथा मे वेद, कषाय, ज्ञान, संयम आदि दर्शन मार्गणा के अवान्तर भेदों मे गुणस्थानो की सख्या बतलाई है।

'वेद ति कसाय' पद मे 'ति' शब्द मध्यदीपक न्याय से वेद मार्गणा के तथा कषाय मार्गणा के तीन-तीन भेदों का बोध कराता है कि पुरुष, स्त्री और नपुसक इन तीन वेदो तथा कषाय मार्गणा के क्रोध, मान, माया इन तीन भेदों मे आदि के नौ गुणस्थान—मिथ्यात्व से लेकर अनिवृत्तिबादर पर्यन्त—होते है। पुरुष आदि माया पर्यन्त छह मार्गणाओ मे नौ गुणस्थान उनके उदय की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि नौवे गुणस्थान के अतिम समय मे तीन वेद और क्रोध आदि तीन संज्वलन कषाय या तो क्षीण हो जाते है या उपशात, इस कारण आगे के गुणस्थानो मे उनका उदय नही रहता है। लेकिन सत्ता की दृष्टि से इन छह मार्गणाओं में गुणस्थानो का विचार किया जाये तो इनके ग्यारहवे उपशात मोह गुणस्थान तक पाये जाने से ग्यारह गुणस्थान होगे।

इसी प्रकार से लोभ (संज्वलन लोभ) का उदय भी दसवे गुण स्थान तक रहता है। अतएव इसमे दस गुणस्थान समझना चाहिये और सत्ता तो ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

संयम मार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरति सम्यग्दृष्टि होते है। क्योंकि पाँचवाँ और उससे आगे के सब गुणस्थान विरति रूप है।

'दु ति अनाणतिगे' अज्ञान-त्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान) मे आदि के दो—मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान अथवा मतान्तर से आदि के तीन गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थान—माने जाते है। अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने सम्वन्धी मतभिन्नता कार्मग्रंथिक है। सिद्धांत में तो सासादन को ज्ञान रूप माना है। अत: अज्ञानत्रिक मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान बताया है। लेकिन कुछ एक कार्मग्रंथिक आचार्यो ने अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान और कुछ एक ने तीन गुणस्थान माने है। इस प्रकार से अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने सम्बन्धी दो मत हैं।[1] इन दोनो मतों का दृष्टिकोण नीचे लिखे अनुसार है—

अज्ञानत्रिक में मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान मानने वाले आचार्यो का अभिप्राय यह है कि तीसरे मिश्र गुणस्थान के समय भले ही शुद्ध सम्यक्त्व—यथार्थ रूप से वस्तु तत्त्व का निर्णय—न हो किन्तु उस गुणस्थान मे मिश्रदृष्टि होने से यर्थाथ ज्ञान की थोड़ी-बहुत मात्रा रहती है। क्योकि मिश्रदृष्टि के समय जव मिथ्यात्व का उदय अधिक प्रमाण में रहता है तव तो अज्ञान का अश अधिक और ज्ञान का अश अल्प होता है। लेकिन जव मिथ्यात्व का उदय मद और सम्यक्त्व पुद्गलों का उदय तीव्र रहता है तव ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है।[2] इस

---

१ दिगम्वर साहित्य मे अज्ञानत्रिक मे पहले दो गुणस्थान माने है—

थावरकायप्पहुदी मदिसुदअण्णाणय विभगो दु।
सण्णीपुण्णप्पहुदी सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥ —गो० जीवकांड ६८७

२ मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानवाहुल्य सम्यक्त्वाधिकस्य पुन. सम्यग्ज्ञान-वाहुल्यमिति। —जिनवल्लभीय षडशीति टीका

—मिथ्यात्व अधिक होने पर मिश्रदृष्टि मे अज्ञान की वहुलता और सम्यक्त्व अधिक होने पर ज्ञान की वहुलता होती है।

प्रकार से मिश्रदृष्टि की चाहे कैसी भी अवस्था हो, किन्तु उसमे न्यून-अधिक प्रमाण मे ज्ञान सम्भव होने के कारण उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना उचित है। इसीलिये अज्ञानत्रिक मे दो गुणस्थान मानना चाहिये।[1]

अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्यो का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान के समय यद्यपि अज्ञान को ज्ञान मिश्रित कहा है।[2] तथापि मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नही है, अज्ञान ही मानना चाहिये। क्योकि शुद्ध सम्यक्त्व के विना कैसा भी ज्ञान हो, वह अज्ञान ही है। यदि सम्यक्त्व के अश के कारण तीसरे गुणस्थान मे ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मान लिया जाये तो दूसरे गुणस्थान मे भी सम्यक्त्व का अश होने से ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना पड़ेगा। लेकिन यह इष्ट नही है और इसका कारण यही है कि अज्ञानत्रिक मे दो गुणस्थान मानने वाले भी दूसरे गुणस्थान मे मति आदि को अज्ञान मानते है। इस कारण सासादन की तरह मिश्र गुणस्थान मे भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानना उचित है।[3]

---

१ अज्ञानत्रिके ‥ ‥प्रथमद्वे गुणस्थानके ‥ ‥भवत, न मिश्रमपि। यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति, तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वाद् अतएव न मिश्र गुणस्थानकमभिधीयते। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४७

२ मिस्समी वा मिस्सा। —पंचसंग्रह १।२०
मिश्रज्ञान से मिश्रित अज्ञान ही होता है शुद्ध ज्ञान नही होता है।

३ अन्ये पुनराहु —अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि‥ ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते न शुद्धाज्ञानानि तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्रज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्, अन्यथाहि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्यापि ज्ञानाभ्युपगम. स्यात् न चैतदस्ति

अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन में पहले मिथ्यात्व से लेकर बारहवे क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान माने हैं। वे इस अभिप्राय से माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक है और क्षायोपशमिक भाव क्षायिक भाव के पूर्व तक पाये जाते है। क्षायिक भाव तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान में तथा क्षायोपशमिक भाव बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं और क्षायिक भाव होने पर क्षायोपशमिक भाव का अभाव हो जाता है। उन दोनों का साहचर्य नही रहता है।

यथाख्यात सयम मे अन्तिम चार गुणस्थान है—'अहखाइ चरम चउ।' मोहनीय कर्म का उदयाभाव ग्यारहवे उपशान्त मोह गुणस्थान से लेकर चौदहवे अयोगि केवली गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में रहने के कारण यथाख्यात सयम मे अन्त के चार गुणस्थान माने जाते है।

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥

शब्दार्थ—**मणनाणि**—मनपर्याय ज्ञान मे, **सग**—सात, **जयाई**—प्रमत्तसयत आदि, **समइय**—सामायिक, **छेय**—छेदोपस्थापना, **चउ**—चार, **दुन्नि**—दो, **परिहारे**—परिहारविशुद्धिसयम मे, **केवलदुगि**—केवल द्विक मे, **दो**—दो, **चरमा**—अत के, **अजयाइ**—अविरति आदि, **नव**—नौ, **मइसुओहिदुगे**—मति श्रुत ज्ञान और अवधिद्विक मे।

गाथार्थ—मनपर्याय ज्ञान मे प्रमत्तसंयत आदि सात, सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय सयम में प्रमत्तसंयत आदि चार, परिहारविशुद्धिसयम मे प्रमत्तसंयत आदि दो तथा केवल-

---

तस्याज्ञानित्वेनानन्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात् तस्माद् अज्ञानत्रिके प्रथम गुणस्थानकत्रयमवाप्यत इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४८

द्विक मे अन्त के दो गुणस्थान होते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन—इन चार मार्गणाओं मे अविरति आदि नौ गुणस्थान है।

विशेषार्थ—गाथागत 'जयाई' पद का 'प्रमत्तसयत' नामक छठा गुणस्थान अर्थ है और इस छठे गुणस्थान को आदि मानकर मनपर्याय-ज्ञान मे सात, सामायिक, छेदोपस्थापना संयम मे चार, परिहार-विशुद्धिसयम में दो गुणस्थान वतलाये है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का आत्यन्तिक क्षय अन्तिम दो गुणस्थानों मे होने से केवलद्विक में अन्त के दो तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिद्विक इन चार के क्षायोपशमिक भाव होने से चौथे अविरति आदि नौ गुण-स्थान कहे है।

मनपर्याय ज्ञान की प्राप्ति तो सातवे गुणस्थान मे होती है और मनपर्याय ज्ञानी प्रमत्तसयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान तक पाये जाते है। इसीलिये छठे से लेकर बारहवे गुणस्थान तक सात गुणस्थान माने है।

मनपर्याय ज्ञान की प्राप्ति प्रमादरहित सर्वविरति-सयम सापेक्ष है और परिपूर्ण सयम पालन के अधिकारी मनुष्य है। क्योंकि देव और नारक अपनी स्वभावगत विशेषता से सयम पालन करने मे सक्षम नही है और तिर्यंच भी एकदेश चारित्र पालन कर सकते है। मनुष्यो मे भी सभी प्रकार के मनुष्यों को नही लेकिन उनमे पाया जाता है जो कर्मभूमिज सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, गर्भज, सम्यग्दृष्टि, सर्वविरति है और प्रवर्धमान चारित्र वाले है।

सामायिक से लेकर यथाख्यात पर्यन्त पाँचों सयमों के लिये यह सामान्य नियम है कि इनका पालन संयत मुनि करते है और उनकी प्राप्ति भी सर्वसयम सापेक्ष है। लेकिन भेदों की अपेक्षा उनमें पाये जाने वाले गुणस्थानों की संख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी चाहिये।

सामायिक, छेदोपस्थापनीय यह दो सयम छठे प्रमत्तसयत से लेकर नौवे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान तक चार गुणस्थानों मे पाये जाते है। क्योंकि ये सरागसयम होने से ऊपर के गुणस्थानों मे नही है।

परिहारविशुद्धि सयम के रहने पर श्रेणि नही की जा सकती है। और श्रेणि का आरोहण आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इसीलिये उसमें छठवाँ और सातवाँ यह दो गुणस्थान समझना चाहिए।

केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दोनो क्षायिक भाव है। क्षायिक भाव वे कहलाते है जो तदावरण कर्म के आत्यन्तिक क्षय होने से सदा-सर्वदा के लिये निरावण होकर एक रूप में रहते है, किसी प्रकार की विकृति नही आती है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षय बारहवे—क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय मे हो जाने से तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है और तेरहवे, चौदहवें गुणस्थान-वर्ती सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान सदा के लिये केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा पदार्थ स्वरूप का बोध करते रहते है। इसीलिये केवलद्विक में तेरहवाँ और चौदहवाँ यह दो गुणस्थान माने जाते है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान व अवधिदर्शन वाले चौथे अविरति से लेकर बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान तक नौ गुण-स्थान में वर्तमान रहते है। क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व अर्थात् पहले तीन गुणस्थानो में मति आदि अज्ञान रूप होते है और अन्तिम दो गुणस्थानो मे क्षायिक उपयोग होने से इनका अभाव हो जाता है।

ं अवधिदर्शन मे नौ गुणस्थान कार्मग्रथिक मतानुसार कहे गये है। लेकिन कुछ कार्मग्रन्थिक विद्वान पहले तीन गुणस्थानो मे अवधि-दर्शन नही मानते है और कुछ विद्वान तीसरे से लेकर बारहवे गुण-स्थान तक दस गुणस्थान मानते है। इस मतभिन्नता का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

सिद्धात के मतानुसार अवधिदर्शन में पहले से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त बारह गुणस्थान होते है। सिद्धान्त पक्ष का साराश यह है कि—

सिद्धात मे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन का भेदविवक्षा से ही वर्णन किया गया है—अर्थात् अवधिज्ञानी की तरह विभगज्ञानी को भी अवधिदर्शन माना है।[1] जिसका अर्थ यह है—'हे भगवन्! अवधिदर्शन रूप अनाकार उपयोग वाले जीव ज्ञानी है या अज्ञानी? "गौतम! ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी है वे तीन ज्ञान वाले और कुछ चार ज्ञान वाले है। जो अज्ञानी है वे मतिअज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभगज्ञानी समझना चाहिये।" इस अपेक्षा से अवधि-दर्शन पहले से बारह गुणस्थान तक होता है और इस पक्ष का मतव्य यह है कि अवधिज्ञान की तरह विभंगज्ञानी के भी दर्शन मे निरा-कारता रूप अश समान है, जिससे अवधिदर्शन अलग से नाम रखने की जरूरत नही है।

सिद्धात के उक्त पक्ष का साराश यह है कि विभंगज्ञान और अवधिदर्शन दोनों में भेद है अभेद नही। इसी कारण विभंग-ज्ञानी मे अवधिदर्शन माना जाता है। सिद्धांत के मतानुसार सिर्फ

---

१ ओहिदसणअणागारोवउत्ता ण भते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी वि अन्नाणी वि। जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिनाणी, अत्थेगइआ चउणाणी। जे तिणाणी ते आभिणिबोहिणाणी सुयणाणी ओहिणाणी। जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी। जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी।

—भगवती ८।२

सैद्धांतिक पक्ष को श्री मलयागिरि सूरि ने पचसग्रह द्वार १।३९ की टीका मे तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा २९ की टीका मे स्पष्टता बताया है।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे विभंगज्ञान संभव है, दूसरे आदि में नही। इसीलिये दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान में विभगज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर एक से बारह तक गुणस्थान माने जाते है। अवधिज्ञानी और विभगज्ञानी के दर्शन में निराकारता अश समान ही है। इसीलिए विभगज्ञानी के दर्शन का विभगदर्शन ऐसा अलग नाम न रखकर अवधिदर्शन ही नाम रखा है।

कार्मग्रन्थिक विद्वानो के अवधिदर्शन में चौथे से बारह तक नौ गुणस्थान तथा तीसरे से बारह तक दस गुणस्थान[1] मानने सम्बन्धी दोनों पक्षों के कथन का साराश इस प्रकार है कि—

१. पहला पक्ष चौथे से लेकर बारहवे तक नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा २९ में भी निर्दिष्ट है। जिसके आधार से इस ग्रथ मे श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने मूल और टीका में चौथे से लेकर बारह तक नौ गुणस्थान माने है जो पहले तीन गुणस्थानो में अज्ञान मानने वाले कार्मग्रथिकों को मान्य है। इस पक्ष का संकेत सर्वार्थसिद्धि टीका (तत्त्वार्थसूत्र १७) मे भी किया गया है—

अवधिदर्शने असंयत सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि।

---

१ गो० जीवकाड मे भी दोनो पक्षो का सकेत गा० ६९१ और ७०५ मे किया गया है—

चउरक्खथावराविरद सम्माइट्ठी दु खीणमोहो त्ति।
चक्खु अचक्खु ओही जिण सिद्धे केवल होदि ॥६९१
दोण्हं पच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होंति वामिस्सा।
सत्तुव जोगा सत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥७०५

२ दूसरा पक्ष तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष इसी ग्रन्थ की ४८वी गाथा तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ की गाथा ७०-७१ मे निर्दिष्ट है। यह पक्ष पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान तथा मिश्रित दृष्टि को ज्ञान मानने वाले कार्मग्रंथिक विद्वानों को मान्य है।

इन दोनों पक्षों का तात्पर्य इस प्रकार है कि पहले तीन गुणस्थानों मे अज्ञान मानने वाले और पहले दो गुणस्थानों मे अज्ञान मानने वाले दोनों प्रकार के कार्मग्रन्थिक विद्वान अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते है पर विभगज्ञान से अवधिदर्शन का उपयोग अलग नही मानते है। इसका कारण यह है कि जैसे विभंगज्ञान से विषय का यथार्थ ज्ञान नही होता है वैसे ही मिथ्यात्व युक्त अवधिदर्शन से भी विषय का यथार्थ ज्ञान नही होता है। इस अभेदविवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे से बारह तक और दूसरे मत के अनुसार तीसरे से बारह गुणस्थान तक अवधिदर्शन माना जाता है।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते है कि विशेप अवधि उपयोग से सामान्य उपयोग भिन्न है, इसलिये जिस प्रकार अवधि उपयोग वाले सम्यग्दृष्टि मे अवधिज्ञान और अवधिदर्शन दोनों अलग-अलग है इसी प्रकार अवधि उपयोग वाले अज्ञानी मे भी विभगज्ञान और अवधिदर्शन ये दोनो वस्तुतः भिन्न है, तो भी विभंगज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनो के पारस्परिक भेद की अविवक्षा मात्र है। भेद विवक्षित न रहने का कारण दोनों का सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभगज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नही कर सकता वैसे ही अवधिदर्शन भी सामान्य रूप होने के कारण विषय का निश्चय नही कर सकता है। इसी अभेद विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे

आदि नौ गुणस्थानों में और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन समझना चाहिए।

कार्मग्रंथिक पक्ष विभंगज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनों के भेद की विवक्षा नही करता है किन्तु सैद्धातिक पक्ष करता है।

अड उवसमि चउ वेयगि खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमे य सठाणं तेर जोग आहार सुक्काए ॥२२॥

शब्दार्थ—अड—आठ, **उवसमि**—औपशमिक मे, **चउ**—चार, **वेयगि**—वेदक, क्षायोपशमिक मे, **खइगे**—क्षायिक मे, **इक्कार**—ग्यारह, **मिच्छतिगि**—मिथ्यात्वत्रिक मे, **देसे**—देशविरति मे, **सुहुमे**—सूक्ष्म-सपराय मे, **य**—और, **सठाणं**—अपने-अपने नाम वाला गुणस्थान, **तेर**—तेरह, **जोग**—योगमार्गणा मे, **आहार**—आहारक मार्गणा मे, **सुक्काए**—शुक्ल लेश्या मे।

गाथार्थ—औपशमिक सम्यक्त्व मे आठ, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चार, क्षायिक सम्यक्त्व मे ग्यारह तथा मिथ्यात्वत्रिक—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र एवं देश विरति, सूक्ष्मसपराय मे अपने-अपने नाम वाले तथा योग, आहारक और शुक्ल लेश्या मे तेरह गुणस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे सम्यक्त्व मार्गणा के भेदो के साथ-साथ संयम, योग, आहारक व लेश्या मार्गणा के भेदो में गुणस्थानों की सख्या बतलाई है। सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक आदि छह भेदों के नाम पहले बतलाये जा चुके है। उनमे गुणस्थानो की सख्या नीचे लिखे अनुसार है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रारभिक भूमिका अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान है, अत: औपशमिक सम्यक्त्व आदि मे गुणस्थानों की संख्या की गणना चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से प्रारम्भ करनी चाहिये।

औपशमिक सम्यक्त्व मे आठ गुणस्थान 'अड उवसमि' है। अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व मे चौथे से लेकर ग्यारहवे तक आठ गुणस्थान होते है। इनमें से चौथा आदि चार गुणस्थान ग्रथिभेद-जन्य प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय और आठवें से लेकर ग्यारहवे तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के समय होते है। इन दोनों प्रकार के औपशमिक सम्यक्त्व के कुल मिलाकर आठ गुणस्थान होते है जो औपशमिक सम्यक्त्व मे माने जाते है।

वेदक सम्यक्त्व यानी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व श्रेणि आरोहण के पूर्व तक ही रहता है और तभी होता है जब सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो। श्रेणि का आरम्भ आठवे गुणस्थान से होता है तथा सम्यक्त्व मोहनीय का उदय उससे पूर्व गुणस्थान अर्थात् सातवे तक रहता है। इसीलिये वेदक सम्यक्त्व मे चौथे से लेकर सातवे तक चार गुणस्थान समझना चाहिये।

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे-पॉचवे आदि गुणस्थान मे प्राप्त होता है और प्राप्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसीलिये इसमें 'खइगे-इक्कार' चौथे आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये है।

"मिच्छतिगि देसे सुहुमे य सठाण"—यानी सम्यक्त्व मार्गणा के मिथ्यात्वत्रिक—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन भेदों में क्रमशः अपने-अपने नाम वाला पहला, दूसरा, तीसरा तथा संयम मार्गणा के भेद देशविरति व सूक्ष्मसपराय संयम मे पॉचवा, दसवॉ एक, एक गुणस्थान होता है। क्योंकि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व रूप, दूसरा सासादन भाव रूप, तीसरा मिश्रदृष्टि रूप, पाँचवाँ ही देशविरति रूप और दसवाँ ही सूक्ष्मसंपराय रूप है। इसीलिये मिथ्यात्व आदि में एक-एक गुणस्थान कहा गया है।

योग मार्गणा के भेद—मनोयोग, वचनयोग और काययोग

तीन योगो[1] तथा आहारक[2] तथा शुक्ललेश्या मे मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। क्योंकि चौदहवे अयोगिकेवलिगुणस्थान मे न तो किसी प्रकार का योग रहता है, न किसी प्रकार का आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्या ही रहती है। इसीलिये इन मार्गणाओं मे तेरह गुणस्थान माने है।

---

१ योगमार्गणा मे गुणस्थानो का कथन मनोयोग आदि सामान्य योगो की अपेक्षा से किया गया है। उनके अवान्तर भेदो की अपेक्षा गुणस्थान इस प्रकार है—

१ सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन और औदारिक काययोग इन पाँच योगो मे तेरह गुणस्थान होते है।

२ असत्यमन, मिश्रमन, असत्यवचन, मिश्रवचन, इन चार योगो मे पहले बारह गुणस्थान होते है।

३ औदारिकमिश्रयोग तथा कार्मण काययोग मे पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान है।

४ वैक्रिय काययोग मे पहले सात और वैक्रियमिश्र काययोग मे पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा ये पाँच गुणस्थान है।

५ आहारक काययोग मे छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान और आहारकमिश्र काययोग मे सिर्फ छठा गुणस्थान होता है।

२ तेरहवें गुणस्थान मे आहारकत्व को दिगम्बर साहित्य मे भी माना है—
आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि।

—सर्वार्थ सिद्धि टीका, १।८

तेरहवे गुणस्थान मे असातावेदनीय का उदय भी दोनो सम्प्रदाय के साहित्य मे माना है तथा आहारसज्ञा न होने पर भी कार्मणशरीर नाम-कर्म के उदय से कर्म पुद्गलो की तरह औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक पुद्गलो का ग्रहण दिगम्बर ग्रन्थो मे माना है। इस तरह केवलज्ञानी मे आहारकत्व उसका कारण असातावेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलो का ग्रहण दोनो सम्प्रदायो मे समान रूप से मान्य है।

**अस्सन्निसु पढमदुगं पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥**

शब्दार्थ—अस्सन्निसु—असज्ञी मार्गणा मे, **पढमदुगं**—आदि के दो, **पढम तिलेसासु**—पहली तीन लेश्याओ मे, **छच्च**—छह, **दुसु**—वाद की दो मे, **सत्त**—सात, **पढमंतिम दुग अजया**—पहले और अंतिम दो-दो तथा अविरति, **अणहारे**—अनाहारक मार्गणा मे, **मग्गणासु**—मार्गणाओ मे, **गुणा**—गुणस्थान।

गाथार्थ—असज्ञियों मे पहले दो गुणस्थान होते है। कृष्ण आदि तीन लेश्याओ में पहले छह तथा बाद की दो लेश्याओं में सात, अनाहारक मार्गणा में पहले दो, अतिम दो और अविरति गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार से मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन किया गया है।

विशेषार्थ—इस गाथा मे पूर्वोक्त मार्गणाओं के अवान्तर भेदों से शेष रहे भेदों में गुणस्थानों की सख्या वतलाकर मार्गणाओं मे गुण-स्थान के कथन की समाप्ति का संकेत किया है। शेष रहे मार्गणाओं के अवान्तर भेदों के नाम यह है—असंज्ञी, कृष्ण, नील, कापोत, तेजः और पद्म लेश्या, अनाहरकत्व।

असंज्ञी में पहले दो गुणस्थान होते है। पहला गुणस्थान तो सामान्यत. सभी असज्ञी जीवों को होता है, दूसरा गुणस्थान लब्धि-पर्याप्तको को करण-अपर्याप्त अवस्था में होता है।[1] क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भाव सहित आकर जन्म ग्रहण नही करता है।

---

१ ······मिथ्यात्वमविशेपेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सासादनं तु ल ब्धपर्याप्तकान करणापर्याप्तावस्थायामिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १

कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमें से पहले चार गुणस्थान तो ऐसे है जिनकी प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्याये होती हैं, परन्तु पाँचवाँ और छठा गुणस्थान सम्यक्त्वमूलक विरति रूप है और इनकी प्राप्ति तेजः आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है, कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओ के समय नही, तो भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणाम-शुद्धि कुछ घट जाने पर इन दो गुणस्थानों में अशुभ लेश्याये भी आ जाती है।[1] इसीलिये कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में पाँचवाँ और छठा यह दो गुणस्थान माने जाते है।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या मे पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवे अप्रमत्तसंयत तक यह सात गुणस्थान है। इसका कारण यह है कि यह दोनों लेश्याये सातों गुणस्थानों को प्राप्त करने के समय (प्रतिपद्यमान स्थिति मे) और प्राप्ति के बाद (पूर्वप्रतिपन्न) भी रहती है।

---

१ (क) सम्मत्तसुयं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्त।
पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥
—आव० निर्युक्ति ८८२

—सम्यक्त्व की प्राप्ति सब लेश्याओ मे होती है किन्तु चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओ मे होती है और चारित्र प्राप्त होने के बाद छह मे से कोई भी लेश्या हो सकती है।

(ख) सामाइयसंजए ण भते! कइ लेसासु हुज्जा? गोयमा! छसु लेसासु होज्जा, एव छेओवट्ठावणियसजए वि। —भगवती २५।७

कही-कही कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओ मे पहले चार गुणस्थान ही माने जाते है, सो गुणस्थानो की प्राप्ति की अपेक्षा से यानी उक्त तीन लेश्याओ के समय पहले चार गुणस्थानो के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नही किया जा सकता है।

सम्बन्धित विशेप जानकारी के लिये देखे पचसंग्रह १।२९, ३०।—तृतीय कर्मग्रन्थ गा० २४ और गो० जीवकांड गा० ५३२।

अनाहारक मार्गणा में 'पढमंतिम दुगअजया अणहारे' पद से आदि के दो—पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन तथा अंतिम दो—तेरहवाँ सयोगिकेवली, चौदहवाँ अयोगिकेवली और चौथा अविरति यह पाँच गुणस्थान बतलाये है। अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान अनाहारक मार्गणा मे होते है। इनमें से पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान तो विग्रहगति की अनाहारककालीन अवस्था की अपेक्षा से, तेरहवाँ गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे होने वाली अनाहारकत्व अवस्था की अपेक्षा से और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारकत्व की अपेक्षा से यानी योग का अभाव हो जाने से औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरपोषक पुद्गलों को ग्रहण न करने की एवं उन-उन पुद्गलो का आगमन रुक जाने की अपेक्षा से समझना चाहिये।

तेरहवे सयोगिकेवली गुणस्थान मे केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे अनाहारकत्व माना है। अतः यहाँ केवली समुद्घात[1] संबंधी प्रक्रिया आदि पर विचार करते है।

केवलीसमुद्घात का स्वरूप

केवली समुद्घात सयोगिकेवली करते है। यह समुद्घात अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेप रहने पर वेदनीय आदि अघाति कर्मो की स्थिति व दलिक आयु कर्म की स्थिति और दलिक से अधिक होने पर उन्हें आयु कर्म की स्थिति आदि के वरावर करने के लिये किया जाता है।

---

१ जैसे जैनदर्शन मे वेदनीय आदि कर्मो को शीघ्र भोगने के लिये समुद्घात क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातजल योग दर्शन मे 'वहुकाय निर्माण' क्रिया मानी है। जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी सोपक्रम कर्म शी- भोगने के लिए करता है।

—देखिये पातं० सूत्र ३।२२ का भाष्य व वृत्ति; ४।४ का भाष्य व वृ

केवली समुद्घात रचने के पूर्व केवली द्वारा आयोजिकाकरण[1] रूप एक विशेष क्रिया की जाती है जो शुभयोग रूप है, स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसका कार्य उदयावलिका में कर्मदलिकों का निक्षेप करना है।

केवली समुद्घात का कालमान आठ समय का है। इन आठ समय के कालमान के प्रथम समय में आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर दडाकार रूप मे फैला दिया जाता है। इस दंड की ऊँचाई लोक-प्रमाण होती है, अर्थात् लोक के ऊपर से लेकर नीचे तक चौदह राजू प्रमाण होती है, लेकिन मोटाई सिर्फ शरीर के बरावर। दूसरे समय में उस दंड को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलाकर कपाट (किवाड) जैसा आकार बनाया जाता है।

तीसरे समय मे कपाटाकार आत्म-प्रदेशों को पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण दोनों तरफ फैलाया जाता है जिससे उनका आकार मथनी जैसा वन जाता है। चौथे समय में विदिशाओं के खाली भाग को आत्मप्रदेशों से पूर्ण करके सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया जाता है।

उक्त चार समयों में की गई प्रक्रिया के बाद पाँचवे समय मे लोकव्यापी आत्मप्रदेशों को सहरण करके पुनः मथनी के आकार का बनाया जाता है। छठे समय मे मथनी आकार के आत्मप्रदेशों को कपाटाकार, सातवें समय में कपाटाकार प्रदेशो को दडाकार वनाया जाता

---

१ मोक्ष की ओर आवर्जित (झुकी हुई) आत्मा के द्वारा किये जाने से उसको आवर्जितकरण भी कहते है। सभी केवलज्ञानियो द्वारा किये जाने के कारण आवश्यककरण भी कहते है। श्वेताम्बर साहित्य मे आयोजिकाकरण आदि तीन संज्ञाये प्रसिद्ध है, लेकिन दिगम्बर साहित्य मे सिर्फ आवर्जितकरण प्रसिद्ध है। इन सज्ञाओ की विशद व्याख्या आदि के लिए देखिये—विशेष आवश्यक भाष्य गा० ३०५०-५१ व पचसंग्रह १।१६ की टीका।

है और आठवे समय मे इन दंडाकार आत्मप्रदेशो को उनकी यथार्थ स्थिति—शरीरस्थ—में किया जाता है।

केवली समुद्घात के उक्त आठ समयों मे से तीसरे (मथनी), चौथे (लोकपूर्ण) और पाँचवे (मथनी) समय में नोकर्माहार ग्रहण नही होने से अनाहारक दशा मानी जाती है[1] और इसीलिये तेरहवाँ गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में ग्रहण किया है।

ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि तीसरे, बारहवें और तेरहवे इन तीन गुणस्थानो मे मरण नही होता है, शेष ग्यारह गुणस्थानो में मरण सम्भव है। इस पर प्रश्न होता है कि जब उक्त ग्यारह गुणस्थानों मे मरण सम्भव है तब विग्रहगति मे पहला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान कैसे माने जा सकते है ? इसका समाधान यह है कि पाँचवाँ देशविरति आदि आगे के गुणस्थान विरति रूप है और विरति का सम्बन्ध वर्तमान भव के अतिम समय तक ही रहता है, लेकिन विग्रहगति में किसी प्रकार का सयम सम्भव नही होने से पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान माने जाते है।

इस प्रकार से मार्गणाओं मे गुणस्थान बतलाये गये है, जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	गुणस्थान संख्या व नाम
	गतिमार्गणा	
१	१ नरक गति	४ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
२.	२ तिर्यंच गति	५ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति

---

१ णवदि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे।
णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारय तत्थ ॥ —क्षपणासार ६१९

३.	३	मनुष्य गति	१४ मिथ्यात्व से अयोगिकेवलि पर्यन्त
४.	४	देव गति	४ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
		इन्द्रियमार्गणा	
५.	१	एकेन्द्रिय	२ मिथ्यात्व, सासादन
६.	२	द्वीन्द्रिय	२ ,, ,,
७	३	त्रीन्द्रिय	२ ,, ,,
८.	४	चतुरिन्द्रिय	२ ,, ,,
९.	५	पंचेन्द्रिय	१४ मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवलि पर्यन्त
		कायमार्गणा	
१०.	१	पृथ्वीकाय	२ मिथ्यात्व, सासादन
११	२	जलकाय	२ ,, ,,
१२.	३	तेजस्काय	१ मिथ्यात्व
१३	४	वायुकाय	१ ,,
१४.	५	वनस्पतिकाय	२ मिथ्यात्व, सासादन
१५	६	त्रसकाय	१४ मिथ्यात्व आदि अयोगि केवली पर्यन्त
		योगमार्गणा	
१६.	१	मनोयोग	१३ मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
१७	२	वचनयोग	१३ ,, ,,
१८.	३	काययोग	१३ ,, ,,
		वेदमार्गणा	
१९	१	पुरुष वेद	९ मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
२०.	२	स्त्री वेद	९ ,, ,,
२१.	३	नपुंसक वेद	९ ,, ,,
		कषायमार्गणा	
२२.	१	क्रोध	९ मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
२३.	२	मान	९ ,, ,,

२४.	३ माया	९	मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
२५.	४ लोभ	१०	मिथ्यात्व आदि सूक्ष्म संपराय पर्यन्त
	ज्ञानमार्गणा		
२६	१ मतिज्ञान	९	अविरति आदि क्षीणमोह पर्यन्त
२७.	२ श्रुतज्ञान	९	,, ,,
२८	३ अवधिज्ञान	९	,, ,,
२९.	४ मनपर्यायज्ञान	७	प्रमत्तसयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त
३०	५ केवलज्ञान	२	सयोगिकेवली, अयोगिकेवली
३१.	६ मतिअज्ञान	२ या ३	मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र
३२.	७ श्रुतअज्ञान	२ या ३	,, ,, ,,
३३.	८ अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान)	२ या ३	मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र
	संयममार्गणा		
३४	१ सामायिक	४	प्रमत्तसयत आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
३५.	२ छेदोपस्थापनीय	४	प्रमत्तसयत आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
३६.	३ परिहारविशुद्धि	२	प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसंयत
३७.	४ सूक्ष्मसपराय	१	सूक्ष्मसपराय गुणस्थान
३८.	५ यथाख्यात	४	उपशान्त मोह आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
३९.	६ देशविरति	१	देशविरति गुणस्थान
४०.	७ अविरति	४	मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
	दर्शनमार्गणा		
४१.	१ चक्षुदर्शन	१२	मिथ्यात्व आदि क्षीणमोह पर्यन्त
४२.	२ अचक्षदर्शन	१२	,, ,,

४३	३ अवधिदर्शन	९	अविरति आदि क्षीणमोह पर्यन्त
४४	४ केवलदर्शन	२	सयोगि केवली, अयोगि केवली
	लेश्यामार्गणा		
४५.	१ कृष्णलेश्या	६	मिथ्यात्व आदि प्रमत्तसंयत पर्यन्त
४६.	२ नीललेश्या	६	,, ,,
४७.	३ कापोतलेश्या	६	,, ,,
४८	४ तेजोलेश्या	७	मिथ्यात्व आदि अप्रमत्तसयत
४९.	५ पद्मलेश्या	७	,, ,, ,,
५०.	६ शुक्ललेश्या	१३	मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
	भव्यमार्गणा		
५१.	१ भव्यत्व	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
५२.	२ अभव्यत्व	१	मिथ्यात्व
	सम्यक्त्वमार्गणा		
५३.	१ औपशमिक	८	अविरति आदि उपशातमोह पर्यन्त
५४.	२ क्षायोपशमिक	४	अविरति आदि अप्रमत्तविरत पर्यन्त
५५.	३ क्षायिक	११	अविरति आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
५६.	४ मिश्र	१	मिश्र गुणस्थान
५७.	५ सासादन	१	सासादन गुणस्थान
५८.	६ मिथ्यात्व	१	मिथ्यात्व गुणस्थान
	संज्ञीमार्गणा		
५९	१ सज्ञित्व	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
६०.	२ असज्ञित्व	२	मिथ्यात्व, सासादन
	आहारमार्गणा		
६१.	१ आहारक	१३	मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
६२.	२ अनाहारक	५	मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोगि केवली, अयोगि केवली

अब आगे की गाथाओं में मार्गणाओं में योगों की संख्या बतलाते है—

मार्गणाओं में योग

सच्चेयर मीस असच्चमोस मण वइ विउव्वियाहारा ।
उरलं मीसा कम्मण इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥

शब्दार्थ—**सच्च**—सत्य, **इयर**—इतर-असत्य, **मीस**—मिश्र, (सत्यासत्य), **असच्चमोस**—असत्यामृपा, **मण**—मनोयोग, **वइ**—वचनयोग, **विउव्वियाहारा**—वैक्रिय, आहारक, **उरलं**—औदारिक, **मीसा**—मिश्र, **कम्मण**—कार्मण, **इय**—इस तरह, **जोगा**—योग, **कम्मं**—कार्मण योग, **अणहारे**—अनाहारक मार्गणा मे ।

गाथार्थ—सत्य, असत्य, मिश्र (सत्यासत्य) और असत्या-मृपा ये चार-चार भेद मनोयोग और वचनयोग के है। वैक्रिय, आहारक, औदारिक तथा इन तीनो के मिश्र और कार्मण यह काययोग के भेद है। अनाहारक मार्गणा में कार्मण योग होता है।

विशेषार्थ—मार्गणाओ मे योगों को वतलाने के पूर्व गाथा मे योग के मूलभेद मनोयोग, वचनयोग और काययोग के अवान्तर भेदों के नाम वताये है। योगों के उत्तर-भेदो को बतलाने का कारण यह है कि सामान्यत: योग तो सभी संसारी जीवों मे पाये जाते है, लेकिन गति, इन्द्रिय, काय आदि की अपेक्षा उनके योगों में भिन्नता होती है और इस भिन्नता का वोध योगों के भेद द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ भेद होते है। जिनके नाम इस प्रकार है—

मनोयोग—(१) सत्य मनोयोग, (२) असत्य मनोयोग, (३) मिश्र मनोयोग (उभय), (४) असत्यामृषा मनोयोग (अनुभय)।

वचनयोग—(१) सत्य वचनयोग, (२) असत्य वचनयोग, (३) सत्यासत्य (मिश्र, उभय) वचनयोग, (४) असत्यामृषा वचनयोग।

कायकोग—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रिय, (४) वैक्रियमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र, (७) कार्मण।

उक्त भेदों के लक्षण क्रमशः नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

मनोयोग के भेदों का स्वरूप

सत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार किया जाता है। जैसे जीव द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और पर्यायार्थिक नय से अनित्य।

असत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो, वह असत्य मनोयोग है। जैसे जीव नित्य ही है, एक ही है, इत्यादि।

मिश्र मनोयोग—किसी अश मे यथार्थ और किसी अंश मे अयथार्थ ऐसा चितन जिस मनोयोग के द्वारा हो उसे मिश्र मनोयोग कहते है। जैसे किसी मे गुण-दोष दोनों होने पर भी उसे सिर्फ दोषी या गुणी समझना। अथवा वन में आम, नीम, जामुन आदि सभी प्रकार के वृक्षों के होने पर भी उसे आम, नीम या जामुन का वन मानना। मिश्र मनोयोग को सत्यासत्य मनोयोग भी कहते है।

असत्यामृषा मनोयोग—जिस मनोयोग का चितन विधि-निषेध शून्य हो, जो चिंतन न तो किसी वस्तु की स्थापना करता हो और न निषेध उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते है। इस मनोयोग मे न सत्य का निर्णय होता है और न असत्य का, इसीलिये ऐसे मनोयोग का नाम असत्यामृषा मनोयोग है[1]।

---

१ *न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृष., असत्यश्चासावमृषश्च इति असत्यामृषः, असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोग.।*

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५१

मनोयोग के उक्त चार भेद व्यवहारनय सापेक्ष है, क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा सभी प्रकार के चिन्तन का समावेश सत्य और असत्य इन दो विकल्पों मे हो जाता है। अर्थात् जिस मनोयोग मे किचिन्मात्र भी छल-कपट आदि है, वह असत्य ही है और इसके विपरीत चितन यानी किसी भी प्रकार का छल-कपट आदि नही है वह सत्य है। छल-कपट मिश्रित मनोयोग असत्य मनोयोग और छल-कपट विहीन मनोयोग सत्य मनोयोग ही है।

वचनयोग के भेदों का स्वरूप

सत्य वचनयोग—जिस वचनयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन किया जाता है वह सत्य वचनयोग है। जैसे जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी। निश्चयनय की अपेक्षा सद्रूप और व्यवहारनय की अपेक्षा असद्रूप।

असत्य वचनयोग—किसी वस्तु को अयथार्थ सिद्ध करने वाले वचन-योग को असत्य वचनयोग कहते है। जैसे आत्मा का अस्तित्व नही है, लोक-परलोक नही है, इत्यादि।

मिश्र वचनयोग—अनेक रूप वाली वस्तु को एक रूप मे प्रतिपादन करने वाला वचनयोग, मिश्र वचनयोग है।

असत्यामृषा वचनयोग—जो वचनयोग किसी वस्तु के स्थापन-उत्थापन के लिये प्रवृत्त नही होता वह असत्यामृषा वचनयोग कहलाता है।

मनोयोग की तरह तात्त्विक दृष्टि से वचनयोग के भी सत्य और असत्य यह दो भेद है। वचनयोग के चार भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से माने जाते है।

काययोग के भेदों का स्वरूप

औदारिक काययोग—जिस शरीर को तीर्थंकर आदि महापुरुष धारण करते है, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो औदारिक

वर्गणाओं से निष्पन्न मांस-हड्डी आदि अवयवों से बना होता है, स्थूल है, आदि वह औदारिक शरीर[1] कहलाता है। औदारिक शरीर के वीर्य—शक्ति के व्यापार को औदारिक काययोग कहते है। यह योग औदारिक शरीरधारी जीवो को पर्याप्त अवस्था में होता है।

औदारिकमिश्र काययोग—औदारिक और कार्मण इन दोनों शरीरो की सहायता से होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को औदारिकमिश्र काययोग[2] कहते हैं। यह योग उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त दशा मे अथवा केवलि समुद्घात मे दूसरे, छठे और सातवे समय में होता है[3]।

वैक्रिय काययोग—अनेक प्रकार की विविध क्रियाये करने मे समर्थ तथा वैक्रिय शरीर वर्गणाओ से निष्पन्न शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। इस शरीर के द्वारा कभी एक रूप, कभी अनेक रूप, कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी आकाशगामी, कभी भूमिगामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य आदि अनेक प्रकार की विक्रियाएँ होती है। ऐसा शरीर देव

---

१ तत्थोदारमुराल आरोलमहव महल्लगत्तेण।
ओरालिय ति पढम पडुच्च तित्थेसरसरीर॥
भण्णइ य तहोराल वित्थरवत वणस्सति पप्प।
पयईह नत्थि अन्न इद्दहमित्त विसाल ति॥
उरल थेवपएसोवचिय पि महल्लग जहा भिंड।
मंसट्ठिण्हारुवद्ध ओरालं समयपरिभासा॥

—अनुयोगद्वार, हारि० टीका

२ औदारिक मिश्र यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५३

३ कार्मग्रन्थिक मतानुसार अपर्याप्त अवस्था मे तथा केवली समुद्घात अवस्था मे औदारिकमिश्र काययोग होता है। लेकिन सिद्धात मे उक्त दोनो अवस्थाओ के सिवाय उत्तर वैक्रिय के आरम्भ काल मे मनुष्य और तिर्यंचो को तथा आहारक के प्रारम्भ काल मे मनुष्यो को होता है।

और नारकों को जन्म समय से ही प्राप्त होता है, जिसे औपपातिक कहते हैं। मनुष्यो और तिर्यचो द्वारा जिस वैक्रिय शरीर द्वारा विविध विक्रियाये की जाती है, उसे लब्धिप्रत्यय कहते है। यह लब्धिप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर मनुष्य और तिर्यचों को ही होता है।

वैक्रिय शरीर के द्वारा वीर्य—शक्ति का जो व्यापार होता है, वह वैक्रिय काययोग है।

वैक्रियमिश्र काययोग—वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक इन दो-दो शरीरों के मिश्रत्व के द्वारा होने वाला वीर्य—शक्ति का व्यापार वैक्रियमिश्र काययोग है। वैक्रिय और कार्मण के मिश्रत्व से वनने वाला वैक्रिय शरीर देवों और नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है तथा वैक्रिय व औदारिक इन दोनो के मिश्रत्व से होने वाला शरीर बादर पर्याप्त वायुकाय, गर्भज तिर्यच और मनुष्यो को लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के प्रारभ और परित्याग के समय होता है[1]।

आहारक काययोग—चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट कार्य हेतु—जैसे किसी विपय मे सन्देह उत्पन्न हो जाये अथवा तीर्थकरादि की ऋद्धि दर्शन की इच्छा हो जाये, आहारक वर्गणा द्वारा जो शरीर वनाते है, उसे आहारक शरीर और आहारक शरीर की सहायता से होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को आहारक काययोग कहते है।

आहारकमिश्र काययोग—आहारक और औदारिक इन दो शरीरो के द्वारा होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को आहारकमिश्र काययोग कहते है। आहारक शरीर धारण करने के तथा उसके परित्याग के समय आहारकमिश्र काययोग होता है। सिद्धान्त के मतानुसार सिर्फ सहरण (परित्याग) के समय ही होता है।

---

१ उक्त अभिप्राय कार्मग्रन्थिक है, सिद्धान्त की अपेक्षा सिर्फ सहरण ही वैक्रियमिश्र होता है।

कार्मण काययोग—कार्मण शरीर की सहायता से होने वाली आत्म-शक्ति की प्रवृत्ति को कार्मण काययोग कहते हैं। यह योग विग्रहगति में और उत्पत्ति के प्रथम समय सभी जीवों को होता है और केवली-समुद्घात अवस्था मे तीसरे, चौथे और पाँचवें समय मे होता है। यह शरीर सभी शरीरों का कारण है तथा कार्मण वर्गणाओं से बना हुआ होता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से जीव के एक गति से दूसरी गति मे जन्म लेने हेतु जाते समय भी देखा नही जा सकता है।[1]

प्रश्न—तैजस नाम का भी एक शरीर है जो ग्रहण किए हुए आहार को पचाता है और विशिष्ट लब्धि वाले उससे तेजोलेश्या का प्रयोग कर सकते है तो कार्मण काययोग की तरह तैजस काययोग क्यों नहीं माना गया है?

उत्तर—तैजस और कार्मण शरीर सदा साथ ही रहते है। औदा-रिक आदि दूसरे शरीर तो कार्मण शरीर को छोड़ देते है किन्तु तैजस शरीर किसी भी समय उससे अलग नही होता है। इसलिये आत्म-शक्ति का जो व्यापार कार्मण शरीर के द्वारा होता है वही नियम से

---

१ कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्न।
सव्वेसि सरीराण कारणभूय मुणेयव्व॥

—अनुयोगद्वार, हारि० टीका

अन्य दार्शनिक ग्रन्थो मे कार्मणशरीर को 'सूक्ष्म शरीर' या 'लिग शरीर' कहा है—

अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वानोपलक्ष्यते।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि नाभावोऽनीक्षणादपि॥

—प्रभाकर गुप्त

उक्तस्य सूक्ष्मशरीररस्य स्वरूपमाह—'सप्तदशैक लिगम्।'

—सांख्यदर्शन ३।३

तैजस शरीर द्वारा भी होता है। इसीलिये कार्मण काययोग में ही तैजस काययोग का समावेश कर लेने से तैजस काययोग अलग से नही माना जाता है।[1]

योग की उक्त व्याख्या कारण में कार्य का उपचार करके की है, योग अर्थात् आत्मा का वीर्य—शक्ति व्यापार। इस प्रकार से योग के पन्द्रह भेदों का स्वरूप कथन करने के वाद अव मार्गणाओं में योग का विचार करते है।

मार्गणाओं में योग

मार्गणाओ मे योगो का विचार अनाहारकत्व से प्रारम्भ किया है। ऊपर जो पन्द्रह योग वतलाये है उनमे से कार्मण काययोग ही ऐसा है जो अनाहारक अवस्था मे पाया जाता है। शेप चौदह योग आहारक अवस्था मे ही होते है। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह कोई नियम नही है कि अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग होता ही है। क्योकि चौदहवे गुणस्थान मे अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी प्रकार का योग नही रहता है और यह भी नियम नही है कि कार्मणयोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य होती है, क्योंकि उत्पत्ति क्षण मे विग्रहगति के समय कार्मणयोग होने पर भी जीव अनाहारक नही होता है, वह कार्मणयोग के द्वारा ही आहार लेता है। लेकिन यह नियम है कि जब जीव की अनाहारक अवस्था होती है तव कार्मण

---

१ ननु तैजसमपि शरीर विद्यते, यद् भुक्ताहारपरिगमनहेतुर्यद्वशाद् विशिष्ट-तपोविशेपसमुत्थलब्धिविशेपस्य पुरुषस्य तेजोलेश्याविनिर्गमः, तत् कथमुच्यते एत एव योगा नान्ये? इति, नैप दोष., सदा कार्मणेन सहाऽव्यभिचारितया तैजसस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वादिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ

काययोग के सिवाय अन्य कोई योग नही होता है ।[1] इसीलिये अनाहार मार्गणा में सिर्फ कार्मण काययोग माना जाता है ।

नरगइ पणिंदि तस तणु अच्चक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे।
सन्नि छलेसाहारग भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥२५॥

शब्दार्थ—**नरगइ**—मनुष्य गति, **पणिंदि**—पचेन्द्रिय, **तस**—त्रसकाय, **तणु**—काययोग, **अचक्खु**—अचक्षुदर्शन, **नर**—पुरुष वेद, **नपु**—नपुसक वेद, **कसाय**—कषाय, **सम्मदुगे**—सम्यक्त्वद्विक, **सन्नि**—सज्ञी, **छलेसा**—छह लेश्या, **आहारग**—आहारक, **भव्व**—भव्य, **मइ**—मतिज्ञान, **सुअ**—श्रुतज्ञान, **ओहिदुगि**—अवधिद्विक मे, **सव्वे**—सभी योग (होते है) ।

गाथार्थ—मनुष्य गति, पचेन्द्रिय, त्रसकाय, काययोग, अचक्षुदर्शन, पुरुष वेद, नपुसक वेद, कषाय, सम्यक्त्वद्विक (क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व), संज्ञी, छह लेश्याओं, भव्य, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिद्विक (अवधिज्ञान, अवधिदर्शन) इन छब्बीस मार्गणाओं मे सभी (पन्द्रह) योग होते है ।

विशेषार्थ—गाथा में मनुष्यगति आदि छब्बीस मार्गणाओं मे सभी योग कहे गये हैं। इन छब्बीस मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्य के साथ है और मनुष्य में सभी योग सम्भव है इसीलिये मनुष्यगति

---

१ कार्मणमेवैकमनाहारके न शेषयोगाः असम्भवादिति । न पुनरेवम्—कार्मणमनाहारकेष्वेवेति, आहारकेष्वपि उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणयोगसम्भवात्, 'जोएण कम्मएण आहारेई अणतर जीवो ।' इति परममुनिवचनप्रामाण्यात् । नापि 'कार्मणमनाहारकेषु भवत्येव' इत्यवधारणमाधेयम्, अयोगिकेवल्यवस्थायामनाहारकस्यापि कार्मणकाययोगाभावात् 'गयजोगो उ अजोगी' इति वचनात् । —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५४**

विग्रह गति के १, २, ३ समय मे तथा केवली समुद्घात के ४, ५, ६वें समय मे जीव अनाहारी होता है ।

आदि अवधिद्विक पर्यन्त छब्वीस मार्गणाओ में सभी योग माने जाते है।

यद्यपि कही-कही यह कथन मिलता है कि 'आहारक मार्गणा मे कार्मणयोग नही होता।'[1] यानी आहारक मार्गणा मे कार्मणयोग के सिवाय अन्य सभी (१४ योग) योग होते है। इस सम्बन्ध मे यह युक्ति है कि उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव जो आहार करता है, उसमें गृह्यमाण पुद्गलों के कारण होने से कार्मणयोग मानने की जरूरत नही है।

उक्त कथन का यह समाधान है कि प्रथम समय में कार्मणयोग से ही आहार का ग्रहण होता है और ग्रहण किये गये पुद्गल दूसरे समय से लेकर शरीर पूर्ण होने तक आहार ग्रहण में कारण रूप वनते है।[2] किन्तु स्वयं अपने प्रथम समय मे कारण रूप नही वन सकते है, क्योंकि उस समय तो वे स्वय ही कार्य रूप है। इसलिये पहले समय में तो कार्मण काययोग द्वारा ही आहार ग्रहण होता है जिससे आहारक मार्गणा मे कार्मण काययोग भी माना जाता है। साराश यह है कि जन्म के प्रथम समय में कार्मणयोग के सिवाय अन्य कोई योग सम्भव नही है। अतएव उस समय कार्मण काययोग के द्वारा ही आहारकत्व माना जाता है।

तिरि इत्थि अजय सासण अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु।
तेराहारदुगूणा ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥

शब्दार्थ—तिरि—तिर्यंच गति, इत्थि—स्त्री वेद, अजय—अविरति, सासण—सासादन, अनाण—अज्ञान, उवसम—औपशमिक सम्यक्त्व, अभव्व—अभव्य, मिच्छेसु—मिथ्यात्व मे, तेर—तेरह,

---

१ जोगा अकम्मगाहारगेसु।

२ जोएण कम्मएण आहारेई अणतर जीवो।
तेण पर मीसेण जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ —

आहारदुगूणा—आहारकद्विक के बिना, **ते**—वे, **उरल दुगूण**—औदारिकद्विक रहित, **सुरनरए**—देव और नारक मे।

गाथार्थ—तिर्यंच गति, स्त्रीवेद, अविरति, सासादन, अज्ञानत्रिक (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान) उपशम-सम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व मार्गणा में आहारकद्विक (आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग) के सिवाय शेष तेरह योग होते है। इन तेरह योगों में से भी औदारिक-द्विक (औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग) के सिवाय शेष ग्यारह योग होते है।

विशेषार्थ—गाथा में तिर्यंचगति आदि मिथ्यात्व मार्गणा पर्यन्त दस मार्गणाओं में तेरह और देवगति, नरकगति में ग्यारह योग होने का सकेत किया है।

तिर्यंचगति, स्त्री वेद, अविरति, सासादन सम्यक्त्व, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान, उपशम सम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व इन दस मार्गणाओं में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग होते है। अर्थात् इन दस मार्गणाओं मे मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण योग यह तेरह योग होते है। इनमे से कार्मणयोग तो अंतराल गति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था में तथा औदारिक, मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क पर्याप्त अवस्था मे तथा किन्हीं-किन्ही तिर्यंचों को वैक्रिय लब्धि के निमित्त से वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग होने से तेरह योग माने जाते है।

आहारकद्विक योग सर्वविरत चतुर्दश पूर्वधर को होते है लेकिन तिर्यंचगति में सर्वविरत चारित्र सम्भव नही होने से उसमे आहारक-द्विक—आहारक और आहारकमिश्र काययोग नही माने जाते है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यक्त्व, अज्ञानत्रिक—मति-

अज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व इन सात मार्गणाओं मे आहारकद्विक के विना जो तेरह योग माने जाते हैं, उनमे से मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक और वैक्रिय यह दस योग तो पर्याप्त अवस्था मे होते है, कार्मणयोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम समय मे और औदारिकमिश्र व वैक्रियमिश्र यह दो योग अपर्याप्त अवस्था मे होते है।

औपशमिक सम्यक्त्व और स्त्री वेद मे आहारकद्विक के सिवाय शेष तेरह योग मानने को कारण सहित स्पष्ट करते है।

औपशमिक सम्यक्त्व में तेरह योग मानने का कारण

औपशमिक सम्यक्त्व मे मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक और वैक्रिय यह दस योग पर्याप्त अवस्था मे और औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण अपर्याप्त अवस्था मे पाये जाते है। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग देवो की अपेक्षा से समझना चाहिये।

औपशमिक सम्यक्त्व में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग मानने के सम्वन्ध मे कुछ विचारणीय वातो की ओर संकेत करते है।

उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार है—ग्रंथिभेदजन्य, उपशमश्रेणि वाला। ग्रथिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के समय होता है और तव चौदह पूर्व का अभ्यास होता ही नही, जिससे उस समय आहारकद्विक होते ही नही है। उपशमश्रेणि आरूढ जीव श्रेणि में प्रमाद का अभाव होने से आहारक शरीर करता ही नही है। क्योकि आहारक शरीर का प्रारम्भ करने वाला लब्धि प्रयोग के समय उत्सुकतावश प्रमाद युक्त होता है। शास्त्र मे कहा है कि—

आहारग तु पमत्तो उप्पाएइ न अप्पमत्तो।

—आहारक प्रमत्त करता है, अप्रमत्त नही और आहारक काययोग में विद्यमान स्वभाव से ही उपशम श्रेणि को मॉड़ता नहीं है।

लेकिन जिनका मत यह है कि उपशम श्रेणि से आयु क्षय होने

पर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होता है, वहाँ अपर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यक्त्व होता है, उस अपेक्षा से कार्मण और वैक्रियमिश्र माना जा सकता है, लेकिन औदारिकमिश्र नही। इस सम्बन्ध मे विचार करते है कि मनुष्य, तिर्यच को अपर्याप्त अवस्था में और केवली समुद्घात इन तीन स्थितियों मे कर्मग्रथकारों के मतानुसार औदारिकमिश्र होता है। केवली को उपशम सम्यक्त्व होता नहीं है और मनुष्य, तिर्यच अपर्याप्त अवस्था में नवीन सम्यक्त्व प्राप्त नही करते हैं और श्रेणि-प्राप्त जीव मर कर देव के सिवाय अन्य गति मे जाते नहीं। अतएव यह विचारणीय है किंतु ग्रंथकार ने स्वयं इसको मतांतर के रूप मे बताया है[1] अर्थात् यह सैद्धांतिक और कार्मग्रथिक मतभिन्नता है और सिद्धांत के मतानुसार उत्तर वैक्रिय करते समय मनुष्य और तिर्यचों को प्रारम्भ काल में औदारिकमिश्र योग होता है और उस समय यदि जीव नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उस अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व मे औदारिकमिश्र काययोग माना जा सकता है।

स्त्रीवेद में आहारकद्विक न मानने का कारण

स्त्रीवेद मे आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग इस प्रकार सभव है—

मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, वैक्रियद्विक और औदारिक ये ग्यारह योग मनुष्य, तिर्यच स्त्री को पर्याप्त अवस्था में, वैक्रियमिश्र काययोग देव स्त्री को अपर्याप्त अवस्था मे, औदारिकमिश्र काययोग मनुष्य, तिर्यच स्त्री को अपर्याप्त अवस्था मे और कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्री को केवली समुद्घात अवस्था मे होता है।

---

१ इस मतान्तर के लिए चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ४९ देखिये। जिसमे मतान्तर—'विउव्वगाहारगे उरलमिस्स' अश से निर्दिष्ट किया गया है।

लेकिन स्त्रीवेद में आहारकद्विक योग न मानने का कारण यह है कि स्त्रीवेद में सर्वविरति सम्भव होने पर भी आहारकयोग न होने का कारण स्त्री जाति को दृष्टिवाद—जिसमे चौदह पूर्व है—पढने का निषेध है। सम्वन्धित स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

स्त्रीवेद को जो दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया है, उसमें भावरूप नही किन्तु द्रव्यरूप स्त्रीवेद जानना चाहिये। क्योकि यहाँ इसी प्रकार की विवक्षा है। पहले गुणस्थानों मे जो वेद वतलाये गये है वे भाव रूप स्त्रीवेद मे वतलाये है, वहाँ इसी प्रकार की विवक्षा है। द्रव्य वेद का मतलव वाह्य आकार मात्र समझना चाहिये। आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी मुनि के ही होते हैं और स्त्रियो को दृष्टिवाद सूत्र पढने का निषेध होने से चौदह पूर्व का अभ्यास उनको होता नही है और जव स्त्रियों को चौदह पूर्व का अभ्यास नही है तो आहारकद्विक नही हो सकता है। इसका कारण विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५२ में स्पष्ट किया है—

> तुच्छा गारववहुला चलिंदिया दुव्वलाधिईए य।
> इय अइसेसज्झयणा भूयवादो य नो याणं॥

—तुच्छ स्वभाववाली, वहु गारव वाली, चपल इंद्रियवाली और वुद्धि से हीन होने से अतिशय वाले अध्ययन और भूतवाद (दृष्टिवाद) पढ़ने का अधिकार स्त्री को नही है।[1]

---

१ हरिभद्रसूरि आदि ने अशुद्धि रूप शारीरिक दोप दिखाकर स्त्रियो को दृष्टिवाद के अध्ययन का निपेध किया है—

> कथ द्वादशागप्रतिपेध. ? तथाविधविग्रहे ततो दोपात्।
>
> —ललितविस्तरा

कुन्दकुन्दाचार्य सरीखे अध्यात्म प्रतिपादक दिगम्वर आचार्य ने स्त्री जाति को शारीरिक और मानसिक दोप के कारण दीक्षा तक के लिये अयोग्य ठहराया है—

यहाँ पर कतिपय व्यक्ति शंका करते है कि स्त्री को मोक्ष माना और दृष्टिवाद सूत्र पढने का अधिकार नही माना जो बाद मे प्रक्षेपित अंश है। क्योंकि मोक्ष जाने वाला श्रेणि माड़ता है तब शुक्लध्यान होता है[1]। अतएव यह परस्पर विरुद्ध कथन है और जैसे स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार माना है वैसे ही दृष्टिवाद के अध्ययन का भी अधिकारी मानना चाहिये।

उक्त कथन के लिए यह समझना चाहिए कि स्त्रियाँ मोक्ष जाती है, शुक्लध्यान भी ध्याती है किन्तु पूर्वोक्त कारणो से उन्हे दृष्टिवाद के अध्ययन का अधिकार नही है। प्रत्येक गुणस्थान के असख्यात लोकाकाश प्रमाण अध्यवसायस्थान होते हैं लेकिन यह नियम नही है कि उस गुणस्थान का स्पर्श करने वाला जीव उन सभी अध्यवसायस्थानों का स्पर्श करे। अतएव मध्यम अध्यवसाय स्थानों का स्पर्श करके भी आगे के गुणस्थान मे जाता है और उस अपेक्षा से कोई भी वेद वाला जीव श्रेणि मांड़कर मोक्ष जा सकता है। जबकि पूर्वज्ञान लब्धि से प्राप्त होता है और ये लब्धि अमुक अंश के अध्यवसाय स्थानों का स्पर्श करे तभी प्राप्त होती है। स्त्री जिन स्थानों को पूर्व में संकेत किये गये कारणों से स्पर्श नही कर पाती अतः उनको पूर्वधर लब्धि प्राप्त नहीं होती है और पूर्व का अभ्यास भी उन्ही कारणों से स्त्रियों को होता नही है।

लिगम्मि य इत्थीण थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहमो काओ तास कह होइ पव्वज्जा॥

—षटपाहुड, सूत्रपाहुड, गा० २४-२५

वैदिक दर्शन मे शारीरिक शुद्धि को स्थान देकर स्त्री व शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नही दिया है— स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।

१ शुक्ले चाद्ये पूर्वविद.।—तत्त्वार्थसूत्र ९।३९

उक्त कथन पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पूर्व का अभ्यास न हो तो शुक्लध्यान स्त्रियों मे कैसे सम्भव है ? और जब शुक्लध्यान न होवे तो क्षपक श्रेणि कैसे हो सकती है ? इसके समाधान के लिए यह समझना चाहिये कि श्रेणि माड़ने वाले प्रत्येक जीव को शब्द से पूर्व का ज्ञान होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नही है। अर्थ से होना चाहिये और इस अपेक्षा सिर्फ नवकार मंत्र के जानने वाले को भी अर्थ से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। क्योकि शास्त्र मे नवकार मत्र को चौदह पूर्व का सार कहा है तथा तीर्थकर भगवान अर्थ की ही देशना करते है, जिसके सार रूप में गणधर चौदह पूर्वो की रचना करते है और उसके पश्चात् दूसरे अगों की। अर्थात् इस देशना को सुनने वाले और समझने वाले प्रत्येक जीव को अर्थ से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। इसके सिवाय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ग्यारह अग भी चौदह पूर्व के ही एक अंग है।

शास्त्र मे ऐसा भी उल्लेख है कि एक सामायिक पद को भावना करने मात्र से अनन्त जीवो ने मोक्ष प्राप्त किया है। अतएव यह कोई कारण नही कि शुक्लध्यान तभी हो सकता है जब शब्द से पूर्व का ज्ञान हो। इसी प्रकार स्त्रिया भी अर्थ से चौदह पूर्व के सार को जानती है, जिससे यह स्वाभाविक है कि उनके भी शुक्लध्यान के समय पूर्व का ज्ञान अर्थ से होता है और क्षपक श्रेणि माड़कर स्त्रिया भी मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

शास्त्र में स्त्रियों मे दिखाये दोपों का आशय उन्हे अपमानित करने का नहीं है किन्तु उनके स्वभाव में रही हुई वस्तुस्थिति का निष्पक्ष भाव से वर्णन किया है। अतएव दृष्टिकोण के हार्द को समझकर अपनी जिज्ञासा का समाधान करना चाहिये।

देवगति और नरकगति में उक्त मनोयोग चतुष्क आदि तेरह योगों में से औदारिकद्विक को भी कम करने से ग्यारह योग माने

है। ग्यारह योगों के नाम इस प्रकार है—मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, वैक्रियद्विक, कार्मणयोग। इनमें से कार्मणयोग अतराल गति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे, वैक्रियमिश्र अपर्याप्त अवस्था में तथा मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और वैक्रिय काययोग पर्याप्त दशा में पाये जाते है।

देव और नरकगति मे आहारकद्विक, औदारिकद्विक न मानने का कारण यह है कि देव और नारकों के भवस्वभाव से विरति न होने तथा विरति के अभाव में चतुर्दश पूर्व का ज्ञान न होने से आहारकद्विक योग होते ही नही है तथा देव और नारको का भव-प्रत्ययिक वैक्रिय शरीर होता है अतएव औदारिकद्विक सम्भव नही है। इसीलिये देव नारकों के आहारकद्विक और औदारिकद्विक इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते है।[1]

कम्मुरलदुगं थावरि ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे।
छ असन्नि चरमवइजुय ते विउविदुगूण चउ विगले ॥२७॥

शब्दार्थ—**कम्मुरलदुगं**—कार्मण तथा औदारिकद्विक, **थावरि**—स्थावर काय मे, **ते**—वे, **सविउव्विदुग**—वैक्रियद्विक सहित, **पंच**—पाँच, **इगि**—एकेन्द्रिय मे, **पवणे**—वायुकाय मे, **छ**—छह, **असन्नि**—असज्ञी मे, **चरमवइजुय**—अन्तिम वचनयोग सहित, **ते**—उनमे से, **विउविदुगूण**—वैक्रियद्विक के सिवाय, **चउ**—चार, **विगले**—विकलेन्द्रियो मे।

गाथार्थ—स्थावर काय में कार्मण और औदारिकद्विक यह तीन योग होते है। उक्त तीन योग तथा वैक्रियद्विक कुल

---

१ यत् पुनरौदारिकद्विक तद् भवप्रत्ययादेव देवनारकाणाम् न सम्भवति। आहारकद्विक तु सुरनारकाणां भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरति-प्रत्ययचतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवादेव दूरापास्तमिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५६

पाँच योग एकेन्द्रिय और वायुकाय मे होते है। असंज्ञी में उक्त पाँच और चरम वचन योग कुल छह योग तथा इन छह में से वैक्रियद्विक को कम करने से चार योग विकलेन्द्रियों मे होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे जिन मार्गणाओं में योगों का कथन किया गया है उनका विवेचन नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये।

स्थावर काय पद में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन पाँचों प्रकार के स्थावर जीवों का समावेश होता है और उनमें 'कम्मुरलदुग' कार्मण और औदारिकद्विक यह तीन योग समझना चाहिये। लेकिन इसी गाथा मे आगे वायुकाय में पाये जाने वाले योगों की सख्या अलग से बतलाई है। अतएव इसका आशय यह हुआ कि पृथ्वी, जल, तेज और वनस्पति इन चार स्थावर जीवों मे कार्मण और औदारिकद्विक—कुल तीन योग होते है। इन तीन योगों मे से कार्मण काययोग, विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र काययोग उत्पत्ति के प्रथम क्षण को छोडकर शेष अपर्याप्त अवस्था मे तथा औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था मे पाया जाता है।

वायुकायिक जीवों तथा एकेन्द्रिय जीवों में उक्त कार्मण, औदारिकद्विक व वैक्रियद्विक सहित कुल पाँच योग माने है। वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय ही होते है, अतः एकेन्द्रिय जाति मे वायुकायिक जीव भी आ जाते है, इसलिये उसमें पाँच योग (कार्मण, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र) कहे हैं।

वायुकाय मे अन्य स्थावरो की तरह कार्मणयोग आदि तीन योग तो पाये ही जाते है, लेकिन वायुकाय के कुछ पर्याप्त बादर जीव वैक्रियलब्धि सम्पन्न भी होते है, जिससे वे वैक्रियद्विक के अधि माने जाते है। वैक्रिय शरीर बनाते समय वैक्रियमिश्र

और वनाने के बाद धारण करते समय वैक्रिय काययोग बादर वायुकाय के जीवों मे होता है।

पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों में से कुछ एक को वैक्रियलब्धि मानने को लेकर जिज्ञासु तर्क करता है कि यह कैसे माना जाये कि किन्ही-किन्हीं को वैक्रियलब्धि सभव है ? सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि संपन्न है और सवैक्रिय वायुकाय के जीव बहते है किन्तु अवैक्रिय जीवों में वैसी प्रवृत्ति नही होती है।[1] लेकिन यह तर्क अयुक्त है कि सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलब्धि सम्पन्न होते है। क्योंकि वायुकाय के अपर्याप्त-पर्याप्त, सूक्ष्म-वादर इन चार भेदों मे से सूक्ष्म पर्याप्त, अपर्याप्त तथा वादर अपर्याप्त इन तीन प्रकार के वायुकायिक जीवों में वैक्रियलब्धि होती ही नहीं है। किन्तु पर्याप्त बादर वायुकाय के जीवों के संख्यातवे भाग में होती है,[2] लोक के सभी भागों में—ऊर्ध्व, मध्य, अधो भागों मे ये जीव विद्यमान है और वर्तमान में विक्रिया नही करने पर भी स्वभावतः उनमे वैक्रियलब्धि विद्यमान है।

असंज्ञी में छह योग कहे गये है। इनमे से पॉच योग तो वायुकाय व एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा से, क्योकि वे असज्ञी ही होते है और छठा 'चरमवइजुय' अतिम वचनयोग—असत्यामृषा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी, समूर्च्छिम पचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से। क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संमूर्च्छिम पचेन्द्रिय ये सभी जीव असज्ञी ही

---

१ केइ भणति–सव्वे वेउव्विया वाया वायंति, अवेउव्वियाण चिट्ठा चेव न पवत्तइ। —अनुयोग द्वार हारिभद्री टीका

२ तिण्ह ताव रासीण वेउव्विअलद्धी चेव नत्थि।
वादर पज्जत्ताण सखेज्जइभागस्सत्ति ॥
—पंचसंग्रह द्वार १ की टीका मे प्रमाण रूप से उद्धृत
यही वात अनुयोगद्वार टीका व प्रज्ञापना चूर्णि मे कही गई है।

होते है। द्वीन्द्रिय आदि वचनयोग के साधन भापालब्धि से युक्त होते है, इसीलिये उनमे असत्यामृपा वचनयोग होता है।

विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे कार्मण, औदारिकद्विक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग कहे है। इनके वैक्रियलब्धि न होने से वैक्रिय शरीर नही बना सकते है। इसलिये इनमे असज्ञी सम्बन्धी कहे गये छह योगो में से वैक्रियद्विक योगों को कम करने से विकलेन्द्रियत्रिक मे चार योग कहे गये है।

कम्मुरलमोस विणु मणवइ समइय छेय चक्खु मणनाणे।
उरलदुग कम्म पढमंतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥२८॥

शब्दार्थ—**कम्म**—कार्मण, **उरलमीस**—औदारिकमिश्र, **विणु**—विना, **मण**—मनोयोग, **वइ**—वचनयोग, **समइय**—सामायिक, **छेय**—छेदोपस्थापनीय सयम, **चक्खु**—चक्षुदर्शन, **मणनाणे**—मन-पर्याय ज्ञान, **उरलदुग**—औदारिकद्विक, **कम्म**—कार्मण, **पढमतिम**—पहला और अतिम, **मणवइ**—मनोयोग-वचनयोग, **केवलदुगम्मि**—केवलद्विक मे।

गाथार्थ—मनोयोग, वचनयोग, सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र, चक्षुदर्शन और मनपर्याय ज्ञान, इन छह मार्गणाओं में कार्मण तथा औदारिकमिश्र योग को छोड तेरह योग होते है। केवलद्विक मे औदारिकद्विक, कार्मण, प्रथम और अतिम मनोयोग व वचनयोग होते है।

विशेषार्थ—मनोयोग आदि मनपर्यायज्ञान पर्यन्त छह मार्गणाओ मे तेरह योग एव केवलद्विक मार्गणा मे सात योग होने का सकेत गाथा मे किया गया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

मनोयोग, वचनयोग, सामायिक सयम, छेदोपस्थापनीय संयम, चक्षुदर्शन और मनपर्याय ज्ञान यह छह मार्गणाये पर्याप्त अवस्था मे ही पाई जाती है। इसीलिये अपर्याप्त अवस्था भावी दो योग—

कार्मण और औदारिकमिश्र उनमें नही पाये जाते है।[1] किंतु शेष तेरह योग उनमे होते है। यद्यपि केवली को केवली समुद्घात अवस्था में कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग होते है, जिससे पर्याप्त अवस्था में भी यह सभव है, तथापि यह जानना चाहिये कि केवली समुद्घात मे जब ये दोनों योग होते है तब मनोयोग आदि मनपर्याय ज्ञान पर्यन्त उक्त छह मार्गणाओं में से कोई भी मार्गणा नही होती है। इसीलिये इन छह मार्गणाओं में कार्मण और औदारिकमिश्र योग के सिवाय शेष तेरह योग कहे गये है।

चक्षुदर्शन व मनपर्यायज्ञान मार्गणा में योग-विषयक स्पष्टीकरण

चक्षुदर्शन और मनपर्यायज्ञान में तेरह योग कहे गये है, तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण यहाँ करते है।

कर्मग्रन्थ में चक्षुदर्शन में तेरह योग माने है, लेकिन श्री मलयगिरि ने पचसंग्रह १।१२[2] की टीका में ग्यारह योग बताये है। कार्मण, औदारिक-मिश्र के अतिरिक्त वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र भी छोड दिये है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त अवस्था में चक्षुदर्शन न होने से अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग नहीं रहते है वैसे ही वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग भी नही होते है। अर्थात् जब तक वैक्रिय या आहारक शरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुदर्शन नही होता है। इसीलिये उसमे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग भी नहीं मानना चाहिये।

इस पर प्रश्न होता है कि अपर्याप्त अवस्था मे इन्द्रिय पर्याप्ति

---

१ यौ तु कार्मणौदारिकमिश्रौ तौ तेपु सर्वथा न सम्भवत एव तयोरपर्याप्तावस्थाया भावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५७

२ आहारदुग जायइ चौद्दसपुव्विस इइ विसेसणओ।
मणुयगइपंचेदियमाइएसु समईए जोएज्जा॥
—पंचसंग्रह १।१२

पूर्ण वन जाने के वाद मतान्तर[1] से चक्षुदर्शन मान लिया जाये तो उसमें अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र काययोग का अभाव कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि पचसंग्रह में एक मतान्तर है।[2] जोकि अपर्याप्त अवस्था मे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न वन जाने तक मिश्रयोग मानता है और वन जाने के वाद नही मानता। इस मत के अनुसार अपर्याप्त अवस्था मे जव चक्षुदर्शन होता है तव मिश्रयोग न होने के कारण चक्षुदर्शन मे औदारिकमिश्र काययोग को न मानना ठीक है।

मनपर्यायज्ञान में तेरह योग माने है, उनमे आहारकद्विक का भी समावेश है। लेकिन दिगम्वर आचार्यो का ऐसा अभिमत है[3] कि परिहारविशुद्धि संयम और मनपर्यायज्ञान के समय आहारक शरीर और आहारक अगोपाग नामकर्म का उदय नही होता है और जव तक आहारकद्विक का उदय न हो तव तक आहारक शरीर की रचना नही की जा सकती है और इस रचना के सिवाय आहारकमिश्र व आहारक यह दोनों योग सम्भव नही है। लेकिन उक्त अभिमत का आशय इतना ही है कि मनपर्यायज्ञान, परिहारविशुद्धि सयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्विक इन भावों मे से एक के प्राप्त होने पर शेष भाव प्राप्त नही होते है।[4]

---

१ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा १७ मे मतान्तर का उल्लेख किया है।

२ पचसंग्रह १।७ की गाथा की टीका मे इस मत का संकेत है—

लद्धीए करणेंहि य ओरालियमीसगो अपज्जत्ते।
पज्जत्ते ओरालो वेउव्वियमीसगो वावि ॥

३ मणपज्जवपरिहारे णवरि य सद्दित्थि हारदुग। —गो० कर्मकांड ३२४

४ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा।
एदेसु एक्कपगदे णत्थित्ति असेसय जाणे ॥
—गो० जीवकांड ७२६

केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन—मार्गणाओं मे औदारिकद्विक—औदारिक व औदारिकमिश्र काययोग, कार्मण काययोग तथा सत्य तथा असत्यामृषा मनोयोग और सत्य व असत्यामृषा वचनयोग कुल सात योग माने हैं। जिसका कारण यह है कि सयोगि केवली को केवली-समुद्घात के दूसरे से सातवें तक छह समयो को छोडकर औदारिक योग तो सदैव रहता ही है तथा औदारिकमिश्र काययोग केवली-समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय में तथा कार्मण योग तीसरे, चौथे, पाँचवें समय मे होता है। सत्य और असत्यामृषा यह दो वचनयोग देशना देने के समय तथा सत्य व असत्यामृषा यह दोनों मनोयोग मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानों के देवों के मन द्वारा शंका पूछने और उसका उत्तर देते समय होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई अनुत्तर विमानवासी देव अथवा मनपर्यायज्ञानी अपने स्थान पर रहकर मन से ही केवली को प्रश्न पूछते है तब उनके प्रश्नों को केवलज्ञान द्वारा जानकर केवली भगवान उनका उत्तर मन से ही देते है यानी मनोद्रव्य[1] को ग्रहण कर उसकी ऐसी रचना करते है कि जिसको प्रश्नकर्ता अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान के द्वारा देखकर केवली भगवान द्वारा दिये गये उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते है।

मनोद्रव्य को अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान द्वारा जान लेना स्वाभाविक ही है। यद्यपि मनोद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म है लेकिन अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान में उसको प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति है। जैसे कि कोई मानस-शास्त्री किसी के चेहरे पर आने-जाने वाले भावो

---

१ केवलज्ञानी के द्रव्यमन का सम्बन्ध गो० जीवकाड गा० २२८ मे भी माना है—

मणसहियाण वयण दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगम्मि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणह्मि॥

को देखकर उसके मनोभावों का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेते है वैसे ही अवधिज्ञानी या मनपर्यायज्ञानी मनोद्रव्य की रचना देखकर अनुमान द्वारा यह जान लेते है कि अमुक प्रकार की मनोरचना द्वारा अमुक अर्थ का ही चिंतन किया हुआ होना चाहिये।

मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥२६॥

शब्दार्थ—**मणवइउरला**—मनोयोग, वचनयोग, औदारिक काययोग, **परिहारि**—परिहारविशुद्धि सयम मे, **सुहुमि**—सूक्ष्मसंपराय सयम मे, **नव**—नौ, **ते**—वे (पूर्वोक्त), **उ**—तथा, **मीसि**—मिश्रदृष्टि मे, **सविउव्वा**—वैक्रियसहित, **देसे**—देशविरति मे, **सविउव्विदुगा**—वैक्रियद्विक सहित, **सकम्मुरलमिस्स**—कार्मण और औदारिकमिश्र सहित, **अहखाए**—यथाख्यात चारित्र मे।

गाथार्थ—परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय संयम मे मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और औदारिक यह नौ योग होते है। मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्वदृष्टि) में उक्त नौ के साथ वैक्रिय तथा देशविरति मे उक्त नौ के साथ वैक्रियद्विक तथा यथाख्यात सयम में कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग सहित योग है।

विशेषार्थ—गाथा मे मिश्रदृष्टि तथा संयममार्गणा के परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय, देशविरति और यथाख्यातसयम मे योगों की संख्या का कथन किया है। जिनमें से सर्वप्रथम परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय संयम की योग संख्या बतलाते है।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय इन दोनो संयमो में 'मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव' मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और औदारिक यह नौ योग है। किन्तु आहारकद्विक, वैक्रियद्विक, कार्मण और औदारिकमिश्र यह छह योग नही होते हैं। इसका कारण

है कि संयम पर्याप्त अवस्थाभावी है किन्तु अपर्याप्त अवस्था मे नही होता है। इसलिये अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में नही पाये जाते हैं[1] तथा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र इन दोनों योगों के न होने का कारण यह है कि यद्यपि वैक्रियद्विक लब्धिप्रयोग करने वाले मनुष्य को होते हैं और लब्धिप्रयोग में औत्सुक्य एवं प्रमाद संभव है।[2] लेकिन परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयमधारी अप्रमादी होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते है।

आहारक और आहारकमिश्र यह दो योग चतुर्दश पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं, किन्तु परिहारविशुद्धि संयमी कुछ कम दस पूर्व का पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय सयमी चतुर्दश पूर्वधर होने पर भी अप्रमत्त होने से उनमे आहारकद्विक योग नही माने है।

इसीलिये परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र यह छह योग संभव नही होने से शेष मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक काययोग कुल नौ योग होते है।

मिश्रदृष्टि में उक्त नौ योगों के साथ 'सविउव्वा' वैक्रिययोग भी होने से दस योग होते है। मिश्रसम्यक्त्व मे वैक्रिययोग को भी मानने का कारण यह है कि देव और नारक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती होते है। मिश्र सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि इस सम्यक्त्व के समय मृत्यु नही होती है[3]। जिससे अपर्याप्त अवस्था में यह सम्यक्त्व

---

१ कार्मणमौदारिकमिश्र चापर्याप्ताद्यवस्थायामेवेति सयम द्वयेऽपि तस्याऽभाव.।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५८

२ वैक्रियारम्भे च लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावात् प्रमादसम्भवात्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५८

३ न सम्ममिच्छो कुणइ काल।

(मिश्रदृष्टि) नही पाया जाता है। इसीलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीनों योग नहीं हैं। मिश्र सम्यक्त्व के समय चौदह पूर्व का ज्ञान संभव नहीं होने से आहारकद्विक योग भी नही होते है। इस कारण से कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकद्विक इन पाँच योगो को छोड़कर शेष दस योग मिश्र सम्यक्त्व में होते है।

मिश्रदृष्टि मे वैक्रियमिश्र योग नही मानने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि अपर्याप्त अवस्थाभावी वैक्रियमिश्र योग मिश्रदृष्टि में नही माना है सो तो ठीक है लेकिन वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते समय मनुष्य और तिर्यंच को पर्याप्त अवस्था में होने वाले वैक्रियमिश्र योग को मिश्र सम्यक्त्व मे नही मानने का क्या कारण है? इसका समाधान यही है कि मिश्र सम्यक्त्व और लब्धिजन्य वैक्रियमिश्र योग ये दोनों पर्याप्त अवस्थाभावी है, किन्तु इनका साहचर्य नही है। यानी मिश्र सम्यक्त्व के समय लब्धि का प्रयोग न किये जाने के कारण वैक्रियमिश्र काययोग नही होता है।[1]

देशविरति सयम मे 'देसे सविउव्विदुगा' पद मे पूर्वोक्त नौ योगों के अतिरिक्त वैक्रियद्विक योगो को मिलाने से ग्यारह योग बताये है। वैक्रियद्विक को देशविरति सयम मे मानने का कारण यह है कि अंबड आदि श्रावकों द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर बनाये जाने की बात शास्त्र मे प्रसिद्ध है।[2] श्रावक चतुर्दश पूर्वधर नही होता है, जिससे उसमे आहारकद्विक योग तथा व्रत का पालन पर्याप्त

---

१ ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका मे 'तथाविध सप्रदाय का अभाव होने से कारण ज्ञात नही होता है' सकेत द्वारा इस पर विशेष विवेचन नही किया है।

२ देशविरतानामम्बडादीनां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियद्विकसम्भवात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५८

अम्बड परिव्राजक के परिचय के लिये औपपातिक सूत्र देखिये।

अवस्था में ही सम्भव होने से औदारिकमिश्र और कार्मणयोग नही माने जाते हैं। इसीलिये आहारकद्विक एवं औदारिकमिश्र और कार्मण इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग देशविरति संयम में होते है।

यथाख्यात संयम में भी ग्यारह योग है। मनोयोग चतुष्क, वचन-योग चतुष्क, औदारिकयोग इन पूर्वोक्त नौ योगों के साथ इस संयम में, 'सकम्मुरलमिस्स अहखाए' कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग और भी पाये जाते है। इन दोनों योगों का ग्रहण केवली-समुद्घात[1] की अपेक्षा से किया गया है। क्योंकि आठ समय वाले इस समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे, पाँचवें समय मे कार्मण योग होता है। यथाख्यात संयम मे आहारकद्विक एवं वैक्रियद्विक इन चार योगों के न मानने का कारण यह है कि ये चारों प्रमाद सहचारी हैं और यथाख्यात संयम अप्रमाद अवस्था वाले ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह इन चार गुणस्थानों में होता है।

मार्गणाओं में योगों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	योगो की संख्या व नाम
	१ गतिमार्गणा	
१.	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
२.	२ तिर्यंचगति	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
३.	३ मनुष्यगति	१५ मन, वचन, काय योग के सभी भेद

---

१ तत्र सम्यग्—अपुनर्भाविन उत्—प्राबल्येन कर्मणो हनन—घातः प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात.।

जिस प्रयत्न विशेष मे सम्यक् प्रकार से अथवा प्रमुख रूप से कर्मों का क्षय किया जाता है, उसे समुद्घात कहते हैं।

४	४ देवगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
	२ इन्द्रियमार्गणा	
५.	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
६.	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
८.	४ चतुरिन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
९	५ पंचेन्द्रिय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	३ कायमार्गणा	
१०.	१ पृथ्वीकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
११	२ जलकाय	३ ,, ,,
१२.	३ वायुकाय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
१३.	४ अग्निकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
१४.	५ वनस्पतिकाय	३ ,, ,,
१५.	६ त्रसकाय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	४ योगमार्गणा	
१६	१ मनोयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोड़कर
१७	२ वचनयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोड़कर
१८	३ काययोग	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	५ वेदमार्गणा	
१९.	१ पुरुषवेद	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७

अवस्था में ही सम्भव होने से औदारिकमिश्र और कार्मणयोग नही माने जाते है। इसीलिये आहारकद्विक एवं औदारिकमिश्र और कार्मण इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग देशविरति सयम में होते है।

यथाख्यात संयम में भी ग्यारह योग है। मनोयोग चतुष्क, वचन-योग चतुष्क, औदारिकयोग इन पूर्वोक्त नौ योगों के साथ इस संयम में, 'सकम्मुरलमिस्स अहखाए' कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग और भी पाये जाते हैं। इन दोनों योगों का ग्रहण केवली-समुद्घात[1] की अपेक्षा से किया गया है। क्योंकि आठ समय वाले इस समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय में औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे, पाँचवें समय मे कार्मण योग होता है। यथाख्यात संयम में आहारकद्विक एवं वैक्रियद्विक इन चार योगो के न मानने का कारण यह है कि ये चारों प्रमाद सहचारी है और यथाख्यात संयम अप्रमाद अवस्था वाले ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह इन चार गुणस्थानों मे होता है।

मार्गणाओं में योगों की सख्या नीचे लिखे अनुसार है—

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	योगों की संख्या व नाम
	१ गतिमार्गणा	
१.	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
२	२ तिर्यंचगति	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
३.	३ मनुष्यगति	१५ मन, वचन, काय योग के सभी भेद

१ तत्र सम्यग्—अपुनर्भावेन उत्—प्रावल्येन कर्मणो हनन—घातः प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात.।

जिस प्रयत्न विशेष मे सम्यक् प्रकार से अथवा प्रमुख रूप से कर्मों का क्षय किया जाता है, उसे समुद्घात कहते है।

४.	४ देवगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
	२ इन्द्रियमार्गणा	
५.	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
६	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
८.	४ चतुरिन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
९	५ पंचेन्द्रिय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	३ कायमार्गणा	
१०	१ पृथ्वीकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
११.	२ जलकाय	३ ,, ,,
१२.	३ वायुकाय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
१३.	४ अग्निकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
१४	५ वनस्पतिकाय	३ ,, ,,
१५	६ त्रसकाय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	४ योगमार्गणा	
१६	१ मनोयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोड़कर
१७.	२ वचनयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोडकर
१८.	३ काययोग	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	५ वेदमार्गणा	
१९.	१ पुरुषवेद	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७

२०.	२ स्त्रीवेद	१३	आहारकद्विक को छोड़कर
२१.	३ नपुंसकवेद	१५	पुरुष वेदवत्
	६ कषायमार्गणा		
२२.	१ क्रोध	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
२३.	२ मान	१५	,, ,, ,,
२४.	३ माया	१५	,, ,, ,,
२५.	४ लोभ	१५	,, ,, ,,
	७ ज्ञानमार्गणा		
२६.	१ मतिज्ञान	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
२७.	२ श्रुतज्ञान	१५	,, ,, ,,
२८.	३ अवधिज्ञान	१५	,, ,, ,,
२९	४ मनपर्यायज्ञान	१३	कार्मण, औदारिकमिश्र को छोडकर
३०.	५ केवलज्ञान	७	औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृषा मनोयोग तथा सत्य, असत्यामृषा वचनयोग
३१.	६ मतिअज्ञान	१३	आहारकद्विक को छोडकर
३२.	७ श्रुतअज्ञान	१३	,, ,,
३३.	८ विभंगज्ञान	१३	,, ,,
	८ संयममार्गणा		
३४.	१ सामायिक	१३	कार्मण, औदारिकमिश्र को छोड़कर
३५.	२ छेदोपस्थापनीय	१३	,, ,,
३६.	३ परिहारविशुद्धि	९	मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक
३७.	४ सूक्ष्मसंपराय	९	,, ,, ,,
३८	५ यथाख्यात	११	मनोयोग ४, वचनयोग ४, कार्मण, औदारिकद्विक

३९.	६ देशविरति	११ मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियद्विक
४०	७ अविरति	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
	९ दर्शनमार्गणा	
४१.	१ चक्षुदर्शन	१३ कार्मण, औदारिकमिश्र को छोड़कर
४२.	२ अचक्षुदर्शन	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
४३	३ अवधिदर्शन	१५ ,, ,, ,,
४४	४ केवलदर्शन	७ औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृषा मनोयोग व सत्य, असत्यामृषा वचनयोग
	१० लेश्यामार्गणा	
४५	१ कृष्णलेश्या	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
४६.	२ नीललेश्या	१५ ,, ,, ,,
४७.	३ कापोतलेश्या	१५ ,, ,, ,,
४८.	४ तेजोलेश्या	१५ ,, ,, ,,
४९.	५ पद्मलेश्या	१५ ,, ,, ,,
५०.	६ शुक्ललेश्या	१५ ,, ,, ,,
	११ भव्यत्वमार्गणा	
५१	१ भव्यत्व	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
५२	२ अभव्यत्व	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
	१२ सम्यक्त्वमार्गणा	
५३.	१ उपशम	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
५४.	२ क्षायोपशमिक	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
५५.	३ क्षायिक	१५ ,, ,, ,,
५६.	४ सासादन	१३ आहारकद्विक को छोड़कर

५७.	५ मिश्र	१०	मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रिय
५८.	६ मिथ्यात्व	१३	आहारकद्विक को छोड़कर
	१३ संज्ञीमार्गणा		
५९.	१ संज्ञी	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
६०.	२ असंज्ञी	६	कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
	१४ आहारकमार्गणा		
६१.	१ आहारकत्व	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४; काययोग ७
६२	२ अनाहारकत्व	१	कार्मणयोग

इस प्रकार से मार्गणाओं मे योगों का कथन करने के पश्चात् अब वर्ण्य विषयों के क्रमानुसार मार्गणाओं में उपयोगों की संख्या बतलाते है ।

तिअनाण नाण पण चउ दंसण बार जिय लक्खणुवओगा।
विणु मणनाण दुकेवल नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

शब्दार्थ—**ति अनाण**—तीन अज्ञान, **नाण**—ज्ञान, **पण**—पाँच, **चउ**—चार, **दंसण**—दर्शन, **बार**—बारह, **जियलक्खण**—जीव का लक्षण रूप, **उवओगा**—उपयोग, **विणु**—विना, **मणनाण**—मनपर्याय-ज्ञान, **दुकेवल**—केवलद्विक, **नव**—नौ, **सुरतिरिनिरय अजएसु**—देव, तिर्यंच, नरक गति और अविरति में ।

गाथार्थ—तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन यह बारह उपयोग है, जो जीव के लक्षण है। इनमे से मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय नौ उपयोग देवगति, तिर्यंचगति, नरकगति और अविरति मे पाये जाते है ।

विशेषार्थ—गाथा में 'जीव का लक्षण उपयोग है'—की ओर ध्यान

दिलाते हुए उपयोग के तीन अज्ञान, पांच ज्ञान और चार दर्शन कुल बारह भेद होने का संकेत करने के बाद मार्गणाओं मे उपयोगों की सख्या का निरूपण प्रारम्भ किया गया है।

अन्य वस्तुओं से लक्ष्य को भिन्न बतलाना लक्षण का उद्देश्य होता है। अन्य वस्तुओं से लक्ष्य की भिन्नता उसके असाधारण धर्म द्वारा ही प्रदर्शित की जा सकती है। उपयोग जीव का असाधारण धर्म इसलिये माना जाता है कि उपयोग सिर्फ जीव में है और उससे अजीव द्रव्यों से जीव की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। इसीलिये उपयोग को जीव का लक्षण माना है।

उपयोग के मुख्य दो भेद है—ज्ञान और दर्शन तथा इनमें से ज्ञानोपयोग के मतिज्ञान आदि आठ भेद और दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन आदि चार भेद होते है। कुल मिलाकर बारह भेद है। जिनके लक्षण पहले बताये जा चुके है।

उपयोग के उक्त बारह भेदो में से मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन इन तीन के सिवाय नौ उपयोग देवगति, तिर्यचगति, नरकगति तथा अविरति इन चार मार्गणाओं मे होते हैं।

देवगति आदि उक्त चार मार्गणाओ मे मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक उपयोग इसलिये नही माने जाते है कि ये तीनों सर्वविरति सापेक्ष है, लेकिन देवगति, तिर्यचगति, नरकगति और अविरति मे सर्वविरति सम्भव नही है। इसीलिए इनमे उक्त तीन उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं।[1]

अविरति सम्यक्त्वी भी होते है और मिथ्यात्वी भी। अतः सम्यग्दृष्टि अविरतियों में मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन यह छह उपयोग तथा मिथ्यात्वी अविरतियों में मति-अज्ञान

---

१ एतेपु सर्वेष्वपि हि सर्वविरत्यसम्भवेन मनःपर्यायज्ञान केवलद्विकासम्भवादिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६५

आदि तीन अज्ञान तथा चक्षुदर्शन आदि दो दर्शन ये पाँच उपयोग समझना चाहिए।

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिंदि सन्नि भवि सव्वे।
नयणेयर पण लेसा कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥

शब्दार्थ—**तस**—त्रसकाय, **जोय**—योग, **वेय**—वेद, **सुक्काहार**—शुक्ललेश्या और आहारक मार्गणा, **नर**—मनुष्य, **पणिंदि**—पचेन्द्रिय, **सन्नि**—सज्ञी, **भवि**—भव्य मे, **सव्वे**—सर्व, सभी, **नयणेयर**—चक्षुदर्शन और इतर–अचक्षुदर्शन, **पण**—पाँच, **लेसा**—लेश्या, **कसाइ**–कषाय, **दस**—दस, **केवलदुगूणा**—केवलद्विक रहित।

गाथार्थ—त्रस, योग, वेद, शुक्ल लेश्या, आहारक, मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, संज्ञी, भव्य मार्गणाओं में सभी उपयोग होते है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कृष्णादि पद्म पर्यन्त पाँच लेश्या, कषाय मार्गणाओं मे केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा मे त्रसकाय आदि तेरह मार्गणाओं मे सब उपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि ग्यारह मार्गणाओं मे दस उपयोग बतलाये है।

त्रसकाय आदि भव्यमार्गणा पर्यन्त जिन तेरह मार्गणाओ के नाम गाथा मे बताये है, उनमें से मन, वचन, काय यह तीनो योग, शुक्ल लेश्या और आहारकत्व यह मार्गणाये तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त पाई जाती है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती केवली भगवान मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय एवं औदारिक काययोग का व्यापार विहार आदि शारीरिक क्रियाओं के समय करते है। इसीलिये मनोयोग आदि तीनों योग तेरहवे गुणस्थान तक माने हैं। शुक्ललेश्या सामान्य से सभी मनुष्यों में पाई जाती है और गुणस्थानों की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि सयोगि

केवली पर्यन्त गुणस्थानों में। अतः शुक्ल लेश्या तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त मानी है। प्रत्येक जीव जन्म से लेकर जीवन पर्यन्त लोमाहार आदि आहारों में से किसी न किसी आहार का ग्रहण करता रहता है और तेरहवे गुणस्थान मे जीवनमुक्त अवस्था नही है। इसीलिए मनोयोग आदि शुक्ललेश्या और आहारकत्व दशा तेरहवें गुणस्थान तक मानी जाती है।

उक्त मार्गणाओ के अतिरिक्त त्रसकाय, तीन वेद, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय, संज्ञी और भव्य मार्गणाये चौदहवे गुणस्थान तक पाई जाती है। चौदहवे गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जाने का मतलब द्रव्य वेद से है, क्योकि भाव वेद तो नौवें गुणस्थान तक ही रहता है। इन त्रसकाय आदि तेरह मार्गणाओ में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्व-विरति, केवलज्ञानी आदि सभी जीवो का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने जाते है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कृष्ण, नील, कापोत, तेज·, पद्म लेश्या, क्रोध, मान, माया और लोभ इन ग्यारह मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगो के अतिरिक्त शेष मतिज्ञान आदि दस उपयोग बतलाये है। इसका कारण यह है कि चक्षुदर्शन और अचक्षु-दर्शन बारहवे गुणस्थान तक, कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याये छठे गुण-स्थान तक, तेजः पद्म लेश्याये सातवे गुणस्थान तक और क्रोधादि कषायो का उदय दसवे गुणस्थान तक पाया जाता है। यह गुणस्थान क्षायोपशमिक भावो की अपेक्षा रखते है और केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दोनो उपयोग अपने-अपने आवरण कर्म के क्षय से होने वाले है जो तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान मे पाये जाते है। इसीलिए चक्षुदर्शन आदि ग्यारह मार्गणाओं मे केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग माने है।

आदि तीन अज्ञान तथा चक्षुदर्शन आदि दो दर्शन ये पाँच उपयोग समझना चाहिए।

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिदि सन्नि भवि सव्वे।
नयणेयर पण लेसा कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥

शब्दार्थ—**तस**—त्रसकाय, **जोय**—योग, **वेय**—वेद, **सुक्काहार**—शुक्ललेश्या और आहारक मार्गणा, **नर**—मनुष्य, **पणिदि**—पचेन्द्रिय, **सन्नि**—सञ्ज्ञी, **भवि**—भव्य मे, **सव्वे**—सर्व, सभी, **नयणेयर**—चक्षुदर्शन और इतर–अचक्षुदर्शन, **पण**—पॉच, **लेसा**—लेश्या, **कसाइ**–कषाय, **दस**—दस, **केवलदुगूणा**—केवलद्विक रहित।

गाथार्थ—त्रस, योग, वेद, शुक्ल लेश्या, आहारक, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, संज्ञी, भव्य मार्गणाओं में सभी उपयोग होते है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कृष्णादि पद्म पर्यन्त पॉच लेश्या, कषाय मार्गणाओं में केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसकाय आदि तेरह मार्गणाओं मे सव उपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि ग्यारह मार्गणाओ में दस उपयोग बतलाये है।

त्रसकाय आदि भव्यमार्गणा पर्यन्त जिन तेरह मार्गणाओं के नाम गाथा मे वताये है, उनमें से मन, वचन, काय यह तीनो योग, शुक्ल लेश्या और आहारकत्व यह मार्गणायें तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त पाई जाती है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती केवली भगवान मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय एवं औदारिक काययोग का व्यापार विहार आदि शारीरिक क्रियाओं के समय करते है। इसीलिये मनोयोग आदि तीनों योग तेरहवे गुणस्थान तक माने है। शुक्ललेश्या सामान्य से सभी मनुष्यो मे पाई जाती है और गुणस्थानों की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि सयोगि

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन आठ मार्गणाओं में सम्यक्त्व न होने से सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन और तथाविध योग्यता का अभाव होने से विभंगज्ञान यह आठ उपयोग तो इनमें पाये ही नही जाते है और 'अचक्खू' चक्षु इन्द्रिय न होने से। पूर्वोक्त मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन इन चार उपयोगो मे से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते है।[1]

'अनाणतिग अभव मिच्छ दुगे' अर्थात् अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक–मिथ्यात्व, सासादन, इन छह मार्गणाओ मे 'तिअनाण दसणदुगं' अज्ञानत्रिक और दर्शनद्विक अर्थात् मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पॉच उपयोग होते है। लेकिन सम्यक्त्व व सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पॉच ज्ञानोपयोग और अवधि व केवलदर्शन यह सात उपयोग नही होते है।

उक्त कथन कार्मग्रथिक अपेक्षा से किया गया है। क्योकि कार्मग्रथिक पहले तीन गुणस्थानो में अज्ञान मानते है और सैद्धांतिक विभगज्ञानी को अवधिदर्शन मानते है और सासादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते है। इस प्रकार की कार्मग्रथिक और सैद्धातिक मत-भिन्नता है। यहाँ जो अज्ञान-

---

१ एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थ., न शेषा, यत. सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भव., सर्वविरत्यभावाच्च मन पर्यायज्ञान केवलज्ञान केवलदर्शनाभाव., यत् पुनरवधि द्विक विभगज्ञान च तद् भवप्रत्यय गुणप्रत्यय, वा, नचाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्यय सम्भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्ध.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६५

चउरिंदिऽसन्नि दुअनाणदंस इग वि त्ति थावरि अचक्खू।
तिअनाण दंसणदुगं अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥३२॥

शब्दार्थ—**चउरिंदि**—चतुरिन्द्रिय मे, **असन्नि**—असज्ञी मे, **दुअनाणदंस**—दो अज्ञान और दो दर्शन, **इग वि त्ति थावरि**—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और स्थावरकाय मे, **अचक्खू**—चक्षुदर्शन के विना, **ति अनाण**—तीन अज्ञान, **दंसणदुगं**—दो दर्शन, **अनाणतिग**—अज्ञानत्रिक मे, **अभव**—अभव्य मे, **मिच्छदुगे**—मिथ्यात्वद्विक मे।

गाथार्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय मे दो अज्ञान तथा दो दर्शन, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और स्थावर काय में चक्षुदर्शन के सिवाय तथा अज्ञानत्रिक, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक मे तीन अज्ञान और दो दर्शन होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय मे चार उपयोग, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पृथ्वीकाय आदि पॉच स्थावरों में तीन उपयोग तथा अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक में पॉच उपयोग वतलाये है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिए।

'चउरिदिऽसन्नि दुअनाणदस' यानी चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में दो अज्ञान—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा दो दर्शन—चक्षुदर्शन और अचक्षदर्शन यह चार उपयोग है। चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो में सम्यक्त्व न होने से सम्यक्त्व सहचारी मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल यह पाँच ज्ञान तथा अवधि, केवल यह दो दर्शन कुल सात उपयोग पाये ही नही जाते है और विभंगज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नही है। इसीलिए चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो में अज्ञानद्विक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और दर्शनद्विक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन कुल मिलाकर चार उपयोग होते है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन आठ मार्गणाओं मे सम्यक्त्व न होने से सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन और तथाविध योग्यता का अभाव होने से विभगज्ञान यह आठ उपयोग तो इनमें पाये ही नही जाते है और 'अचक्खू' चक्षु इन्द्रिय न होने से। पूर्वोक्त मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन इन चार उपयोगो मे से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते है।[1]

'अनाणतिग अभव मिच्छ दुगे' अर्थात् अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक-मिथ्यात्व, सासादन, इन छह मार्गणाओ मे 'तिअनाण दसणदुग' अज्ञानत्रिक और दर्शनद्विक अर्थात् मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पाँच उपयोग होते है। लेकिन सम्यक्त्व व सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानोपयोग और अवधि व केवलदर्शन यह सात उपयोग नही होते है।

उक्त कथन कार्मग्रंथिक अपेक्षा से किया गया है। क्योंकि कार्मग्रथिक पहले तीन गुणस्थानों मे अज्ञान मानते है और सैद्धांतिक विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन मानते है और सासादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते है। इस प्रकार की कार्मग्रथिक और सैद्धांतिक मत-भिन्नता है। यहाँ जो अज्ञान-

---

१ एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थ, न शेषा, यत. सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भव., सर्वविरत्यभावाच्च मन पर्यायज्ञान केवलज्ञान केवलदर्शनाभाव:, यत् पुनरवधि द्विक विभगज्ञान च तद् भवप्रत्यय गुणप्रत्यय, वा, नचाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्यय सम्भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्ध ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६५

त्रिक आदि छह मार्गणाओं मे अवधिदर्शन और सासादन मार्गणा मे ज्ञान नही माना है सो कार्मग्रथिक मत के अनुसार समझना चाहिए ।[1]

केवलदुगे नियदुगं नव तिअनाण विणु खइय अहखाए ।
दंसणनाणतिगं देसि मीसि अन्नाणमीसं तं ॥३३॥

शब्दार्थ—**केवल दुगे**—केवलद्विक मे **नियदुगं**—निज द्विक, **नव**—नौ, **ति अनाण**—तीन अज्ञान, **विणु**—विना, **खइय**—क्षायिक सम्यक्त्व मे, **अहखाये**—यथाख्यात सयम मे, **दंसणनाणतिगं**—दर्शनत्रिक, ज्ञानत्रिक, **देसि**—देशविरति मे, **मीसि**—मिश्र मे, **अन्नाणमीसं**—अज्ञान से मिश्रित, **तं**—वे ।

गाथार्थ—केवलद्विक मे अपने-अपने नाम वाले दो उपयोग है । क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात सयम मे तीन अज्ञानों के सिवाय नौ तथा देशविरति मे तीन दर्शन व तीन ज्ञान उपयोग होते है । मिश्रदृष्टि मे भी वही छह उपयोग हैं लेकिन वे अज्ञानमिश्रित होते है ।

विशेषार्थ—गाथा में मिश्रदृष्टि व विकासोन्मुखी जीवों में पाई जाने वाली केवलज्ञान आदि मार्गणाओं मे उपयोग को बतलाया है कि उनमे कितने और कौन-कौन से उपयोग होते है ।

सर्वप्रथम केवलज्ञान और केवलदर्शन मे उपयोग बतलाये कि 'केवलदुगे नियदुगं' उन्ही नाम वाले दो उपयोग है । अर्थात् केवल-ज्ञान मे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग है और इसी प्रकार केवलदर्शन में भी यही दो उपयोग है । उक्त दो उपयोग मानने का कारण यह है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय मतिज्ञान

---

१ विशेष स्पष्टीकरण के लिए गा० २१ व ४९ तया गो० जीवकाड गा० ७०५ देखिये ।

आदि दस उपयोग छाद्मस्थिक उपयोग है और केवली के छद्मो का क्षय हो जाने से छद्म सहचारी उपयोग सम्भव नही है ।[1]

क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात संयम में मिथ्यात्वोदय सहभावी अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान उपयोग नही होने से नौ उपयोग है। क्षायिक सम्यक्त्व के समय तो मिथ्यात्व का अभाव ही होता है और यथाख्यात सयम मे जो ग्यारह से चौदहवे गुणस्थान मे पाया जाता है, ग्यारहवे गुणस्थान मे मिथ्यात्व भी है, लेकिन वह सत्तागत है उदयमान नहीं। इसीलिये इन दोनों मार्गणाओं में अज्ञानत्रिक उपयोग नही होते है। शेष जो नौ उपयोग होते है, वे इस प्रकार समझना चाहिये—क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात इन दो मार्गणाओं में छद्मस्थ अवस्था मे पहले चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन यह तीन दर्शन कुल सात उपयोग होते है तथा केवली के केवलज्ञान व केवलदर्शन ये दो उपयोग होते है। उक्त सात और दो को मिलाकर कुल नौ उपयोग होते है।

देशविरति मे 'दंसणनाणतिग देसि' तीन दर्शन और तीन ज्ञान सब मिलाकर छह उपयोग होते है। तीन दर्शन और तीन ज्ञान के नाम इस प्रकार है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान। इन छह में अवधिद्विक को इसलिये ग्रहण किया गया है कि श्रावकों मे अवधि उपयोग पाये जाने का वर्णन शास्त्रो मे आया है।

देशविरति में तीन अज्ञान और मनपर्याय ज्ञान तथा केवलद्विक

---

१ 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'निजद्विक' केवलज्ञानकेवलदर्शन-रूपमुपयोगद्विक भवति, न शेषा दश, ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात् 'नट्ठम्मि उ छउमत्थिए नाणे' इति वचनात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका

इन छह उपयोगों के नही होने का कारण यह है कि देशविरति में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यात्व सहभावी अज्ञानत्रिक उपयोग नही होते हैं तथा मनपर्यायज्ञान व केवलद्विक यह तीन उपयोग सर्वविरति की अपेक्षा रखने वाले है, लेकिन देशविरति मे एकदेश आंशिक सयम का आचरण होता है। अत मनपर्याय, केवलद्विक यह तीन उपयोग नहीं पाये जाते है।

मिश्रदृष्टि में भी देशविरति की तरह दर्शनत्रिक और ज्ञानत्रिक कुल छह उपयोग है। लेकिन देशविरति की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि मिश्रदृष्टि में 'अन्नाणमीस' अज्ञान से मिश्रित होते है, शुद्ध नही होते है। अर्थात् मतिज्ञान मतिअज्ञान से मिश्रित, श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञान से मिश्रित, अवधिज्ञान अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान) से मिश्रित होता है। इस मिश्रितता का कारण यह है कि मिश्रदृष्टि गुणस्थान के समय अर्ध-विशुद्ध दर्शन मोहनीय पुज का उदय होने के कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध यानी मिश्र होते है। शुद्धि की अपेक्षा मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा अज्ञान कहा जाता है।

मिश्र गुणस्थान में अवधिदर्शन का विचार करने वाले कार्मग्रंथिक दो पक्ष हैं। पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है।[1] दूसरा पक्ष तीसरे गुणस्थान मे अवधिदर्शन मानता है।[2] यहाँ दूसरे पक्ष को लेकर मिश्रदृष्टि के उपयोगो मे अवधिदर्शन को गिना है।

मणनाणचक्खुवज्जा अणहारे तिन्नि दंस चउ नाणा।
चउनाणसंजमोवसम वेयगे ओहिदंसे य ॥३४॥

---

१ यह पक्ष गाथा २१ के 'जयाइ नव मइसुओहि दुगे' पद मे वताया है।
२ इस पक्ष को गाथा ४८ 'ति अनाण····· अत दुगे' मे कहा है।

शब्दार्थ—**मणनाण**—मनपर्यायज्ञान, **चक्खु**—चक्षुदर्शन, **वज्जा**—छोडकर, **अणहारे**—अनाहारक मे, **तिन्नि**—तीन, **दंस**—दर्शन, **चउ**—चार, **नाणा**—ज्ञान, **चउ**—चार, **नाण**—ज्ञान, **संजम**—सयम, **उवसम**—उपशम, **वेयगे**—वेदक मे, **ओहिदंसे**—अवधिदर्शन मे, **य**—और।

गाथार्थ—अनाहारक मार्गणा मे मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष दस उपयोग होते है। चार ज्ञान, चार सयम, उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और अवधिदर्शन मे तीन दर्शन और चार ज्ञान उपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा मे बताई गई मार्गणाओं मे उपयोगो का कथन नीचे लिखे अनुसार है।

सर्वप्रथम अनाहारक मार्गणा में उपयोग बतलाये है कि 'मणनाण चक्खु वज्जा' मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन को छोड़कर शेष दस उपयोग होते है। क्योंकि यह उपयोग पर्याप्त अवस्थाभावी होने से अनाहारक मार्गणा में नही होते है।

अनाहारकत्व अवस्था विग्रहगति में, केवली समुद्‌घात में अथवा मोक्ष मे होती है। अनाहारकत्व मे मनपर्यायज्ञान को छोड कर जो मतिज्ञान आदि चार ज्ञान, मतिअज्ञान आदि तीन अज्ञान तथा चक्षु-दर्शन के अतिरिक्त अचक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन कुल दस उपयोग बतलाये है, उनमे से विग्रहगति मे आठ उपयोग होते है—भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी की अपेक्षा तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी की अपेक्षा तीन अज्ञान तथा सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी दोनों की अपेक्षा अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन। केवली समुद्‌घात तथा मोक्ष में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते है। इस प्रकार से विग्रहगति सम्बन्धी आठ और केवली समुद्‌घात व मोक्ष में पाये जाने वाले दो उपयोगों को मिलाने से अनाहारक मार्गणा में दस उपयोग माने है।

गाथा के 'चउ नाण सजम' पद से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान इन चार ज्ञानों तथा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय इन चार संयमो को ग्रहण किया है तथा 'उवसम वेयगे ओहिदंसे' पद से उपशम सम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और अवधिदर्शन[1] मार्गणा को ग्रहण किया है। यह सब भेद मिलकर ग्यारह है। ये ग्यारह मार्गणाये चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानों में पाई जाती है। इसलिए इन मार्गणाओं में मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान—मति-अज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान) तथा क्षायिक भाव रूप केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह पांच उपयोग तो नही किंतु 'तिन्नि दंस चउनाणा' तीन दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि और चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय कुल सात उपयोग होते है।

मार्गणाओं में उपयोग का कथन करने के पश्चात् अन्य आचार्यों द्वारा की गई विवक्षाओं को नीचे लिखी गाथा में प्रस्तुत करते है—

दो तेर तेर बारस मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काए जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥३५॥

शब्दार्थ—**दो**—दो, **तेर**—तेरह, **तेर**—तेरह, **बारस**—बारह, **मणे**—मनोयोग मे, **कमा**—अनुक्रम से, **अट्ठ**—आठ, **चउ**—चार, **चउ**—चार, **वयणे**—वचनयोग मे, **चउ**—चार, **दु**—दो, **पण**—पाच, **तिन्नि**—तीन, **काये**—काययोग मे, **जिय**—जीवस्थान, **गुण**—गुणस्थान, **जोग**—योग, **उवजोग**—उपयोग, **अन्ने**—अन्य आचार्य (कहते है)।

---

१ अवधिदर्शन मे कार्मग्रन्थिक मतानुसार मतिअज्ञान आदि की विवक्षा नही की है। सिद्धान्त में तो अवधिदर्शन मे भी मतिअज्ञान आदि को माना गया है।

गाथार्थ—अन्य आचार्यों के मतानुसार मनोयोग में दो, तेरह, तेरह और बारह, वचनयोग में आठ, दो, चार और चार, काययोग मे चार, दो, पाँच और तीन क्रमश जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग होते है।

विशेषार्थ—पूर्व में विना किसी विशेष विवक्षा के मन, वचन और काययोग में जीवस्थान आदि का विचार किया गया है। लेकिन इस गाथा में योगो मे विशेष विवक्षाओं को लेकर जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग सम्बन्धी मतान्तर का संकेत किया गया है कि अन्य आचार्य मनोयोग मे दो जीवस्थान, तेरह गुणस्थान, तेरह योग और बारह उपयोग मानते है। इसी प्रकार से वचनयोग में आठ जीवस्थान, दो गुणस्थान, चार योग और चार उपयोग तथा काययोग मे चार जीवस्थान, दो गुणस्थान, पॉच योग एव तीन उपयोग मानते है।

उक्त मतान्तर का अभिप्राय नीचे लिखे अनुसार है—

पूर्व में जो योग कहे गये हैं उनमें काययोग सभी जीवों को, वचन-योग द्वीन्द्रियादिक सभी जीवों को और मनोयोग संज्ञी पचेन्द्रिय को बताया है। लेकिन कतिपय आचार्य मतान्तर से कहते है कि जिसे एक योग होता है, उसे दूसरा योग नही मानना चाहिए। संज्ञी पंचेन्द्रिय को मनोयोग है, उसे वचनयोग और काययोग नही है। विकलेन्द्रियो और असंज्ञी पचेन्द्रिय को वचनयोग और एकेन्द्रियं को सिर्फ एक काय-योग माने तव उनके मतानुसार—

मनोयोगी को दो जीवस्थान—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, तेरह गुणस्थान—मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त। तेरह योग—औदारिकमिश्र और कार्मण के सिवाय। क्योंकि ये दोनों योग जन्म के समय तथा केवली समुद्घात में होते हैं और वहाँ मनोयोग नही होता है। वारह उपयोग—मतिज्ञान आदि होते है।

वचनयोगी को आठ जीवस्थान—दो द्वीन्द्रिय के, दो त्रीन्द्रिय

के, दो चतुरिन्द्रिय के और दो असंज्ञी पंचेन्द्रिय के। दो गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन। चार योग—औदारिकद्विक, कार्मण और असत्यामृषा वचन। चार उपयोग—दो अज्ञान और दो दर्शन।

काययोगी को चार जीवस्थान—एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और वादर तथा इनके पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से। दो गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन। पाँच योग—औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण। तीन उपयोग—दो अज्ञान और अचक्षुदर्शन।

इस प्रकार से योग मे जीवस्थान आदि मानने के सम्बन्ध मे मतान्तर का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

पूर्व में किसी प्रकार की विवक्षा किये बिना तीन योगों में जीवस्थान आदि का विचार किया गया है, जबकि यहाँ विशेष विवक्षा पूर्वक। यहाँ प्रत्येक योग की यथासंभव अन्य योग से रहित की विवक्षा है और पूर्व में काययोग को मनोयोग और वचनयोग रहित माना है। वचनयोग, मनोयोगरहित और मनोयोग सामान्य से विवक्षित है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में मनोयोग रहित वचनयोग तथा एकेन्द्रिय मे मनोयोग और वचनयोगरहित सिर्फ काययोग होता है। मनोयोग में सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान होते है। यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए।

शंका—मनपर्याप्ति तो छह पर्याप्तियों में अंतिम पर्याप्ति है और मनपर्याप्ति के पूर्ण होने पर ही जीव पर्याप्त होता है, अपर्याप्त नही, तो अपर्याप्त अवस्था कैसे मानी जा सकती है ?

उत्तर—गाथा १७ में मनोयोगमार्गणा का जो संज्ञी पंचेन्द्रिय यह एक ही जीवस्थान माना है सो वर्तमान मनोयोग वाले जीव की अपेक्षा से और यहाँ (गाथा ३५ में) जो दोनों जीवस्थान माने है, वे वर्तमान और भावी उभय मनोयोग वालों को मनोयोगी मानकर।

अयोगिकेवली के सिवाय तेरह गुणस्थान होते है और चौदहवां गुणस्थान अयोगि को ही होता है, योग वाले को नही।

कार्मण और औदारिकमिश्र के अलावा तेरह योग होते है। यहाॅ योग में मनोयोग के समकालीन योगों की गणना की है, दूसरों की नही। इसीलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी अथवा केवलीसमुद्घात-भावी उक्त दोनों योग मनोयोग मार्गणा मे सम्भव नही हैं। केवली समुद्घात मे द्रव्यमन है किन्तु प्रयोजन न होने से केवलज्ञानी मनो-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण नही करते है। अर्थात् उस अवस्था में भी वचनयोग व काययोग का साहचर्य वाला मनोयोग नही है। ग्रन्थों मे ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि—

मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात्।

—धर्मसार टीका

उपयोग बारह होते है। मन वाले प्राणियों मे सभी तरह की बोधशक्ति होती है। इसीलिये मनोयोग मार्गणा मे बारह उपयोग होते है।

अब वचनयोग सम्बन्धी मतान्तर का उल्लेख करते है। यहाॅ वचन-योग का आशय मनोयोग से रहित वचनयोग है। वचनयोग मार्गणा मे आठ जीवस्थान, दो गुणस्थान, चार योग, चार उपयोग होते है। आठ जीवस्थान इस प्रकार है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय चारों पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से आठ। १७वी गाथा मे सामान्य वचनयोग वाले की विवक्षा है, लेकिन यहाॅ वर्तमान और भावी दोनो अवस्थाभावी जीवस्थानों की गणना है जिससे वहाँ पाॅच और यहाॅ आठ जीवस्थान कहे है।

मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान होते है। कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग है तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह चार

उपयोग है। पहले गाथा २२, २८ और ३१ में जो तेरह गुणस्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं, वहाँ वचनयोग मार्गणा मे समकालीन योगों की विवक्षा है, यानी अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र की गणना नही की है। यहाँ असमकालीन किन्तु भावी की अपेक्षा गणना करके कार्मण-औदारिकमिश्र की भी विवक्षा की है। इसी प्रकार दो गुणस्थानों और चार उपयोगों के बारे मे भी समझ लेना चाहिए।

अब काययोग के मतान्तर का स्पष्टीकरण करते है कि काययोग यानी वचनयोग, मनोयोग रहित काययोग। इसमे चार जीवस्थान, दो गुणस्थान, पाँच योग और तीन उपयोग होते है।

सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय, यह दोनों पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार से चार जीवस्थान होते है। पहला और दूसरा यह दो गुण-स्थान, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण यह पाँच योग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते है। पहले गाथा १६, २२, २४ और ३१ में जीवस्थान चौदह, गुणस्थान तेरह, योग पन्द्रह और उपयोग बारह बतलाये गये है। वहाँ अन्य योग सहचरित काययोग की विवक्षा है और यहाँ अन्य योगरहित काययोग की विवक्षा। जो सिर्फ एकेन्द्रिय में ही पाया जाता है। इसी प्रकार योग, उपयोग आदि को भी घटाया जा सकता है।

इस प्रकार अन्य आचार्यो द्वारा विवक्षा भेद से माने गये मतान्तरो को इस गाथा में बतलाया। लेकिन तीनों योग-विषयक यह मतान्तर त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। क्योंकि मनोयोग में जो दो जीवस्थान कहे हैं, उनमें अपर्याप्त को मन कैसे संभव है? मनपर्याप्ति पूर्ण हो तब मनोयोगी कहलाता है और उसे पर्याप्त कहते हैं और कदाचित मनो-लब्धिवंत अपर्याप्त को मन कहें तो इसको योग १५ होना चाहिए। औदारिकमिश्र और कार्मणयोग को क्यों नही माना जाता है? वचन-

योग में जो आठ जीवस्थान कहे है वे कैसे संभव है ? अपर्याप्त को भाषापर्याप्ति पूर्ण किये विना वचनयोग कैसे मान सकते है ?

मार्गणाओ मे उपयोगो की सख्या निम्न अनुसार है—

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	उपयोगों की संख्या व नाम
	१ गति मार्गणा	
१.	१ नरकगति	६ मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक को छोड़कर
२	२ तिर्यंचगति	६ ,, ,,
३.	३ मनुष्यगति	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
४.	४ देवगति	६ नरकगतिवत्
	२ इन्द्रियमार्गणा	
५.	१ एकेन्द्रिय	३ मति-श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन
६	२ द्वीन्द्रिय	३ ,, ,, ,,
७.	३ त्रीन्द्रिय	३ ,, ,, ,,
८	४ चतुरिन्द्रिय	४ मति-श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन
६	५ पचेन्द्रिय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
	३ कायमार्गणा	
१०	१ पृथ्वीकाय	३ मति-श्रुतअज्ञान, अचक्षुदर्शन
११.	२ जलकाय	३ ,, ,,
१२.	३ अग्निकाय	३ ,, ,,
१३.	४ वायुकाय	३ ,, ,,
१४.	५ वनस्पतिकाय	३ ,, ,,
१५.	६ त्रसकाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनो

४ योगमार्गणा

१६.	१ मनोयोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
१७.	२ वचनयोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग ४ दर्शनोपयोग)
१८.	३ काययोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

५ वेदमर्गणा

१९	१ पुरुषवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
२०.	२ स्त्रीवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
२१.	३ नपुंसकवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

६ कषायमार्गणा

२२	१ क्रोध	१० केवलद्विक को छोड़कर
२३.	२ मान	१० ,, ,,
२४	३ माया	१० ,, ,,
२५	४ लोभ	१० ,, ,,

७ ज्ञानमार्गणा

२६.	१ मतिज्ञान	७ चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
२७.	२ श्रुतज्ञान	७ ,, ,,
२८.	३ अवधिज्ञान	७ ,, ,,
२९.	४ मनपर्यायज्ञान	७ ,, ,,
३०.	५ केवलज्ञान	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन

३१.	६ मतिअज्ञान	५	तीन अज्ञान, दो दर्शन
३२.	७ श्रुतअज्ञान	५	,, ,,
३३.	८ विभंगज्ञान	५	,, ,,

८ संयममार्गणा

३४.	१ सामायिक	७	चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
३५.	२ छेदोपस्थापनीय	७	,, ,,
३६.	३ परिहारविशुद्धि	७	,, ,,
३७.	४ सूक्ष्मसपराय	७	,, ,,
३८.	५ यथाख्यात	९	तीन अज्ञान को छोड़कर
३९.	६ देशविरति	६	तीन ज्ञान, तीन दर्शन
४०.	७ अविरति	९	मनपर्याय ज्ञान, केवलद्विक को छोड़कर

९ दर्शनमार्गणा

४१.	१ चक्षुदर्शन	१०	केवलद्विक को छोड़कर
४२.	२ अचक्षुदर्शन	१०	,, ,,
४३.	३ अवधिदर्शन	७	चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
४४.	४ केवलदर्शन	२	केवलज्ञान, केवलदर्शन

१० लेश्यामार्गणा

४५	१ कृष्णलेश्या	१०	केवलद्विक को छोड़कर
४६	२ नीललेश्या	१०	,, ,,
४७.	३ कापोतलेश्या	१०	,, ,,
४८.	४ तेजोलेश्या	१०	,, ,,
४९	५ पद्मलेश्या	१०	,, ,,
५०.	६ शुक्ललेश्या	१२	सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

११ भव्यत्वमार्गणा

५१.	१ भव्यत्व	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
५२.	२ अभव्यत्व	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन

१२ सम्यक्त्वमार्गणा

५३.	१ औपशमिक	७ चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
५४.	२ क्षयोपशमिक	७ ,, ,,
५५	३ क्षायिक	९ तीन अज्ञान को छोडकर
५६.	४ सासादन	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन
५७.	५ मिश्र	६ तीन ज्ञान, तीन दर्शन अज्ञानमिश्रित
५८	६ मिथ्यात्व	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन

१३ संज्ञीमार्गणा

५९.	१ संज्ञित्व	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
६०.	२ असंज्ञित्व	४ मति-श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन

१४ आहारकमार्गणा

६१.	१ आहारकत्व	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
६२.	२ अनाहारकत्व	१० मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन को छोडकर

विशेष—

असज्ञी पचेन्द्रिय मे ४ उपयोग—मति-श्रुतअज्ञान, चक्षु-अचक्षु दर्शन

मार्गणाओ में विचार किये जाने वाले विपयो मे से अभी तक जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग का विवेचन किया जा चुका है। अव शेष रहे लेश्या और अल्पवहुत्व का क्रमश: विवेचन करते है। मार्गणाओं मे लेश्याओं सम्वन्धी गाथा नीचे लिखे अनुसार है—

मार्गणाओं में लेश्या

छसु लेसासु सठाणं एगिंदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ नारय विगलग्गि पवणेसु ॥३६॥
अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।

शब्दार्थ—**छसु**—छह, **लेसासु**—लेश्याओ मे, **सठाण**—अपने-अपने नाम वाली लेश्या, **एगिंदि**—एकेन्द्रिय मे, **असन्नि**—असज्ञी मे, **भूदगवणेसु**—पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय मे, **पढमा**—आदि की, **चउरो**—चार लेश्याये, **तिन्नि**—तीन, **उ**—और, **नारय**—नारको मे, **विगलग्गि**—विकलेन्द्रिय व अग्निकाय मे, **पवणेसु**—वायु-काय मे, **अहखाय**—यथाख्यात सयम मे, **सुहुम**—सूक्ष्मसंपराय चारित्र मे, **केवलदुगि**—केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन मे, **सुक्का**—शुक्ल-लेश्या, **छावि**—छहो लेश्याये, **सेसठाणेसु**—वाकी की मार्गणाओ मे ।

गाथार्थ—लेश्यामार्गणा के छह भेदो में अपनी-अपनी लेश्या वाला स्थान है। एकेन्द्रिय, असंज्ञी, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में आदि की चार लेश्याये और नरकगति, विकलेन्द्रियत्रिक, अग्निकाय, वायुकाय में आदि की तीन लेश्याये होती है । यथाख्यात, सूक्ष्मसपराय और केवलद्विक में शुक्ललेश्या तथा इन मार्गणाओं के अतिरिक्त वाकी वची हुई मार्गणाओ मे छहो लेश्यायें है ।

विशेषार्थ—उक्त डेढ गाथा में चौदह मार्गणाओं के ६२ भेदो में लेश्याओ का कथन किया गया है। इस कथन को लेश्यामार्गणा से ही प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'छसु लेसासु सठाण' छह लेश्याओं में स्व-नाम वाली लेश्या होती है। यानी कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल यह लेश्या के छह भेद है और छहो भेदो मे अपने-अपने नाम वाली एक-एक लेश्या होती है। जैसे—कृष्णलेश्या मे कृष्णलेश्या, नीललेश्या में नीललेश्या। इसी प्रकार क्रमशः

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यामार्गणा के लिए अपने नाम वाली लेश्या समझ लेना चाहिये।

छहों लेश्याओं मे स्व-नाम वाली लेश्या मानने का कारण यह है कि एक समय मे एक जीव के एक ही लेश्या होती है, दो नही। क्योकि छहों लेश्यायें समान काल की अपेक्षा से आपस में विरुद्ध है। जैसे कि कृष्णलेश्या के समय शुक्ललेश्या के परिणाम नही हो सकते है किन्तु कृष्णलेश्या वाले जीवो के कृष्णलेश्या ही होती है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओ के लिए भी समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक लेश्या मे उस नाम वाली लेश्या होती है।

एकेन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय इन पॉच मार्गणाओं मे आदि की चार—कृष्ण, नील, कापोत और तेज लेश्यायें होती है। इन चार लेश्याओं मे से कृष्ण आदि तीन लेश्याये तो भवप्रत्ययिक होने से सदैव पाई जाती है। लेकिन तेजोलेश्या के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अपर्याप्त अवस्था मे होती है। जब कोई भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क या सौधर्म, ईशान स्वर्ग का देव तेजोलेश्या के परिणामों मे मर कर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय मे जन्म लेता है तब कुछ काल के लिए अपर्याप्त अवस्था मे पूर्व-जन्म की मरणकालीन तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है। क्योंकि यह नियम है कि जीव जिस लेश्या परिणाम मे मरता है, उन परिणामों के साथ आगामी भव मे जन्म लेता है।[1]

---

१ कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्चतस्रो भवन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा हि स्वस्वभवच्युता एतेषु मध्ये समुत्पद्यन्ते ते च तेजोलेश्यावन्तः, जीवश्च यल्लेश्य एव म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपपद्यते—'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' इति वचनात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६७

'नारय विगलग्गि पवणेसु तिन्नि' यानी नरकगति, विकलेन्द्रिय-त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अग्निकाय और वायुकाय इन छह मार्गणाओ मे आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत लेश्याये होती है। क्योकि इन जीवों में ऐसे अशुभ परिणाम होते है जिससे उनमे कृष्ण आदि तीन लेश्याओ के सिवाय अन्य लेश्या मे नही पाई जा सकती है।

यथाख्यात सयम, सूक्ष्मसपराय सयम और केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन इन चार मार्गणाओं में सिर्फ शुक्ललेश्या ही होती है। इनमे शुक्ललेश्या ही होने का कारण यह है कि परिणाम इतने शुद्ध होते है कि जिससे उनमे शुक्ललेश्या के अलावा अन्य कोई लेश्या सभव नही है।

इस प्रकार से वासठ मार्गणाओं मे से इक्कीस मार्गणाओं में तो उन-उनके नामोल्लेख पूर्वक लेश्याये वतलाई हैं और शेष इकतालीस मार्गणाओं मे लेश्यास्थान वतलाने के लिए सकेत किया गया है कि 'छावि सेसठाणेसु' शेप मार्गणाओ मे छहों लेश्यायें पाई जाती है। शेष मार्गणाओ के नाम यह है—

१ देवगति, २ मनुष्यगति, ३ तिर्यंचगति, ४ पचेन्द्रिय जाति, ५ त्रसकाय, ६ मनोयोग, ७ वचनयोग, ८ काययोग, ९ पुरुप वेद, १० स्त्री वेद, ११ नपुसक वेद, १२ क्रोध, १३ मान, १४ माया, १५ लोभ, १६ मतिज्ञान, १७ श्रुतज्ञान, १८ अवधिज्ञान, १९ मनपर्यायज्ञान, २० मतिअज्ञान, २१ श्रुतअज्ञान, २२ विभंगज्ञान, २३ सामायिक संयम, २४ छेदोपस्थापनीय सयम, २५ परिहारविशुद्धि संयम, २६ देश-विरति, २७ अविरति, २८ चक्षुदर्शन, २९ अचक्षुदर्शन, ३० अवधिदर्शन, ३१ भव्यत्व, ३२ अभव्यत्व, ३३ क्षायिक सम्यक्त्व, ३४ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ३५ औपशमिक सम्यक्त्व, ३६ सासादन सम्यक्त्व, ३७ मिश्र-दृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व), ३८ मिथ्यात्व, ३९ संज्ञित्व, ४० आहारकत्व

और ४१ अनाहारकत्व। इन ४१ मार्गणाओं मे कृष्णादि शुक्ललेश्या पर्यन्त छहों लेश्याये होती है।

इस प्रकार से मार्गणाओ में लेश्यायें बतलाई है। अब इन मार्गणा-स्थानों मे स्वस्थान के अपेक्षा अल्पबहुत्व को कहते है। मार्गणाओं में अल्पबहुत्व गति आदि मार्गणाओं के मूल भेदों के क्रम से उनके उत्तर भेदों मे बतलाया है।

मार्गणाओं में अल्पबहुत्व

यहाँ चौदह मार्गणाओं मे किया गया अल्पबहुत्व का विचार प्रज्ञापना के अल्पबहुत्व नामक तीसरे पद से उद्धृत है। उक्त पद में मार्गणाओं के अतिरिक्त और भी तेरह द्वारों में अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अनुयोगद्वार व पंचसग्रह में भी गति विषयक अल्प-बहुत्व का कुछ वर्णन मिलता है।

गतिमार्गणा का अल्पबहुत्व

नरनिरयदेवतिरिया थोवा[1] दु असंखऽणंत गुणा ॥३७॥

शब्दार्थ—**नर**—मनुष्यगति, **निरय**—नरकगति, **देव**—देवगति, **तिरिया**—तिर्यचगति, **थोवा**—थोडा (अल्प) **दु**—दोनो, **असंख**—असख्यात गुणा, **अणंत गुणा**—अनंत गुणा।

गाथार्थ—मनुष्य थोड़े है, नारकी और देव दोनों असख्यात गुणे है और तिर्यच अनन्तगुणे है।

विशेषार्थ—गाथा के उत्तर चरण मे गतिमार्गणा के भेदो का मनुष्य, नारक, देव और तिर्यच गति के क्रम से अल्पबहुत्व बतलाया है कि नारक, देव और तिर्यचों की अपेक्षा मनुष्य अल्प है। मनुष्यो की अपेक्षा नारक असंख्यातगुणे है और देव नारकों की अपेक्षा असंख्यातगुणे है तथा देवों की अपेक्षा तिर्यच अनतगुणे है। यानी

---

१ गाथा मे 'थोवा' शब्द गर्भज मनुष्यो की सख्या को लेकर दिया गया है कि वे संख्यात है। लेकिन संमूर्च्छिम मनुष्य असख्यात हैं।

मनुष्यों की संख्या अल्प है और तिर्यचों की संख्या सबसे अधिक तथा नारक व देव परस्पर एक-दूसरे से अल्पाधिक है।

मनुष्य, नारक, देव और तिर्यचो का परस्पर अल्पबहुत्व ऊपर संक्षेप मे कहा गया है। उसे ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य आदि की संख्या शास्त्रोक्त रीति के अनुसार यहाँ स्पष्ट की जाती है।

मनुष्यों की संख्या

मनुष्यों के दो भेद है—(१) संमूर्च्छिम, (२) गर्भज। संमूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्य के मल, मूत्र, शोणित, मांस, पीप और शरीर आदि अपवित्र चौदह स्थानो मे उत्पन्न होते है और अन्तर्मुहूर्त आयु वाले होते है तथा आँखों से दिखलाई नही देते है। उनका जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से चौवीस मुहूर्त प्रमाण जन्म-मरण का विरह काल पड जाता है।[1] इसलिए सम्मूर्च्छिम मनुष्य किसी समय होते हैं और किसी समय नही भी होते है। लेकिन गर्भज मनुष्य तो सदैव रहते ही है। वे सख्यात होते है, असख्यात नही और वह सख्या २९ अक प्रमाण है। इसलिए मनुष्यों की कम से कम (जघन्य) यह संख्या हुई और उत्कृष्ट असख्यात होते है। २९ अकों को जानने की विधि नीचे स्पष्ट करते है।

ये २९ अक पाँचवे वर्ग[2] के साथ छठे वर्ग को गुणने से प्राप्त होते है।[3] एक का तो वर्ग होता ही नही।[4] वर्ग का प्रारम्भ दो से होता है। इसलिए २ को २ के साथ गुणने पर ४ होते है, यह पहला वर्ग, ४ के

---

१ वारस मुहुत्त गब्भे उक्कोम समुच्छिमेसु चउवीस।
उक्कोस विरहकालो दोसु वि य जहन्नओ समओ॥ —वृहत्संग्रहणी

२ समान दो सख्याओ के गुणनफल को उस सख्या का वर्ग कहते है। जैसे ५ का वर्ग २५।

३ छट्ठो वग्गो पचमवग्ग पडुवन्नो। —प्रज्ञापना सूत्र

४ एकेन गुणित तदेव।

साथ ४ को गुणने से १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६ को १६ से गुणने पर २५६ होते है, यह तीसरा वर्ग। २५६ को २५६ से गुणने पर ६५५३६ होते है, यह चौथा वर्ग। ६५५३६ को ६५५३६ से गुणने पर ४२९४९६७२९६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवे वर्ग की संख्या को उसी सख्या के साथ गुणने से १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ होते है, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्ग की सख्या को उपर्युक्त पाँचवे वर्ग की सख्या से गुणने पर ७९,२२,८१,६२,५१,४२,६४,३३,७५,९३,५४,३९,५०,३३६ होते है, ये उनतीस अक हुए।[1] अथवा १ को ९६ बार रखकर दुगना करते जाये तो यह उनतीस अंक प्रमाण संख्या होगी। जैसे कि १ का

---

१ (क) छग तिन्नि तिन्नि सुन्न पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि।
पचेव तिन्नि नव पच सत्त तिन्नेव तिन्नेव॥
चउ छ द्वो चउ इक्को पण दो छक्किक्कगो य अट्ठेव।
दो दो नव सत्तेव य अकट्ठाणा पराहुत्ता॥

—अनुयोगद्वार चूर्णि

(ख) इन उनतीस अंको को गर्भज मनुष्यो की सख्या के लिए अक्षरो के सकेत द्वारा गो० जीवकाड गाथा १५८ मे बताया है—

तललीनमधुगविमलधूमसिलागाविचोरभयमेरू।
तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्त सखका॥

—तकार से लेकर सकार पर्यन्त क्रमश बताये गये अक्षरो के अक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यो की सख्या है।

किस अक्षर से किस अक को ग्रहण करना चाहिये, इसके लिए उपयोगी गाथा है—

कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपचाष्टकल्पितैः क्रमश.।
स्वरञनशून्य सख्यामात्रोपरिमाक्षर त्याज्यम्॥

—अर्थात् क से लेकर आगे झ तक के नौ अक्षरो से क्रमश· एक, दो आदि नौ अंक समझना चाहिये। इसी प्रकार ट से लेकर नौ अक, प से लेकर पाँच अक तथा य से लेकर आठ अक्षरो से आठ अक एव सोलह स्वर ञ, न से शून्य समझना चाहिए।

दूना २, २ का दूना ४, ४ का दूना ८ इस तरह पूर्व-पूर्व सख्या को उत्तरोत्तर ९६ वार दूना करना चाहिए।

उक्त २९ अकों को बोलने की प्राचीन रीति इस प्रकार है—

सात कोडाकोडी-कोड़ाकोड़ी, वानवै लाख कोड़ाकोड़ी कोडी, अट्ठाईस हजार कोडाकोडी कोडी, एकसौ कोडाकोडी कोड़ी, बासठ कोडाकोडी कोडी, इक्यावन लाख कोडाकोडी. वयालीस हजार कोड़ा-कोडी, छहसौ कोडाकोडी, तेतालीस कोडाकोडी, सैंतीस लाख कोडी, उनसठ हजार कोड़ी, तीन सौ कोडी, चउवन कोडी, उनतालीस लाख, पचास हजार, तीन सौ छत्तीस।

मनुष्यो की जघन्य संख्या बतलाकर अब उत्कृष्ट सख्या बतलाते है। यह उत्कृष्ट संख्या असख्यात है।

मनुष्यों की उत्कृष्ट सख्या सर्मूच्छिम मनुष्यों की संख्या की अपेक्षा पाई जाती है। जब संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते है तब वे एक साथ अधिक से अधिक असख्यात तक होते है। असख्यात सख्या के असंख्यात भेद है। इनमें से जो असख्यात संख्या मनुष्यों के लिए मानी जाती है, उसका परिचय शास्त्रों मे काल और क्षेत्र[1] दो प्रकार से दिया गया है। जिसको यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

काल से—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते है, मनुष्य अधिक से अधिक उतने पाये जा सकते है और क्षेत्र से—सात राजू प्रमाण घनीकृत लोक की अगुलमात्र सूचि-श्रेणि के

---

१ काल और क्षेत्र को लेकर मनुष्यो की उत्कृष्ट सख्या वताने का कारण यह है कि काल से क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है। अगुल प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेशो की सख्या असख्यात अवसर्पिणी के वरावर मानी है—

सुहमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्त।
अगुलसेढीमित्ते ओसप्पिणीउ असखिज्जा॥

—आवश्यक निर्युक्ति

प्रदेशों के तीसरे वर्गमूल को उन्हीं के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणने पर जो सख्या प्राप्त होती है, उसका संपूर्ण सूचि-श्रेणिगत प्रदेशों मे भाग देना और भाग देने पर जो सख्या प्राप्त होती है, एक कम वही सख्या मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या है।[1]

यह संख्या अगुल-मात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशों की संख्या, उनके तीसरे वर्गमूल और प्रथम वर्गमूल की संख्या तथा सपूर्ण सूचि-श्रेणी के प्रदेशों की सख्या असंख्यात ही है। इसका स्पष्टीकरण कल्पना द्वारा करते है।

मान लो कि संपूर्ण सूचि-श्रेणी के प्रदेश ३२०००००० है और अंगुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेश २५६। इन २५६ का प्रथम वर्गमूल[2] १६ और तीसरा वर्गमूल २ होता है। तीसरे वर्गमूल के साथ प्रथम वर्गमूल को गुणने से ३२ होते हैं और ३२ का ३२०००००० में भाग देने पर लब्ध १००००० होते है। इनमें से १ कम कर देने पर शेप ९९९९९ रहे। यह कल्पना है लेकिन कल्पनानुसार यह संख्या वस्तुतः असंख्यात रूप है और उसे मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या समझना चाहिए।

नारक मनुष्यों की अपेक्षा असंख्यात गुणे अधिक होते है। यानी मनुष्य असख्यात है और मनुष्यों की इस असंख्यात सख्या से नारक

---

१ (क) उक्कोसपए असखिज्जा असखिज्जाहिं उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूल तइय-वग्गमूलपडुप्पन्न। —अनुयोगद्वार सूत्र

(ख) मनुष्यो की यह सख्या इसी रीति से गो० जीवकाड गा० १५७ मे दी है—

सेढीसूईअगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा।

२ जिस सख्या का वर्ग किया जाये वह सख्या उस वर्ग का वर्गमूल है।

असंख्यात गुणा अधिक है। नारकों की संख्या को शास्त्र में काल और क्षेत्र से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

काल से नारक असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समयों के तुल्य है और क्षेत्र से सात रज्जु प्रामण घनीकृत लोक के अगुल मात्र प्रस्तर-क्षेत्र मे जितनी सूचि-श्रेणियाँ होती है, उनके द्वितीय वर्गमूल को उन्ही के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणा करने पर जो गुणन-फल हो उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशो की संख्या और नारकों की संख्या बराबर होती है।[1]

कल्पना से मान लो कि अंगुलमात्र प्रतर-क्षेत्र में २५६ सूचि-श्रेणियाँ है। उनका प्रथम वर्गमूल १६ हुआ और दूसरा ४। इस १६ को ४ से गुणा करने पर ६४ होते है। ये ६४ सूचि-श्रेणियाँ हुई। प्रत्येक सूचि-श्रेणि के ३२०००० प्रदेशों के हिसाव से ६४ सूचि-श्रेणियों के २०४८०००० प्रदेश हुए, जो नारकों की संख्या हुई।

नारको की अपेक्षा देव असख्यातगुणे है। देवों के चार निकाय

---

१ (क) नारकाणा वद्धानि वैक्रियशरीराण्यसख्येयानि, प्रतिनारमेककैकवैक्रिय-सद्‌भावाद् नारकाणा चासख्येयत्वात्, तानि च कालतोऽसख्येयोत्सर्पिण्य-वर्सापिणीसमयराशितुल्यानि। क्षेत्रतस्तु प्रतरासख्येयभागवर्त्यसख्येय-श्रेणीना ये प्रदेशास्तत्सख्यानि भवन्ति······इदमत्र तात्पर्यम्—सप्त-रज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य-श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिगतद्वितीयवर्गमूलघनप्रदेशराशिप्रमाणा-स्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा नारका., अतस्ते नरेभ्योऽ-सख्यातगुणा एव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७१

(ख) अनुयोगद्वार सूत्र।

(ग) गो० जीवकाड गा० १५३ मे जो नारको की सख्या दी गई है वह इससे नही मिलती है। वहाँ घनागुल के दूसरे वर्गमूल से गुणित जगत्श्रेणी प्रमाण सपूर्ण नारको की सख्या वताई है।

हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक। उनमें भवनपति देव असंख्यात हैं। ये भवनपति भी असुरकुमार आदि के भेद से दस प्रकार के है। इनमें असुरकुमार की संख्या इस प्रकार बताई है कि अंगुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश है, उनके प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितना आकाश आ सकता है, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेश के बराबर असुरकुमारों की संख्या है। इसी प्रकार नागकुमार आदि अन्य सब भवनपति देवों की संख्या समझना चाहिये।[1]

इस सख्या को समझने के लिए कल्पना करते है कि अंगुलमात्र आकाश-क्षेत्र के २५६ प्रदेश है। उनका प्रथम वर्गमूल १६ होगा और १६ का असख्यातवां भाग कल्पना से दो मान लिया जाये तो २ सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर असुरकुमार है। प्रत्येक सूचि-श्रेणि के ३२०००००० प्रदेश कल्पना से मानें तो २ सूचि-श्रेणियों के प्रदेश ६४०००००० हुए। यही संख्या असुरकुमार आदि प्रत्येक प्रकार के भवनपति देवों की समझना चाहिये। यह कल्पना है लेकिन यह सख्या असंख्यात होगी।

व्यंतर निकाय के देव भी असंख्यात हैं। इनमें से किसी एक प्रकार के व्यंतर देवों की संख्या का मान इस प्रकार बताया है कि संख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं, उनसे घनीकृत लोक के मण्डकाकार समग्र प्रतर के प्रदेशों को भाग दिया जाये और भाग

---

१ तत्राऽसुरकुमारा अपि तावद् घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एक-प्रादेशिक्य· श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशिसवधिप्रथमवर्गमूलासख्येय-भागगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासा सवधी यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सख्याका, एव नागकुमारादयोऽपि द्रष्टव्यः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७१

देने पर जितने प्रदेश लब्ध होते है, प्रत्येक प्रकार के व्यन्तर देव उतने होते है।[1]

इसको समझने के लिये भी कल्पना करनी होगी कि संख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेश १०००००० हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणि के ३२०००००० प्रदेशों की कल्पित संख्या के अनुसार समग्र प्रतर के १०२४०००००००००० प्रदेश हुए। इस संख्या को १०००००० का भाग देने पर १०२४०००० लब्ध हुए। यह एक व्यतर-निकाय की सख्या हुई। यह संख्या वस्तुत: असंख्यात है।

ज्योतिपी देवों की असख्यात संख्या के लिये कहा है कि २५६ अंगुल प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतर के प्रदेशो को भाग देना और भाग देने से जो लब्ध हो, उतने ज्योतिषी देव है।[2]

इसको भी कल्पना से समझाते है कि २५६ अंगुल प्रमाण सूचि-श्रेणि मे ६५५३६ प्रदेश होते है। उनसे समग्र प्रतर के कल्पित—१०२४०००००००००० को भाग देना। भाग देने से लब्ध १५६२५००००

---

१ (क) सखेज्जजोयणाण सूइपएसेहि भाइओ पयरो।
वतरसुरहिं हीरइ एव एक्केक्कभेएणं॥ —पंचसंग्रह, २।१४

(ख) सख्येययोजनप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्यावद्भिर्घनीकृतस्य लोकस्य मण्डकाकारः प्रतरोऽपह्रियते तावत्प्रमाणा व्यंतराः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७१

२ (क) छप्पनदोसयंगुल सूइपएसेहिं भाइओ पयरो।
जोइसिएहिं हीरइ····· ·············॥ —पंचसंग्रह २।१५

(ख) गो० जीवकाड गा० १६० मे व्यतर और ज्योतिपी देवों की जो संख्या वतलाई है, उसमे व्यतर देवो का प्रमाण तो कार्मग्रन्थिक मत जैसा जान पडता है। लेकिन ज्योतिपी देवो का प्रमाण भिन्न है—

तिण्णिसयजोयणाणं वेसदछप्पण्ण अगुलाणं च।
कदिहदपदर वेंतर जोइसियाण च परिमाणं॥

हुआ, जो ज्योतिषी देवों का प्रमाण समझना चाहिये। यह सख्या भी असंख्यात है।

वैमानिक देवों की सख्या असंख्यात है। यह असंख्यात संख्या इस प्रकार समझनी चाहिये कि अंगुल-मात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश है, उनके तीसरे वर्गमूल का घन[1] करने से जितने आकाश-प्रदेश हों, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर वैमानिक है।

इसके लिये कल्पना कर लो कि अंगुल मात्र आकाश के २५६ प्रदेश हैं। इन २५६ का तीसरा वर्गमूल २ हुआ और २ का घन ८ है। ८ सूचि-श्रेणियो के प्रदेश २५६००००० होते हैं। क्योंकि प्रत्येक सूचि-श्रेणि के प्रदेश कल्पना से ३२००००० माने हैं। यही सख्या वैमानिक देवों की समझनी चाहिये।

इस प्रकार से भवनपति, व्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक सव देवों की संख्या नारकों से असंख्यात गुणी है।

देवों से तिर्यचों के अनन्तगुणे होने का कारण यह है कि अनन्त-कायिक वनस्पति जीव सख्या में अनन्त है और वे सभी तिर्यच है। इनको तिर्यचगति नामकर्म का उदय होने से तिर्यच कहते है।

इस प्रकार से गतिमार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाने के वाद आगे की गाथा मे इन्द्रिय और काय मार्गणा का अल्पवहुत्व कहते है।

इन्द्रिय और कायमार्गणा का अल्पबहुत्व

पण चउ ति दु एगिंदी थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा।
तस थोव असंखऽग्गी भूजलनिल अहिय वणऽणंता ॥३८॥

शब्दार्थ—पण—पचेन्द्रिय, चउ—चतुरिन्द्रिय, ति—त्रीन्द्रिय, दु—द्वीन्द्रिय, एगिंदी—एकेन्द्रिय, थोवा—अल्प, तिन्नि—तीनों,

---

१ किसी संख्या के वर्ग के साथ उस सख्या को गुणा करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, वह उस संख्या का 'घन' है। जैसे ४ का वर्ग १६, उसके (१६ के) साथ चार का गुणा करने से ६४ होता है। यही चार का घन है।

अहिया—अधिक, **अणंतगुणा**—अनन्तगुणे, **तस**—त्रसकाय, **थोव**—थोड़े, **असंखऽग्गी**—असंख्यातगुणा अग्निकाय, **भू**—पृथ्वीकाय, **जल**—जलकाय, **अनिल**—वायुकाय, **अहिय**—अधिक, **वण**—वनस्पतिकाय, **अणंता**—अनन्त ।

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय थोड़े है, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय ये तीनों अनुक्रम से एक-एक से अधिक होते हैं, एकेन्द्रिय उनसे अनन्तगुणे है। त्रसकाय के जीव अन्य सब कायों के जीवों से थोड़े है, इनसे अग्निकाय के जीव असख्यातगुणे है, पृथ्वीकाय, जलकाय और वायुकाय के जीव एक-एक से अधिक और उनसे वनस्पतिकाय के जीव अनन्त है।

विशेषार्थ—गाथा मे अनुक्रम से इन्द्रिय और काय मार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाया है। पहले इन्द्रियमार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाते हुए कहा है कि पचेन्द्रिय सबसे थोड़े हैं यानी चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा थोड़े (अल्प) हैं। उसके वाद चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय से विशेषाधिक है।[1] चतुरिन्द्रिय से त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं और त्रीन्द्रिय से द्वीन्द्रिय विशेपाधिक है[2] और द्वीन्द्रिय से एकेन्द्रिय तो अनन्तगुणे है। इसका कारण यह है कि प्रतर की असख्यात कोटाकोटि योजन-प्रमाण एक प्रादेशिकी सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं, घनीकृत लोक की उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशो के वरावर वे जीव है और एक-दूसरे से विशेपाधिक है।

---

१ गो० जीवकाड गाथा १७८, १७९ मे इन्द्रियमार्गणा के द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के अल्पाधिक्य को यहां के समान ही वताया गया है।

२ एक सख्या अन्य सख्या से वड़ी होकर भी जव तक दूनी न हो तव तक वह उससे विशेपाधिक कही जाती है। जैसे कि ४ या ५ की संख्या ३ से विशेपाधिक है पर ६ की सख्या इससे दूनी है, विशेपाधिक नही।

उक्त कथन से जिज्ञासा होती है कि आगम में असंख्यात कोटाकोटि योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश है, घनीकृत लोक की उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर द्वीन्द्रिय जीव कहे गये है और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय तिर्यंच द्वीन्द्रिय के बराबर। तब पंचेन्द्रिय आदि जीवो का उक्त अल्पबहुत्व कैसे घट सकता है ? इसका समाधान यह है कि असख्यात सख्या के असख्यात प्रकार है। अतएव असंख्यात कोटाकोटि योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि शब्द से सब जगह एक ही असंख्यात सख्या न लेकर भिन्न-भिन्न लेना चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यंचो के प्रमाण की जो असख्यात संख्या ली जाती है, वह इतनी छोटी है कि जिससे अन्य सब देव, नारक आदि पचेन्द्रियों को मिलाने पर भी पंचेन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा कम ही होते है।

द्वीन्द्रिय से एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुणे इसलिये कहे गये है कि साधारण वनस्पतिकाय के जीव अनन्तानन्त है और वे सभी एकेन्द्रिय ही होते है।[1]

इन्द्रियमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के पश्चात् कायमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाते है कि सबसे थोड़े त्रसकाय के जीव है। इसका कारण यह है कि सब प्रकार के त्रस घनीकृत लोक के एक-एक प्रतर के प्रदेशों के बराबर भी नही होते है और सिर्फ तेजस्काय के जीव असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर होते है। इसी कारण त्रस सबसे थोड़े माने है।

तेजस्काय के जीव असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर होने से त्रसकाय की अपेक्षा असख्यातगुणे माने जाते है।

---

१ द्वीन्द्रियेभ्योऽपि चैकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायजीवराशेरनन्तानन्तत्वात्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७३

उनकी अपेक्षा पृथ्वीकाय, पृथ्वीकाय से जलकाय, जलकाय से वायुकाय के जीव विशेषाधिक है। वायुकाय के जीवों से वनस्पतिकायिक अनन्त गुणे हैं[1] क्योंकि निगोद के जीव अनन्त लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है।

यद्यपि आगम में तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक ये सभी सामान्य रूप से असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण माने है, तथापि उनके परिमाण संबंधी असंख्यात संख्या भिन्न-भिन्न समझना चाहिये और इसी भिन्नता से उनका अल्पबहुत्व कहा गया है।

अब आगे की गाथा मे योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व कहते है।

योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व

मणवयणकायजोगी थोवा अस्संखगुण अणंतगुणा।
पुरिसा थोवा इत्थी संखगुणाऽणंतगुण कीवा ॥३९॥

शब्दार्थ—मण—मनोयोगी, वयण—वचनयोगी, कायजोगी—काययोगी, थोवा—स्तोक, अल्प (थोड़े), अस्संखगुण—असख्यातगुणे, अणंतगुणा—अनन्तगुणे, पुरिसा—पुरुषवेदी, थोवा—थोड़े, इत्थी—स्त्रीवेदी, संखगुणा—सख्यातगुणे, अणंतगुण—अनन्तगुणे, कीवा—नपुसकवेदी।

गाथार्थ—मनोयोगी थोड़े होते है। वचनयोग वाले उससे असंख्यातगुणे और काययोग वाले अनन्तगुणे है। पुरुषवेद वाले सबसे थोड़े है। स्त्रीवेदी पुरुषों से संख्यातगुणे और नपुंसक स्त्रियो से अनन्तगुणे हैं।

---

1 थोवा य तमा तत्तो तेउ असखा तओ विसेसहिया।
कमसो भूदगवाऊ अकायहरिया अणतगुणा॥ —जीवसमास २७६
गो० जीवकाड मे भी कायमार्गणा मे तेजस्कायिक आदि जीवो का विशेषाधिकत्व यहाँ के समान ही है। देखें गाथा २०४-२१५ तक।

विशेषार्थ—गाथा मे योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाया है। योग के सामान्य से मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों भेदों में अल्पबहुत्व को बतलाते हुए कहा है कि 'मणवयण-कायजोगी'—मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी क्रमश: 'थोवा अस्सखगुण अणंतगुणा'—अल्प, असंख्यातगुणे और अनन्तगुणे है। अर्थात् मनोयोगी अन्य योग वालों से थोड़े है, वचनयोगी मनोयोग वालों से असख्यातगुणे है और काययोग वाले वचनयोग वालों से अनंतगुणे है।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग वालों को क्रमश: अल्प, असख्यातगुणा, अनन्तगुणा मानने का कारण यह है कि मनोयोग वाले अन्य योग वालो से इसलिये कम माने जाते है कि मनोयोग सिर्फ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों में पाया जाता है।[1] वचनयोग वाले मनोयोगियो से असंख्यातगुणे इसलिये माने हैं कि द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीव वचनयोग वाले है और वचनयोगियों से भी काय-योग वाले अनन्तगुणे इसलिये माने जाते है कि वनस्पतिकायिक जीव अनन्त है तथा एकेन्द्रिय लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी जीव काययोग वाले है।

वेदमार्गणा संबधी अल्पबहुत्व इस प्रकार है कि 'पुरिसा थोवा' पुरुषवेद वाले सबसे थोड़े है, यानी स्त्रीवेद और नपुसकवेद वालो से पुरुषवेदी अल्प है और 'इत्थी संखगुणा' स्त्रीवेदी जीव पुरुपवेदी जीवों से सख्यातगुणे है और नपुसकवेदी स्त्रीवेद वालो से भी अनन्त-गुणे है—अणंतगुण कीवा।

पुरुषवेद आदि उक्त तीनो वेद वालों को क्रमश: अल्प, सख्यात-

---

१ मनयोगिन: स्तोका', सज्ञिपचेन्द्रियाणामेव मनोयोगित्वात्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७४

गुना और अनन्तगुणा मानने का कारण यह है कि तिर्यंच स्त्रियाँ तिर्यंच पुरुषों से तीन गुनी और तीन अधिक, मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्य-जाति के पुरुषों से सत्ताईस गुनी और सत्ताईस अधिक और देवियाँ देवों की अपेक्षा बत्तीस गुनी और बत्तीस अधिक होती है। इसीलिये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ संख्यातगुणी मानी जाती है[1] और पुरुष अल्प। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और नारक नपुंसक ही होते हैं, इसीलिये स्त्रियों की अपेक्षा नपुंसक अनन्त-गुणे माने जाते है। यदि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को छोडकर सिर्फ एकेन्द्रिय जीवों के द्वारा नपुसकवेद वालों की अनन्तगुणता पर विचार करे तो एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त स्थावर जीव नपुसक ही होते है और उनकी संख्या अनन्त है।

योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के बाद आगे की तीन गाथाओ मे कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शन मार्गणाओं का अल्प-बहुत्व बतलाते है।

कषाय से लेकर दर्शन मार्गणा पर्यन्त का अल्पबहुत्व

माणी कोही माई लोही अहिय मणनाणिणो थोवा।
ओहि असंखा मइसुय अहिय सम असंख विब्भंगा ॥४०॥
केवलिणो णंतगुणा मइसुयअन्नाणि णंतगुण तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहार संख अहखाय संखगुणा ॥४१॥

---

१ तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाण तदहिया चेव ॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ तह य देवाण।
देवीओ पन्नत्ता जिर्णोहि जियरागदोसेहि ॥
—प्रवचनसारोद्धार ८८२

छेय समईय संखा देस असंखगुण णंतगुण अजया ।
थोव असंख दु णंता ओहि नयण केवल अचक्खू ॥४२॥

शब्दार्थ—**माणी**—मानी, **कोही**—क्रोधी, **माई**—मायावी (कपटी), **लोही**—लोभी, **अहिय**—अधिक, **मणनाणिणो**—मनपर्याय ज्ञानी, **थोवा**—थोड़े (अल्प), **ओहि**—अवधिज्ञानी, **असंखा**—असख्यातगुणे, **मइसुय**—मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, **अहिय**—अधिक, **सम**—समान, **असंख**—असख्यातगुणे, **विब्भंग**—विभगज्ञानी ।

केवलिणो—केवलज्ञानी, **णंतगुणा**—अनतगुणे, **मइसुय-अन्नाणि**—मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी, **णंतगुणतुल्ला**—अनन्तगुणे और परस्पर मे समान, **सुहुमा**—सूक्ष्मसंपराय वाले, **थोवा**—अल्प, **परिहार**—परिहारविशुद्धि वाले, **संख**—संख्यातगुणे, **अहखाय**—यथाख्यात सयम वाले, **संखगुणा**—सख्यातगुणे ।

छेय—छेदोपस्थापनीय सयमी, **समईय**—सामायिक सयमी, **संखा**—संख्यातगुणे, **देस**—देशविरति, **असंखगुण**—असख्यातगुणे, **णंतगुण**—अनन्तगुणे, **अजया**—अविरति, **थोव**—थोड़े, **असंख**—असख्यातगुणे, **दु**—दोनो, **णंता**—अनतगुणे, **ओहि**—अवधिदर्शनी, **नयण**—चक्षुदर्शनी, **केवल**—केवलदर्शनी, **अचक्खू**—अचक्षुदर्शनी ।

गाथार्थ—अन्य कषाय वालों से मान कषाय वाले थोड़े है और मान कषाय वालों की अपेक्षा क्रोधी, मायावी और लोभी क्रमशः एक-एक से अधिक होते है । मनपर्यायज्ञानी थोड़े है, अवधिज्ञानी उनसे असंख्यातगुणे, मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी उनसे अधिक है और आपस मे समान है, विभग-ज्ञानी उनसे असख्यातगुणे है ।

केवलज्ञानी अनन्तगुणे होते है, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी उनसे अनन्तगुणे है और आपस में दोनो समान है । सूक्ष्मसंपराय चारित्र वाले थोड़े है, परिहारविशुद्धि चारित्र वाले उनसे संख्यातगुणे और यथाख्यात चारित्र वाले उनसे संख्यातगुणे हैं ।

छेदोपस्थापनीय संयम वाले सख्यातगुणे और सामायिक संयम वाले उनसे संख्यातगुणे है। देशविरति असंख्यातगुणे और अविरति अनन्तगुणे है। अवधिदर्शन वाले थोड़े, चक्षुदर्शन वाले असंख्यातगुणे और केवलदर्शन तथा अचक्षुदर्शन वाले अनन्तगुणे है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं मे कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शन इन चार मार्गणाओ का अल्पवहुत्व वतलाया है। यह अल्पवहुत्व प्रत्येक मार्गणाओ के अवान्तर भेदों में परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से वतलाया है, न कि एक मार्गणा का दूसरी मार्गणा के वीच।

कपायमार्गणा के क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार भेद है। कपाय वाले जीवों मे मान कषाय वाले क्रोध आदि अन्य कपाय वालों से कम हैं। इसका कारण यह है कि मान कषाय की स्थिति अन्य क्रोध आदि कपायों के परिणामो की अपेक्षा अल्प है।[1] मान कपाय की अपेक्षा क्रोध परिणाम के अधिक देर ठहरने के कारण मान कपाय वालों से क्रोध वाले विशेपाधिक है। क्रोध की अपेक्षा माया कपाय वाले अधिक है। क्योंकि माया कपाय की स्थिति क्रोध की स्थिति की अपेक्षा अधिक है और माया अधिक जीवो में पाई जाती है।[2] माया कपाय वालों की अपेक्षा लोभियो की संख्या अधिक है। क्योंकि प्राय: सभी संसारी जीवो मे परिग्रह आदि की आकांक्षा देखने मे आती है[3] और क्रोध, मान, माया इन तीन कपायों का उदय तो

---

१ सर्वस्तोका मानिन:, मानपरिणामकालस्य क्रोधादिपरिणामकालापेक्षया सर्वस्तोकत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७५

२ ......मायिनो विशेपाधिका, यद् भूयस्त्वेन जन्तूना प्रभूतकाल च मायावहुलत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७५

३ लोभिनो विशेपाधिका:, सर्वेपामपि प्राय. संसारिजीवाना सदा परिग्रहाद्याकाक्षासद्भावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७५

नौवें गुणस्थान तक ही रहता है, लेकिन लोभ का उदय दसवे सूक्ष्म-सपराय गुणस्थान तक। अतएव उक्त कारणों से लोभ कषाय वालों को मायावियों से अधिक कहा है।

ज्ञानमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के लिये कहा है कि 'मण-नाणिणो थोवा' मनपर्यायज्ञानी थोड़े हैं। क्योंकि यह ज्ञान गर्भज मनुष्यों को होता है और उनमें भी अप्रमत्त संयम वाले और अनेक लब्धिसपन्न हों, उनके ही मनपर्याय ज्ञान पाया जाता है।[1] मनपर्याय-ज्ञानियों की अपेक्षा अवधिज्ञानी असख्यातगुणे है। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि कुछ मनुष्य, तिर्यचों में तथा सम्यक्त्वी सभी देव, नारकों में पाया जाता है। अवधिज्ञानियों से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी विशेषाधिक है, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यच मति-श्रुतज्ञान वाले हैं। लेकिन मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहचारी होने से यानी जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान भी है, अतएव मति-श्रुतज्ञान वाले आपस मे तुल्य है।[2] मतिश्रुतज्ञानियो से 'असख विब्भगा' विभंगज्ञानियों की संख्या असंख्यातगुणी है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि वाले देव, नारक विभगज्ञानी ही होते है और वे सम्यग्दृष्टि जीवो से असंख्यातगुणे है।

ऊपर में क्षायोपशमिक ज्ञानों का अल्पबहुत्व बतलाया है कि मनपर्यायज्ञान वाले अल्प है और उनकी अपेक्षा मतिज्ञान आदि विभगज्ञान पर्यन्त वाले असख्यातगुणे है। लेकिन क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान—होने पर सभी क्षायोपशमिकज्ञान केवलज्ञान मे गर्भित हो जाते है और केवलज्ञान हो जाने पर सयोगिकेवली भगवान से

---

१ तं सजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमओ।

—विशेषावश्यक गा० ८१२

२ जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाण, दो वि एयाइ अन्नुन्नमणुगयाइं।

—नंदीसूत्र

लेकर अनंत सिद्धो में सदा काल बना रहता है। इसलिये विभंग-ज्ञानियों से केवलज्ञानी अनन्तगुणे है।[1]

केवलज्ञानियों से भी 'मइसुयअन्नाणि णंतगुणा' मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी अनन्तगुणे है। इसका कारण यह है कि वनस्पति-कायिक जीव सिद्धों से भी अनन्त है और वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी होते है। इसलिये मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी दोनों को केवल-ज्ञानियों से अनतगुणा माना जाता है। लेकिन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की तरह मति और श्रुत-अज्ञान नियम से सहचारी है इसी से आपस मे 'तुल्ला' तुल्य है यानी मति-श्रुत अज्ञान मे विशेपाधिकता नही है किन्तु दोनो समान रूप से अनंतगुणे है।

ज्ञानमार्गणा के अल्पवहुत्व का कथन करने के वाद संयम मार्गणा का अल्पबहुत्व वतलाते है। सयम मार्गणा के अल्पवहुत्व के कथन का क्रम सूक्ष्मसंपराय संयम से प्रारम्भ किया गया है कि 'सुहुमा थोवा' सूक्ष्मसपराय सयम वाले अन्य संयम वालों से अल्प है और परिहारविशुद्धि संयम वाले सूक्ष्मसपराय सयम वालों की अपेक्षा संख्यातगुणे है। यथाख्यात सयम वाले परिहारविशुद्धि सयम वालो से भी सख्यातगुणे है यानी सूक्ष्मसपराय संयम वाले अल्प है। उनकी अपेक्षा परिहारविशुद्धि वाले और परिहारविशुद्धि संयम वालों की अपेक्षा यथाख्यात संयम वाले क्रमशः संख्यातगुणे है। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मसंपराय चारित्र वाले उत्कृष्ट दो सौ से नौ सौ तक, परिहारविशुद्धि संयम वाले उत्कृष्ट दो हजार से नौ हजार तक तथा यथाख्यात संयम वाले उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ

---

१ विभगज्ञानिभ्य. केवलिनोऽनन्तगुणा, सिद्धाना तेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेपा च केवलज्ञानयुक्तत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

करोड तक हैं।[१] इसलिये इन तीन प्रकार के संयम वालों मे उत्तरोत्तर सख्यातगुणा अल्पबहुत्व माना गया है।

संयममार्गणा के उक्त तीन भेदों के सिवाय शेष रहे चार भेदों—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, देशविरति और अविरति का अल्पबहुत्व क्रमशः इस प्रकार है कि 'छेय समईय संखा', 'देस असंखगुण' और 'णंतगुण अजया' यानी यथाख्यातसंयम वालों से छेदोपस्थापनीय संयम वाले संख्यातगुणे है और सामायिक संयम वाले तो छेदोपस्थापनीय संयम वालों से संख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि यथाख्यात संयम वालों की संख्या शास्त्रों में जो उत्कृष्ट दो करोड़ से नौ करोड़ तक बताई गई है, उससे भी छेदोपस्थापनीय संयम वाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़ से नौ सौ करोड़ तक तथा सामायिक सयम वाले छेदोपस्थापनीय संयमियों की उत्कृष्ट संख्या से अधिक दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते है। इसी कारण से ये दोनों उक्त रीति से सख्यातगुणे माने गये है।[२] देशविरति संयम वाले सामायिक संयम वालो से भी असख्यात गुणे है, क्योंकि तिर्यंच भी देशविरति होते है और उनकी संख्या असंख्यात है। इसी से सामायिक सयम वालों से देशविरति सयम वाले असंख्यातगुणे माने जाते है।

---

१ सर्वस्तोका: सूक्ष्मसपरायसयमिनः, शतपृथक्त्वमात्रसभवात्। तेभ्यः परिहारविशुद्धिकाः संख्यातगुणाः, सहस्रपृथक्त्वसम्भवात्। तेभ्योऽपि यथाख्यातचारित्रिणः सख्यातगुणाः कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

२ यथाख्यातचारित्रिभ्यश्छेदोपस्थापनचारित्रिणः सख्येयगुणाः, कोटिशतपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽपि सामायिकसयमिन. सख्येयगुणाः, कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

इस प्रकार से गति से लेकर दर्शन मार्गणा पर्यन्त नौ मार्गणाओं के अल्पबहुत्व का कथन किया जा चुका है। अब शेष रहीं लेश्या से आहारक मार्गणा पर्यन्त पाँच मार्गणाओं का अल्पबहुत्व आगे की गाथा में कहते हैं।

लेश्या आदि पांच मार्गणाओं का अल्पबहुत्व

पच्छाणुपुव्वि लेसा थोवा दो संख णंत दो अहिया।
अभवियर थोव णंता सासण थोवोवसम संखा ॥४३॥
मीसा संखा वेयग असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता।
सन्नियर थोव णंताऽणहार थोवेयर असंखा ॥४४॥

शब्दार्थ—**पच्छाणुपुव्वि**—पश्चादनुपूर्वी—अन्तिम से आदि की ओर आना, **लेसा**—लेश्या, **थोवा**—थोड़े (अल्प), **दो**—दो लेश्या वाले, **संख**—सख्यात, **णंत**—अनंत, **दो**—दो लेश्या वाले, **अहिया**—अधिक, **अभवियर**—अभव्य और इतर भव्य, **थोवा**—थोड़े, **णंत**—अनत, **सासण**—सासादन सम्यक्त्वी, **थोव**—अल्प, **उवसम**—औपशमिक सम्यग्दृष्टि, **संखा**—सख्यातगुणे।

मीसा—मिश्रदृष्टि, **संखा**—सख्यात, **वेयग**—वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्वी, **असंखगुण**—असंख्यातगुणे, **खइय**—क्षायिक सम्यक्त्वी, **मिच्छ**—मिथ्यात्वी, **दु**—दोनो, **अणंता**—अनन्तगुणे, **सन्नियर**—सज्ञी और इतर असंज्ञी, **थोव**—अल्प, **अणंता**—अनन्त, **अणहार**—अनाहारक, **थोव**—थोड़े, **इयर**—इतर आहारक, **असंखा**—असंख्यात।

गाथार्थ—लेश्याओं का अल्पबहुत्व पश्चादनुपूर्वी के क्रम से (अन्त से आदि की ओर) जानना चाहिए, जो कि अल्प, दो संख्यातगुणा एक अनन्तगुणा और दो विशेपाधिक है। अभव्य अल्प है और भव्य अनन्त, सासादन सम्यक्त्वी अल्प और औपशमिक सम्यग्दृष्टि सख्यातगुणे हैं।

मिश्रदृष्टि वाले सख्यातगुणे, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी असख्यात गुणे हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले और मिथ्यात्वी ये दोनों अनन्तगुणे होते है। संज्ञी अल्प और असंज्ञी अनन्त है। अनाहारक थोड़े और आहारी असख्यातगुणे है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक इन पॉच मार्गणाओ का अल्पबहुत्व बतलाया है।

लेश्यामार्गणा के अल्पवहुत्व के कथन का क्रम आदि से प्रारम्भ न कर अन्तिम भेद से प्रारम्भ किया है। अर्थात् शुक्ललेश्या से प्रारम्भ कर क्रमशः उसके वाद पद्म, तेज, कापोत, नील और कृष्ण लेश्याओ में अल्पबहुत्व वतलाया है। जैसे कि शुक्ललेश्या वाले अन्य सव लेश्या वालों से अल्प है, पद्मलेश्या वाले शुक्ललेश्या वालों से संख्यातगुणे है, तेजोलेश्या वाले पद्मलेश्या वालों से संख्यातगुणे है, तेजोलेश्या वालों से कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे है, कापोत-लेश्या वालों से नीललेश्या वाले विशेपाधिक है और कृष्णलेश्या वाले नीललेश्या वालों से विशेपाधिक है।

लेश्याओं मे उक्त प्रकार से अल्पवहुत्व होने का कारण क्रमशः इस प्रकार है कि शुक्ललेश्या वाले सवसे थोड़े इसलिए माने जाते हैं कि शुक्ललेश्या लान्तक देवलोक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवो मे तथा गर्भजन्य संख्यात वर्ष की आयु वाले कुछ मनुष्य, तिर्यचों मे पाई जाती है। पद्मलेश्या सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक देवो और गर्भज संख्यात वर्प की आयु वाले कुछ मनुष्य, तिर्यंचों मे होती है अतः शुक्ललेश्या वालो की अपेक्षा पद्मलेश्या वाले संख्यातगुणे है। पद्मलेश्या वालों से तेजोलेश्या वाले सख्यातगुणे इसलिये माने जाते है कि तेजोलेश्या वादर पृथ्वी, जल और वनस्पति-कायिक जीवों को, कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्यो को, भवनपति और व्यतर देवो को, ज्योतिष्कों तथा सौधर्म-ईशान कल्प के वैमानिक देवों

को होती है। ये सब पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा संख्यातगुणे ही है । इसी से इनका अल्पबहुत्व सख्यातगुणा माना है ।

तेजोलेश्या से कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे माने हैं। क्योंकि कापोतलेश्या अनन्त वनस्पतिकायिक जीवों को होती है। इसी से कापोतलेश्या वाले तेजोलेश्या वालों से अनन्तगुणे कहे है। कापोत-लेश्या से नीललेश्या अधिक जीवों में और नीललेश्या से कृष्ण-लेश्या अधिक जीवों में होती है। क्योंकि कापोतलेश्या की अपेक्षा नीललेश्या तीव्रतर संक्लिष्ट परिणाम रूप और कृष्णलेश्या नीललेश्या से संक्लिष्टतम अध्यवसाय रूप है और प्राय: क्लिष्ट, क्लिष्टतर, क्लिष्टतम परिणाम वाले जीवों की संख्या उत्तरोत्तर अधिक ही होती है। नारक जीवों मे कृष्ण-नील लेश्यायें प्राय: होती है। इसीलिये इन सब कारणों से नील व कृष्णलेश्या वाले कापोतलेश्या वालों से विशेषाधिक कहे जाते है ।

ऊपर जो शुक्ल, पद्म और तेजोलेश्या के अल्पबहुत्व को बतलाने के लिए कहा कि शुक्ललेश्या लान्तक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिकों में, पद्मलेश्या सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक देवो मे और तेजोलेश्या भवनपति आदि और सौधर्म-ईशानकल्प तक के वैमानिक देवों में पाई जाती है और इनका अल्पबहुत्व सख्यात-गुणा कहा है। लेकिन शास्त्रों में कहा है कि लान्तक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवो की अपेक्षा सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक असंख्यात गुणे हैं, इसी प्रकार सनत्कुमार आदि वैमानिक देवों की अपेक्षा सिर्फ ज्योतिषी देव असंख्यातगुणे है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि शुक्ललेश्या वालों से पद्मलेश्या वाले और पद्मलेश्या वालों से तेजोलेश्या वाले असंख्यातगुणे न मानकर संख्यातगुणे कैसे माने जा सकते है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यदि शुक्ल आदि तीन लेश्याओं

का अल्पवहुत्व सिर्फ देवों की अपेक्षा ही विचारा जाता तो अवश्य ही असंख्यातगुणा कहा जाता, लेकिन यहाँ सामान्य जीव-राशि की अपेक्षा लेकर अल्पवहुत्व वतलाया गया है। यह सही है कि पद्मलेश्या वाले शुक्ललेश्या वाले देवों से असख्यात गुणे है, किन्तु पद्मलेश्या वाले देवों की अपेक्षा शुक्ललेश्या वाले तिर्यच असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार पद्मलेश्या वाले देवो से तेजोलेश्या वाले देवों के असंख्यात गुणे होने पर भी तेजोलेश्या वाले देवो से पद्मलेश्या वाले तिर्यच असख्यात गुणे है। अतएव सब शुक्ललेश्या वालों से सब पद्मलेश्या वाले और सब पद्मलेश्या वालों से सब तेजोलेश्या वाले संख्यातगुणे ही हैं और पद्मलेश्या वाले देवों से शुक्ललेश्या वाले तिर्यचों की तथा तेजोलेश्या वाले देवो से पद्मलेश्या वाले तिर्यचों की सख्या इतनी वड़ी है कि उसमे संख्यातगुण अल्पवहुत्व ही घट सकता है।

भव्यमार्गणा के भेदों—भव्य और अभव्य जीवो में अल्पवहुत्व इस प्रकार समझना चाहिए कि अभव्य जीव अल्प हैं और भव्य अनन्त है। क्योंकि अभव्य जीव अनन्त के चौथे भेद जघन्ययुक्त नामक चौथे अनन्त सख्या प्रमाण है परन्तु भव्य जीव अनन्तानन्त है।

सम्यक्त्वमार्गणा के अल्पवहुत्व में सासादन सम्यक्त्व वाले अल्प है। क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व को त्यागकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होने वाले जीवो में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है, दूसरों में नही। यह नियम है कि औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले सभी जीव उस सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व की ओर अभिमुख नही होते किन्तु कुछ एक होते हैं और स्थिर रहने वाले अधिक हैं। इसीलिए अन्य दृष्टि वालो मे सासादन सम्यग्दृष्टि वाले कम ही होते है।

औपशमिक सम्यग्दृष्टि वाले सासादन सम्यक्त्वियों से संख्यातगुणे और मिश्रदृष्टि वाले औपशमिक सम्यक्त्व वालो से संख्यातगुणे हैं।

क्योंकि मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व दृष्टि) को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के है—एक वे जो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को छोडकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते है और दूसरे वे जो सम्यग्दृष्टि से पतित होकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते है। इन दोनों कारणों से मिश्रदृष्टि वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि वालों से संख्यातगुणे है।

मिश्रदृष्टि वालों से वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि वाले असंख्यात गुणे होते हैं। इसका कारण मिश्रदृष्टि और क्षायोपशमिक दृष्टि की समय-स्थिति है। मिश्रदृष्टि की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम छियासठ सागरोपम की है। अतएव इस समयस्थिति के कारण क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि वाले मिश्रदृष्टि वालो से असंख्यातगुणे माने जाते है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्वियों से अनन्त गुणे इसलिये माने जाते है कि सिद्ध जीव अनन्त हैं और उनमे क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।[1] क्षायिक सम्यक्त्वियों से भी मिथ्यादृष्टियो की सख्या अनन्तगुणी है। इसका कारण यह है कि अनन्त वनस्पति-कायिक जीव मिथ्यात्वी ही है और वे जीव सिद्धों से अनन्तगुणे है।

सज्ञीमार्गणा के अल्पबहुत्व के सन्दर्भ मे यह जानना चाहिए कि संज्ञी जीव अल्प है और असंज्ञी अनन्तगुणे—'सन्नियर थोवणंता'। क्योंकि सज्ञी जीव तो देव, नारक, समनस्क पंचेन्द्रिय मनुष्य, तिर्यंच ही हैं, जबकि शेष संसारी जीव अनन्त वनस्पतिकायिक आदि असज्ञी हैं। इसीलिये संज्ञी अल्प और असंज्ञी, संज्ञियों की अपेक्षा अनन्तगुणे कहे जाते है।

---

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टियोऽनन्तगुणा· क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामानन्त्यात्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७८

आहारमार्गणा मे 'अणाहार थोवेयर असखा' अनाहारक जीव थोड़े है और आहारक अधिक हैं। इसका कारण यह है कि विग्रह-गति में वर्तमान तथा केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे वर्तमान तथा चौदहवे गुणस्थान मे वर्तमान व सिद्ध जीव अनाहारक है और सव ससारी जीव आहारक है।[1] इसीलिये अनाहारक जीव अल्प और आहारक जीव असख्यातगुणे कहे है।

आहारकमार्गणा के उक्त अल्पवहुत्व को लेकर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सिद्धो की अपेक्षा अनन्त वनस्पतिकायिक आदि जीव आहारक है अत. आहारक जीवो की सख्या असख्यात के वजाय अनन्तगुणी कहना चाहिये, असंख्यातगुणी कैसे मानी जा सकती है?

उक्त प्रश्न का यह समाधान है कि निगोद के अनन्त जीवो मे से असख्यात भाग ही मरण कर विग्रहगति को प्राप्त कर पुन: जन्म धारण करता है और वे विग्रहगति मे अनाहारक ही होते हैं। वे अनाहारक जीव इतने अधिक होते है कि जिससे कुल आहारक जीव कभी भी अनाहारक जीवो की अपेक्षा अनन्तगुणे नही हो पाते है किन्तु असख्यगुणे ही रहते हैं।[2] इसीलिये आहारक जीवों को अनाहारक जीवो की अपेक्षा असख्यातगुणा कहा जाता है।

मार्गणाओ का उक्त अल्पवहुत्व पन्नवणा, अनुयोगद्वार आदि सूत्रों के आधार से प्रस्तुत किया गया है। दिगम्वर ग्रन्थो मे भी इसी प्रकार से मार्गणाओ में अल्पवहुत्व का कथन किया गया है। जिसमे कही-कही समानता और कही-कही असमानता भी है। तुलनात्मक दृष्टि से उक्त मतव्य गोम्मटसार जीवकाड मे देखना चाहिए।

---

१ विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा॥ —विशेषावश्यक भाष्य

२ यत. प्रतिसमयमेकैकस्य निगोदस्यासंख्येयभागप्रमाणा विग्रहगत्यापन्ना जीवा लभ्यन्ते, ते चानाहारका, ततः आहारकजीवानामनाहारकजीवापेक्षयाऽसंख्यातगुणत्वमेवेति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७

मार्गणाओं में जीवस्थान–गुणस्थान–योग–उपयोग–लेश्या और अल्पबहुत्वदर्शक यंत्र

क्रम संख्या	मार्गणा भेद संख्या	मार्गणा नाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६	अल्पबहुत्व
		१. गतिमार्गणा						
१.	१.	नरकगति	२	४	११	६	३	असंख्यातगुणा
२	२	तिर्यंचगति	१४	५	१३	६	६	अनन्तगुणा
३	३.	मनुष्यगति	३	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
४.	४.	देवगति	२	४	११	६	६	असंख्यातगुणा
		२. इन्द्रियमार्गणा						
५	१.	एकेन्द्रिय	४	२	५	३	४	अनन्तगुणा
६.	२.	द्वीन्द्रिय	२	२	४	३	३	विशेषाधिक
७.	३	त्रीन्द्रिय	२	२	४	३	३	विशेषाधिक
८	४.	चतुरिन्द्रिय	२	२	४	४	३	विशेषाधिक
९	५	पचेन्द्रिय	४	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
		३ कायमार्गणा						
१०.	१.	पृथ्वीकाय	४	२	३	३	४	विशेषाधिक
११.	२.	जलकाय	४	२	३	३	४	विशेषाधिक
१२.	३	वायुकाय	४	१	५	३	३	विशेषाधिक
१३	४.	अग्निकाय	४	१	३	३	३	असख्यातगुणा
१४.	५.	वनस्पतिकाय	४	२	३	३	४	अनन्तगुणा
१५	६.	त्रसकाय	१०	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प

		४ योगमार्गणा					
१६.	१.	मनोयोग	१/२	१३	१५/१३	१२	६	सबसे अल्प
१७.	२	वचनयोग	५/८	१३/२	१३/४	१२/४	६	असख्यातगुणा
१८	३.	काययोग	१४/४	१३/२	१५/५	१२/३	६	अनन्तगुणा
		५. वेदमार्गणा						
१९.	१.	पुरुषवेद	२	९	१५	१२	६	सबसे अल्प
२०.	२.	स्त्रीवेद	२	९	१३	१२	६	सख्यातगुणा
२१.	३	नपुसकवेद	१४	९	१५	१२	६	अनन्तगुणा
		६. कषायमार्गणा						
२२.	१	क्रोध	१४	९	१५	१०	६	विशेषाधिक
२३.	२	मान	१४	९	१५	१०	६	सबसे अल्प
२४.	३.	माया	१४	९	१५	१०	६	विशेषाधिक
२५	४	लोभ	१४	१०	१५	१०	६	विशेषाधिक
		७. ज्ञानमार्गणा						
२६.	१.	मतिज्ञान	२	९	१५	७	६	असख्यातगुणा
२७	२.	श्रुतज्ञान	२	९	१५	७	६	तुल्य
२८.	३.	अवधिज्ञान	२	९	१५	७	६	असंख्यातगुणा
२९	४.	मनपर्यायज्ञान	१	७	१३	७	६	सबसे अल्प
३०.	५	केवलज्ञान	१	२	७	२	१	अनन्तगुणा
३१.	६.	मतिअज्ञान	१४	२/३	१३	५	६	अनन्तगुणा
२.	७.	श्रुतअज्ञान	१४	२/३	१३	५	६	समान
३.	८.	विभगज्ञान	२	२/३	१३	५	६	असख्यातगुणा

क्रम संख्या	मार्गणा भेद संख्या	मार्गणा नाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६	अल्पबहुत्व
		८ संयममार्गणा						
३४.	१.	सामायिक	१	४	१३	७	६	सख्यातगुणा
३५	२.	छेदोपस्थापनीय	१	४	१३	७	६	सख्यातगुणा
३६.	३.	परिहारविशुद्धि	१	२	९	७	६	सख्यातगुणा
३७.	४.	सूक्ष्मसपराय	१	१	९	७	१	सबसे अल्प
३८.	५.	यथाख्यात	१	४	११	९	१	सख्यातगुणा
३९.	६.	देशविरति	१	१	११	६	६	असख्यातगुणा
४०.	७.	अविरति	१४	४	१३	९	६	अनन्तगुणा
		९. दर्शनमार्गणा						
४१.	१.	चक्षुदर्शन	३/६	१२	१३	१०	६	असख्यातगुणा
४२	२	अचक्षुदर्शन "	१४	१२	१५	१०	६	अनन्तगुणा
४३.	३.	अवधिदर्शन	२	९	१५	७	६	सबसे अल्प
४४.	४	केवलदर्शन	१	२	७	२	१	अनन्तगुणा
		१०. लेश्यामार्गणा						
४५	१	कृष्णलेश्या	१४	६	१५	१०	१	विशेषाधिक
४६	२.	नीललेश्या	१४	६	१५	१०	१	विशेषाधिक
४७	३.	कापोतलेश्या "	१४	६	१५	१०	१	अनन्तगुणा
४८.	४.	तेजोलेश्या	३	७	१५	१०	१	असंख्यातगुणा
४९.	५.	पद्मलेश्या	२	७	१५	१०	१	असख्यातगुणा
५०.	६	शुक्ललेश्या	२	१३	१५	१२	१	सबसे अल्प

		११ भव्यत्वमार्गणा						
५१.	१.	भव्यत्व	१४	१४	१५	१२	६	अनन्तगुणा
५२	२	अभव्यत्व	१४	१	१३	५	६	सबसे अल्प
		१२. सम्यक्त्वमार्गणा						
५३	१.	औपशमिक	२	८	१३	७	६	सख्यातगुणा
५४	२.	क्षायोपशमिक	२	४	१५	७	६	असख्यातगुणा
५५	३	क्षायिक	२	११	१५	९	६	अनन्तगुणा
५६	४.	सासादन ।	७	१	१३	५	६	सबसे अल्प
५७.	५.	मिश्र	१	१	१०	५/६	६	सख्यातगुणा
५८.	६.	मिथ्यात्व ।	१४	१	१३	५	६	अनन्तगुणा
		१३. संज्ञीमार्गणा						
५९.	१.	सज्ञित्व	२	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
६०.	२.	असज्ञित्व	१२	२	६	४	४	अनन्तगुणा
		१४. आहारकमार्गणा						
६१.	१	आहारकत्व	१४	१३	१५	१२	६	असख्यातगुणा
६२.	२	अनाहारकत्व	८	५	१	१०	६	सबसे अल्प

३. गुणस्थान अधिकार

पूर्व में जीवस्थान और मार्गणास्थान इन दो विभागो के आठ और छह विषयों का विचार किया जा चुका है। अब तृतीय विभाग गुणस्थान के वर्ण्य विषयों का विचार करते है। गुणस्थान विभाग के विचारणीय विषय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बध-हेतु, (६) बंध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) सख्यात आदि संख्या।

गुणस्थानों के चौदह भेद और उनके लक्षण आदि का विवेचन द्वितीय कर्मग्रंथ में विशद रूप से किया जा चुका है। अतः यहाँ गुणस्थान विभाग के वर्ण्य विषयों का विचार प्रारंभ करते है।

गुणस्थानों में जीवस्थान

सव्वजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥४५॥

शब्दार्थ—**सव्वजियठाण**—सभी जीवस्थान, **मिच्छे**—मिथ्यात्व मे, **सग**—सात, **सासणि**—सासादन मे, **पण**—पाच, **अपज्ज**—अपर्याप्त, **सन्निदुगं**—संज्ञीद्विक, **सम्मे**—सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे, **सन्नी**—सज्ञी, **दुविहो**—दो प्रकार के, **सेसेसु**—शेप गुणस्थान मे, **सन्निपज्जत्तो**—सज्ञी पर्याप्तक।

गाथार्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान मे सब जीवस्थान होते है। पाँच अपर्याप्त और संज्ञीद्विक मिलकर सात जीवस्थान सासादन में है। अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में दो प्रकार के सज्ञी जीवस्थान और शेप रहे गुणस्थानों मे संज्ञी पर्याप्त जीवस्थान है।

विशेषार्थ—गाथा में चौदह गुणस्थानों में जीवस्थानों का कथन किया गया है कि किस गुणस्थान में कितने और कौन से जीवस्थान होते हैं। सर्वप्रथम पहले गुणस्थान में जीवस्थान बतलाते हैं कि [illegible] [illegible] मिथ्यात्व गुणस्थान में सभी (चौदह) जीवस्थान होते हैं; क्योंकि एकेन्द्रियादि सब प्रकार के संसारी जीव मिथ्यात्व में पाये जाते हैं।

दूसरे गुणस्थान सासादन में सात जीवस्थान होते हैं, जिनमें पाँच अपर्याप्त और दो संज्ञी हैं। इन सात जीवस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—(१) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (३) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (४) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, (५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, (६) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तथा (७) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त।

बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान सासादन गुणस्थान में इसलिए माना जाता है कि कोई जीव सम्यक्त्व का वमन करते हुए एकेन्द्रिय जीवों में जन्म ले तो अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय को ग्रंथिभेद करने के पश्चात् उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके सम्यक्त्व से पतित होने के समय सासादन गुणस्थान होता है।

सासादन गुणस्थान में बताये गये सात जीवस्थानों में से छह अपर्याप्त हैं, सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नहीं। क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले ही होते हैं।

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त यह दो जीवस्थान हैं। यहाँ भी अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। लब्धि-अपर्याप्त नहीं समझने का कारण पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि लब्धि-अपर्याप्त जीवों को सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है

उक्त तीन गुणस्थानों—मिथ्यात्व, सासादन, अविरत सम्यग्दृष्टि के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों में सिर्फ सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त यह एक जीवस्थान होता है। संज्ञी पर्याप्त के सिवाय अन्य किसी प्रकार के जीवों में ऐसे परिणाम नही होते है जो पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान को छोडकर शेष ग्यारह गुणस्थानों—मिश्र तथा देशविरति से लेकर अयोगिकेवली तक—को प्राप्त कर सकें, इसीलिए इन ग्यारह गुणस्थानों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माना गया है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानों में जीवस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब गुणस्थानों में योगों का निरूपण करते हैं।

---

१ गुणस्थानो में जीवस्थान का विचार गोम्मटसार (दिगम्बर ग्रन्थ) मे भी किया गया है। यहाँ के विचार से वह भिन्नता रखता है। उसमे दूसरे, छठे और तेरहवे गुणस्थान मे अपर्याप्त और पर्याप्त सञ्ज्ञी ये दो जीवस्थान माने है—सासण अयदे पमत्तविरदे य, सण्णिदुग (गो० जीवकाड गा० ६९९)

लेकिन उक्त कथन अपेक्षाकृत है। क्योकि गो० कर्मकाड गा० ११३ मे अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि को दूसरे गुणस्थान का अधिकारी मानकर (पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो) उनको जीवकाड मे पहले गुणस्थान मात्र का अधिकारी कहा है सो द्वितीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवो की अल्पता की अपेक्षा से। छठे गुणस्थान के अधिकारी को जो अपर्याप्त कहा है सो आहारकमिश्र काययोग की अपेक्षा से। तेरहवे गुणस्थान वाले—सयोगिकेवली को योग की अपूर्णता की अपेक्षा से। इनके लिये देखिये गो० जीवकाड गा० १२६, १२७।

उक्त कथन के सिवाय गो० जीवकाड गा० ६९५ की जी० प्र० टीका मे सासादन गुणस्थान मे कर्मग्रन्थ की तरह सात जीवस्थान भी बतलाये है—'सासादने वादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसञ्ज्यसञ्ज्यपर्याप्तसञ्ज्ञिपर्याप्ता सप्त। द्वितीयोपशमविराधकस्य सासादनत्वप्राप्तिपक्षे च सञ्ज्ञिपर्याप्त-देवापर्याप्ताविति द्वौ।

गुणस्थानों में योग

मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥
साहारदुग पमत्ते ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥४७॥

शब्दार्थ—**मिच्छदुग**—मिथ्यात्वद्विक, **अजइ**—अविरत सम्यग्दृष्टि, **जोगा**—योग, **आहारदुग**—आहारकद्विक, **ऊणा**—न्यून (रहित), **अपुव्वपणगे**—अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानो मे **उ**—तो, **मणवइ**—मन के और वचन के, **उरलं**—औदारिक, **सविउव्व**—वैक्रिय सहित, **मीसि**—मिश्र गुणस्थान मे, **सविउव्वदुग**—वैक्रियद्विक सहित, **देसे**—देशविरति गुणस्थान मे ।

साहारदुग—आहारकद्विक सहित, **पमत्ते**—प्रमत्त गुणस्थान मे, **ते**—तेरह, **विउवाहारमीस**—वैक्रिय और आहारकमिश्र, **विणु**—बिना, सिवाय, रहित, **इयरे**—उतर, अप्रमत्त गुणस्थान मे, **कम्म**—कार्मण, **उरलदुग**—औदारिकद्विक, **अंताइम**—अतिम और पहला, **मणवयण**—मन और वचनयोग, **सजोगि**—सयोगिकेवली गुणस्थान मे, **न**—नही होता है, **अजोगि**—अयोगिकेवली गुणस्थान मे ।

गाथार्थ—मिथ्यात्वद्विक और अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे आहारकद्विक को छोडकर तेरह योग होते है। अपूर्वकरण आदि पांच गुणस्थानों मे चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक यह नौ योग हैं। वैक्रिय काययोग सहित मिश्र गुणस्थान मे और देशविरति गुणस्थान मे वैक्रियद्विक सहित योग होते है ।

प्रमत्त गुणस्थान मे देशविरति के ग्यारह योग व आहारकद्विक कुल तेरह योग होते हैं और अप्रमत्त गुणस्थान में उक्त तेरह योगो मे से वैक्रियमिश्र व आहारकमिश्र के

विना ग्यारह योग हैं। सयोगिकेवली गुणस्थान में कार्मण, औदारिकद्विक, आदि व अन्त के दो मनोयोग, दो वचनयोग (कुल सात योग) होते है और अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में गुणस्थानों मे योगों की संख्या बतलाई है कि किस गुणस्थान मे कितने और कौन-कौन से योग होते हैं।

योग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम पहले कहे जा चुके है। कुल मिलाकर यह भेद पन्द्रह होते हैं। उनमें से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में योगों को वतलाया है कि 'आहारदुगूणा' आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग के सिवाय शेष तेरह योग होते है। इन गुणस्थानों में तेरह योग इस प्रकार पाये जाते हैं कि कार्मणयोग विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रियमिश्र और औदारिक-मिश्र यह दो योग उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक और चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग और वैक्रिय काययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था में पाये जाते है। कुल मिलाकर ये सव तेरह होते हैं।

आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में नही पाये जाने का कारण यह है कि ये दोनो योग चारित्र-सापेक्ष हैं और चतुर्दश पूर्वधर को ही होते है।[1] लेकिन मिथ्यात्व आदि इन तीन

---

१ आहारदुगं जायइ चउदसपुव्विस्स। —पंचसंग्रह १।१२

गुणस्थानो मे न तो संयम है और न चतुर्दश पूर्वो का ज्ञान होना सम्भव है ।[1]

'अपुव्वपणगे' अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह इन आठवे से लेकर बारहवें तक के पॉच गुणस्थानो मे 'मणवइउरलं' चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काययोग कुल नौ योग होते है । शेष छह योग नही होने का कारण यह है कि ये पॉच गुणस्थान विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और अपर्याप्त अवस्था में नही पाये जाते है । अतएव कार्मण और औदारिक-मिश्र ये दो योग नही होते है तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी है, जिससे इनमे प्रमादजन्य लब्धि-प्रयोग न होने के कारण वैक्रिय-द्विक और आहारकद्विक यह चार योग सम्भव नही है । इसीलिये कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक के सिवाय शेष नौ योग अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानो में होते है ।

तीसरे मिश्र गुणस्थान में पूर्वोक्त नौ योगो के साथ वैक्रिय काययोग को मिलाने से दस योग है और आहारकद्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र और कार्मण इन पाँच योगो के न होने का कारण यह है कि आहारकद्विक तो सयम सापेक्ष हैं और मिश्र गुणस्थान में सयम नही होता है तथा औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र यह दो योग अपर्याप्त अवस्था और कार्मणयोग विग्रहगति भावी होने के कारण नही होते हैं । क्योकि अपर्याप्त अवस्था में तीसरा गुणस्थान सम्भव नही है । इसीलिये मिश्र गुणस्थान मे चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक, वैक्रिय काययोग यह दस योग माने जाते है ।

मिश्र गुणस्थान मे वैक्रियमिश्र काययोग न मानने पर जिज्ञासु

---

१ न च मिथ्यादृष्टिसासादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

बिना ग्यारह योग हैं। सयोगिकेवली गुणस्थान में कार्मण, औदारिकद्विक, आदि व अन्त के दो मनोयोग, दो वचनयोग (कुल सात योग) होते है और अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी योग नही होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं मे गुणस्थानों मे योगों की संख्या बतलाई है कि किस गुणस्थान मे कितने और कौन-कौन से योग होते है।

योग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम पहले कहे जा चुके है। कुल मिलाकर यह भेद पन्द्रह होते है। उनमे से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में योगों को बतलाया है कि 'आहारदुगूणा' आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग के सिवाय शेष तेरह योग होते है। इन गुणस्थानों में तेरह योग इस प्रकार पाये जाते है कि कार्मणयोग विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रियमिश्र और औदारिक-मिश्र यह दो योग उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक और चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग और वैक्रिय काययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं। कुल मिलाकर ये सब तेरह होते है।

आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों मे नही पाये जाने का कारण यह है कि ये दोनों योग चारित्र-सापेक्ष हैं और चतुर्दश पूर्वधर को ही होते है।[1] लेकिन मिथ्यात्व आदि इन तीन

---

१ आहारदुग जायइ चउदसपुव्विस्स। —पंचसंग्रह १।१२

गुणस्थानों मे न तो संयम है और न चतुर्दश पूर्वो का ज्ञान होना सम्भव है।[1]

'अपुव्वपणगे' अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह इन आठवें से लेकर बारहवे तक के पाँच गुणस्थानों मे 'मणवइउरलं' चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काययोग कुल नौ योग होते है। शेष छह योग नही होने का कारण यह है कि ये पॉच गुणस्थान विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और अपर्याप्त अवस्था में नही पाये जाते है। अतएव कार्मण और औदारिक-मिश्र ये दो योग नही होते है तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी है, जिससे इनमे प्रमादजन्य लब्धि-प्रयोग न होने के कारण वैक्रिय-द्विक और आहारकद्विक यह चार योग सम्भव नही है। इसीलिये कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक के सिवाय शेप नौ योग अपूर्वकरण आदि पॉच गुणस्थानों मे होते है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान में पूर्वोक्त नौ योगों के साथ वैक्रिय काययोग को मिलाने से दस योग हैं और आहारकद्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र और कार्मण इन पॉच योगों के न होने का कारण यह है कि आहारकद्विक तो सयम सापेक्ष है और मिश्र गुणस्थान में सयम नही होता है तथा औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र यह दो योग अपर्याप्त अवस्था और कार्मणयोग विग्रहगति भावी होने के कारण नही होते हैं। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था मे तीसरा गुणस्थान सम्भव नही है। इसीलिये मिश्र गुणस्थान मे चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक, वैक्रिय काययोग यह दस योग माने जाते है।

मिश्र गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग न मानने पर जिज्ञासु

---

१ न च मिथ्यादृष्टिसासादनायताना चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

का प्रश्न है कि अपर्याप्त अवस्थाभावी वैक्रियमिश्र काययोग जो देव, नारकों को होता है, वह न भी माना जाये, लेकिन वैक्रियलब्धिधारी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंचों मे पाया जाने वाला वैक्रियमिश्र काययोग इस गुणस्थान में माना जाना चाहिये ।

इसका समाधान ग्रन्थकर्ता ने स्वोपज्ञ टीका में तथा श्री मलयगिरि सूरि[1] आदि ने यही दिया है कि तथाविध सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने से इस गुणस्थान मे वैक्रियमिश्र काययोग न माने जाने का कारण अज्ञात है, तथापि यह जान पड़ता है कि वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य, तिर्यंच तीसरे गुणस्थान के समय वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर वैक्रिय शरीर नही बनाते होगे ।

पाँचवें देशविरति गुणस्थान मे 'सविउव्वदुग' वैक्रियद्विक सहित योग होते हैं । अर्थात् पूर्व में जो अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानो मे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक काययोग कुल नौ योग माने है, उनमे वैक्रियद्विक—वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग और मिलाने से ग्यारह योग देशविरति गुणस्थान मे होते है । इस गुणस्थान में वैक्रियद्विक योग मानने का कारण यह है कि वैक्रियलब्धि सम्पन्न मनुष्य व तिर्यंच वैक्रिय शरीर बनाते है तब उनके वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग ये दोनों योग होते है, इसी से देशविरति गुणस्थान मे ग्यारह योग माने हैं । देशविरति गुणस्थान में पूर्ण संयम न होने से आहारकद्विक योग तथा अपर्याप्त अवस्था न होने से औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग यह चार योग सम्भव नही है ।

प्रमत्तसयत नामक छठा गुणस्थान मनुष्यो को ही होता है और इस गुणस्थान मे देशविरति में पाये जाने वाले ग्यारह और आहारकद्विक 'साहारदुग पमत्ते' कुल तेरह योग होते हैं । तेरह योग मानने

---

१ पचसग्रह १।१७ की टीका ।

का कारण यह है कि चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक कुल नौ योग तो सब मुनियों में साधारण है और वैक्रियद्विक और आहारकद्विक ये चार योग वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर बनाने वाले लब्धिधारी मुनियो के होते है। वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र ये दो योग वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर के प्रारम्भ तथा परित्याग करने के समय पाये जाते है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान मे जो तेरह योग कहे गये है, उनमें से इसके प्रतिपक्षी नाम वाले गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्तसंयत नामक सातवे गुणस्थान मे 'विउवाहारमीस विणु' वैक्रियमिश्र और आहारक-मिश्र इन दो योगो को कम करने से ग्यारह योग होते है। अप्रमत्त-सयत गुणस्थान में वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग न मानने का कारण यह है कि वैक्रिय और आहारक शरीर की रचना के समय संयत मुनि प्रमादी हो जाता है और सातवा गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी है। इसीलिये उसमे छठे गुणस्थान वाले तेरह योगों में से उक्त दो मिश्र योगो को छोडकर ग्यारह योग माने गये है।

अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे वैक्रिय और आहारक काययोग इन दोनों योगों के मानने का कारण यह है कि वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर बना लेने पर अप्रमत्त अवस्था सभव है और इसीलिये अप्रमत्त-सयत गुणस्थान के योगों की संख्या में वैक्रिय काययोग और आहारक काययोग की गणना की जाती है।

सयोगिकेवली गुणस्थान में कार्मण, औदारिकद्विक तथा पहला मनोयोग (सत्य मनोयोग) और अन्तिम मनोयोग (असत्यामृपा मनो-योग) और इसी प्रकार पहला और अन्तिम वचनयोग कुल सात योग होते है। इन सात योगो मे से केवली समुद्घात के समय कार्मण और औदारिकमिश्र ये दो योग, अन्य सब समयो में औदारिक काययोग, अनुत्तर विमानवासी देवो आदि के प्रश्नों का मन से उत्तर देते समय

दो मनोयोग तथा देशना देते समय दो वचनयोग होते है। इसीलिये सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में सात योग माने जाते है। लेकिन जब केवली भगवान सब योगों का निरोध करके अयोगिकेवली अवस्था प्राप्त करते है तब कोई भी योग नही रहता है। इसीलिये चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान मे कोई भी योग नहीं माना है। उस समय अयोगि अवस्था होती है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानों मे योगों का वर्णन करने के पश्चात अब आगे गुणस्थानों में उपयोगों का कथन करते हैं।

गुणस्थान में उपयोग

तिअनाण दुदंसाइमदुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं।
ते मीसि मीस समणा जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥४८॥

शब्दार्थ—**तिअनाण**—तीन अज्ञान, **दुदंस**—दो दर्शन, **आइमदुगे**—आदि के दो गुणस्थानो मे, **अजइ**—अविरति मे, **देसि**—देशविरति मे, **नाणदंसतिगं**—ज्ञान-दर्शनत्रिक, **ते**—वे, **मीसि**—मिश्र गुणस्थान मे, **मीसा**—अज्ञान से मिश्र, **समणा**—मनपर्यायज्ञान सहित, **जयाइ**—प्रमत्त आदि गुणस्थानो मे, **केवलिदुग**—केवलद्विक, **अंतदुगे**—अतिम दो गुणस्थानो मे।

गाथार्थ—पहले दो गुणस्थानों मे तीन अज्ञान और दो दर्शन, अविरति और देशविरति मे तीन ज्ञान और तीन दर्शन (छह उपयोग) होते है। उक्त छह उपयोग मिश्र गुणस्थान में अज्ञान से मिश्रित होते है। मनपर्यायज्ञान सहित

---

१ पचसग्रह १।१६-१८ तक तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६६-६६ मे भी गुणस्थानो मे योग सम्बन्धी विचार इसी प्रकार से किया गया है

गो० जीवकाड गा० ७०४ मे किया गया योग सम्बन्धी विचार यहाँ के वर्णन से भिन्न है। उसमे पाँचवे, सातवे गुणस्थानो मे नौ और छठे गुणस्थान मे ग्यारह योग माने हैं। देखिये गा० ७०४।

(सात उपयोग) प्रमत्त आदि (सात) गुणस्थानों मे होते है और अंतिम दो गुणस्थानों में केवलद्विक उपयोग है ।

विशेषार्थ—गाथा में गुणस्थानों में उपयोगों का कथन किया है। उपयोग के कुल भेद बारह है उनमे से पहले दो गुणस्थानों—मिथ्यात्व, सासादन—में उपयोगो की सख्या बतलाते हुए गाथा मे कहा है कि 'तिअनाण दुदंसाइमदुगे' तीन अज्ञान—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान तथा दो दर्शन—चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कुल पांच उपयोग होते है ।

आदि के दो गुणस्थानो मे मतिअज्ञान आदि अचक्षुदर्शन पर्यंत पांच उपयोग मानने का कारण यह है कि इन दोनों गुणस्थानों में सम्यक्त्व का अभाव है। अतएव सम्यक्त्व सहचारी मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये सात उपयोग नही होते है। शेष मति-अज्ञान आदि पाच उपयोग होते है ।[1]

चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि और पाचवे देशविरति गुणस्थानो में 'नाणदसतिग' तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, यह छह उपयोग है। इन दोनों गुणस्थानों मे मिथ्यात्व नही होने से मिथ्यात्व सहचारी तीन अज्ञान, सर्वविरति न होने से मनपर्यायज्ञान और घाति कर्मो का अभाव न होने मे केवलद्विक कुल छह उपयोग नही होने से शेष छह उपयोग मतिज्ञान आदि होते है ।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे भी यही छह उपयोग—तीन ज्ञान, तीन दर्शन होते है, लेकिन मिश्रदृष्टि मिश्रित (शुद्धाशुद्ध उभयरूप) होने

---

१ .... पंचोपयोगा मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्भवन्ति, न शेषा., सम्यक्त्व-विरत्यभावात्   —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

के कारण ज्ञान, अज्ञान मिश्रित है।[1] इस मिश्र गुणस्थान में शुद्धाशुद्ध उभय मिश्रित दृष्टि होने का कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि कदाचित् सम्यक्त्व की बहुलता से ज्ञान का भी बाहुल्य हो सकता है और कदाचित् मिथ्यात्व की अधिकता मे अज्ञान का बाहुल्य, फिर भी उभय अंश समान ही रहते हैं। इसीलिये मिश्र गुणस्थान में पाये जाने वाले उपयोगों को अज्ञान मिश्रित कहा जाता है।[2]

मिश्र गुणस्थान में अवधिदर्शन उपयोग मानने का कथन सैद्धान्तिक मत की अपेक्षा से समझना चाहिये।

अभी तक पहले से लेकर पाँचवे गुणस्थान तक उपयोगों की संख्या बतलाई है। अब प्रमत्तसंयत आदि छठे से चौदहवें गुणस्थान तक नौ गुणस्थानों में उपयोग बतलाते है। यह उपयोगों का कथन गुणस्थानों के दो विभाग करके बतलाया है। पहले विभाग में छाद्मस्थिक अवस्था में होने वाले प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोहपर्यन्त सात गुणस्थानो और दूसरे विभाग में निरावरण अवस्था में पाये जाने वाले सयोगि और अयोगि केवली दो गुणस्थानो को ग्रहण किया है।

प्रथम विभाग के छठे प्रमत्तसंयत आदि बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में सम्यक्त्व सहचारी तीन ज्ञान और तीन दर्शन, इन छह उपयोगों के साथ सर्वविरति सहचारी मनपर्यायज्ञान उपयोग होने से सात उपयोग होते है। इन सात गुणस्थानों मे अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पाँच उपयोगों को नही मानने का

---

१ 'ते' पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा: षडुपयोगा: 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके 'मिश्रा:' अज्ञानसहिता द्रष्टव्या', तस्योभयदृष्टिपातित्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

२ केवल कदाचित् सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यम् कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षताया तूभयांशसमतेति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

कारण यह है कि मिथ्यात्व का अभाव होने से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान यह तीन अज्ञान नही हैं और घातिकर्म का क्षय न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन उपयोग संभव नही है।[1] इसीलिये इन पाँच को छोड़कर शेष सात उपयोग इनमें समझना चाहिये।

अतद्विक यानी अंत के सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन दोनों गुणस्थानों में केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग है। घातिकर्मो का क्षय होने से छद्मस्थ अवस्थाभावी केवलज्ञान के सिवाय मतिज्ञान आदि सात ज्ञानोपयोग और केवलदर्शन के सिवाय चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शनोपयोग कुल दस उपयोग नही होते है।[2] इसीलिये केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानों मे उपयोगो का वर्णन किया गया। अब आगे की गाथा मे कार्मग्रथिक और सैद्धान्तिक मतों मे भिन्नता पाई जाने वाले विपयो को स्पष्ट करते हैं।

सैद्धान्तिक मतव्य

सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४६॥

शब्दार्थ—सासणभावे—सासादन भाव मे, नाणं—ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान), विउव्वगाहारगे—वैक्रिय और आहारक शरीर मे, उरलमिस्सं—आदौरिकमिश्र योग, न—नही, एगिंदिसु—एकेन्द्रिय मे,

---

१ यतादीनि······सप्त गुणस्थानकानि तेपु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्या: पडुपयोगा.······मन:पर्यायज्ञानसहिता: सप्त भवन्ति, न शेपा, मिथ्यात्व-घातिकर्मक्षयाभावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

२ नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे। —आवश्यक नियुंक्ति, गा०

सासाणो—सासादनत्व, **नेहाहिगयं**—यहाँ ग्रहण नही किया है, **सुयमयंपि**—किंतु सूत्र मे माना है।

गाथार्थ—सासादन अवस्था मे सम्यग्ज्ञान, वैक्रिय और आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग, एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव यह तीन बातें सूत्र सम्मत है, लेकिन यहाँ (कर्मग्रंथ में) ग्रहण नही की गई है।

विशेषार्थ—सिद्धांत मे और कर्मग्रंथो में कुछ विषयों पर मतभिन्नता है। उनमें से तीन विषयों को गाथा में दिखाया गया है। मतभिन्नता वाले विषय इस प्रकार है—

१ सिद्धांत में सासादन अवस्था में सम्यग्ज्ञान माना है।

२ सिद्धांत मे वैक्रिय और आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग माना है।

३ एकेन्द्रिय जीवों को सासादन गुणस्थान सिद्धांत मे नही माना है।

उक्त तीनो बाते कार्मग्रंथिक स्वीकार नही करते है। विचारभिन्नता के कारणों सहित उक्त मतो का दृष्टिकोण नीचे स्पष्ट करते हैं।

१. सिद्धात मे सासादन सम्यक्त्व में ज्ञान भी माना गया है, लेकिन कर्मग्रन्थकार अज्ञान मानते है। सिद्धांत का तत्सम्वन्धी पाठ इस प्रकार है—

'बेइन्दिया णं भंते ! कि नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी, आभिणिवोहियनाणी सुयनाणी। जे अन्नाणि ते वि नियमा दुअन्नाणी, तं जहा—मइअन्नाणी सुयअन्नाणी।[1]

—हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय ज्ञानी है या अज्ञानी ? हे गौतम ! ज्ञानी

---

१ भगवती ८।२

भी है और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी है वह मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी है। जो अज्ञानी है वह भी नियम से मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी है।

यहाँ जो ज्ञानी कहा गया है वह सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा से कहा गया है, अन्य सम्यक्त्व का अभाव होने से, उसकी अपेक्षा नही है। जैसा कि प्रज्ञापना-टीका मे कहा है—

'वेइन्दियस्स दो नाणा कहं लब्भंति ? भण्णइ—सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति।

—द्वीन्द्रिय को दो ज्ञान किस प्रकार से होते है ? सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा करण-अपर्याप्त अवस्था मे दो ज्ञान होते है।

सिद्धात के उक्त कथन का साराश यह है कि दूसरे गुणस्थान मे वर्तमान जीव यद्यपि मिथ्यात्व के सम्मुख है, पर मिथ्यात्वी नही, उसमे सम्यक्त्व का अंश होने से कुछ विशुद्धि है, इसलिये उसके ज्ञान को कुछ विशुद्धि होने के कारण ज्ञान मानना चाहिये।

सिद्धांत के उक्त अभिप्राय से भिन्न कार्मग्रन्थिक मत यह है कि सासादन गुणस्थान मे ज्ञान नही अज्ञान है। क्योकि सासादन सम्यक्त्व ऊपरी गुणस्थान से पतित होने वाले को होता है और वह मिथ्यात्व के सम्मुख है, जिससे परिणाम मलिन है। इसीलिये उसका ज्ञान भी मलिन होने से अज्ञान ही है। कर्मग्रंथकार सम्यक्त्वमोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम भाव मे ही ज्ञान मानते है।[1]

२. सिद्धात मे माना है कि लब्धि द्वारा वैक्रिय और आहारक शरीर बनाते समय यानी प्रारम्भ काल मे औदारिक के साथ मिश्र होने से औदारिकमिश्र काययोग किन्तु त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। जैसा कि पन्नवणा पद १६ मे कहा है—'औरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियमीससरीरप्पयोगे

---

१ दिगम्बर ग्रंथो मे कार्मग्रंथिक मत को स्वीकार किया गया है। देखिये गो० जीवकाड गा० ६८७, ७०५।

वेउव्विय सरीरकायप्पयोगो आहारकसरीरकायप्पओगे आहारकमीस-कायप्पयोगे ।'

इसका अभिप्राय यह है कि जब वैक्रियलब्धि सम्पन्न औदारिक शरीर वाला पंचेन्द्रिय मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यच अथवा बादर वायु-कायिक जीव वैक्रिय शरीर करता है, तब औदारिक शरीरयोग में वर्तमान होता है । वैक्रिय शरीर में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करे तब तक वैक्रिय के साथ मिश्रता होती है किन्तु औदारिक की प्रधानता होने से व्यपदेश औदारिकमिश्र का होता है । इसी प्रकार आहारक शरीर के सम्बन्ध में समझना चाहिये । अर्थात् वैक्रिय और आहारक शरीर के करते समय औदारिकमिश्र और परित्याग काल में अनुक्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है ।

लेकिन सिद्धात के उक्त अभिप्राय के लिये कार्मग्रन्थिक मत यह है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग ही होता है, औदारिकमिश्र नही । क्योकि किसी भी शरीर द्वारा काययोग का व्यापार हो किन्तु औदारिक शरीर जन्मसिद्ध है और वैक्रिय व आहारक लब्धिजन्य । इसलिये लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मानकर प्रारम्भ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र का व्यवहार करना चाहिये ।[1]

३. सिद्धांत मे एकेन्द्रिय को सासादन गुणस्थान नही माना है, जबकि कर्मग्रथकार मानते है ।[2] भगवती, प्रज्ञापना और जीवाभिगम

---

१ दिगम्बर साहित्य का मतव्य भी कर्मग्रथ जैसा जान पडता है । क्योकि उसमे पाँचवे और छठे किसी भी गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग नही माना है । देखिये —**गो० जीवकांड, गा० ७०४ ।**

२ दिगम्बर साहित्य मे सैद्धांतिक और कार्मग्रन्थिक दोनो मतों को ग्रहण किया है । गो० कर्मकाड गा० ११३ से ११५ तक की गाथा मे एकेन्द्रिय

गुणस्थानों में लेश्या तथा बंधहेतु

छसु सव्वा तेउतिगं इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

शब्दार्थ—छसु—छह गुणस्थानो मे, **सव्वा**—सभी लेश्याये, **तेउतिगं**—तेजत्रिक, **इगि**—एक मे (अप्रमत्त मे), **सुक्का**—शुक्ल-लेश्या, **अजोगि**—अयोगिकेवली, **अल्लेसा**—लेश्या रहित है, **बंधस्स**—बन्ध के, **मिच्छ**—मिथ्यात्व, **अविरइ**—अविरति, **कसाय**—कषाय, **जोग**—योग, **त्ति**—इस प्रकार, **चउ**—चार, **हेऊ**—हेतु।

गाथार्थ—आदि के छह गुणस्थानो में सभी लेश्यायें होती है। एक—अप्रमत्त गुणस्थान में तेज आदि तीन लेश्यायें और शेष गुणस्थानों—आठवे से लेकर तेरहवे तक छह गुणस्थानो में शुक्ललेश्या होती है और अयोगिकेवली गुणस्थान लेश्या रहित है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार हेतु कर्मबन्ध के हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे गुणस्थानो मे लेश्याओं का कथन करने के पश्चात बंधहेतुओं के नामों का सकेत किया है।

गुणस्थानों में लेश्याओं की संख्या और उनके नामों के विचार को प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'छसु सव्वा' आदि के छह गुणस्थानों में सभी लेश्यायें होती है। यानी कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल यह छह लेश्याये है जो पहले मिथ्यात्व से लेकर छठे प्रमत्त-सयत गुणस्थान तक पाई जाती हैं।

यहाँ गुणस्थानों मे लेश्याये बतलाई है और पहले लेश्यामार्गणा मे गुणस्थान बताये गये है। गुणस्थानो मे लेश्याओ का कथन करते समय पहले छह गुणस्थानो में छह लेश्यायें मानी है जबकि लेश्या-मार्गणा मे गुणस्थान बतलाते समय पहले चार गुणस्थानों में छह लेश्यायें बताई है। तत्सम्बन्धी मत वैविध्य का स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

आदि के छह गुणस्थानों में सभी लेश्याये मानने के सम्बन्ध मे दो विचारधाराये हैं। प्रथम मत आदि के चार गुणस्थान तक छह लेश्याये और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानों में छह लेश्या मानता है।[1]

पहले मत का आशय यह है कि छहों प्रकार की द्रव्यलेश्या वालों को चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है किन्तु पाँचवां और छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभलेश्या (तेजः, पद्म, शुक्ल) वालों को। अत· गुणस्थान-प्राप्ति के समय वर्तमान द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्याये माननी चाहिये और पाँचवे, छठे में तीन ही।

दूसरे मत का यह आशय है कि छहो लेश्याओं के समय चौथा गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओं के समय पाॅचवां, छठा गुणस्थान प्राप्त होता है, परन्तु प्राप्त होने के वाद चौथे, पाँचवे और छठे तीन गुणस्थान वालो मे छहों द्रव्यलेश्याये पाई जाती है। इसलिए गुणस्थान-प्राप्ति के उत्तरकाल मे वर्तमान द्रव्यलेश्याओ की अपेक्षा छठे गुण-स्थान पर्यन्त छह लेश्याये मानी जाती हैं।

यहाॅ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि चौथा, पाँचवां और छठा गुणस्थान प्राप्त होने के समय भावलेश्या तो शुभ ही होती है, अशुभ नही। किन्तु प्राप्त होने के वाद भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है।

उक्त दोनों मत अपेक्षाकृत है और इनका सारांश यह है कि प्रथम मतानुसार पाँचवा, छठा गुणस्थान प्राप्त करते समय शुभलेश्याये होती है, किन्तु प्राप्त करने के पश्चात अशुभ लेश्याये भी होती हैं। इस अपेक्षा से आदि के छह गुणस्थानों मे छह लेश्याये है। जवकि दूसरे मत के अनुसार पाँचवां और छठा गुणस्थान शुभलेश्याओं मे ही

---

१ पहला मत पचसग्रह १।३०, प्राचीन वन्धस्वामित्व गा० ४०, नवीन वधस्वामित्व गा० २५, सर्वार्थसिद्धि, गो० जीवकांड गा० ७०४ के भावार्थ मे और दूसरा मत प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ७२ व यहाॅ है।

प्राप्त होता है, अतः उस-उस गुणस्थान की प्राप्ति के समय शुभ-लेश्यायें होने से प्रथम चार गुणस्थानों में छह लेश्यायें मानी जाती हैं।

आदि के छह गुणस्थानो—मिथ्यात्व से प्रमत्तसयत तक—में तीन अशुभ कृष्ण, नील, कापोत लेश्याये होने के सम्बन्ध मे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक लेश्या असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण सक्लेश मिश्रित परिणाम रूप है। इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, आदि उतने ही भेद समझना चाहिए। अतएव कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं को छठे गुणस्थान मे अति मन्दतम और पहले गुणस्थान में अति तीव्रतम मानकर उनका सम्बन्ध घटाना चाहिये।

आदि के छह गुणस्थानो मे लेश्याये बतलाने के बाद शेष आठ गुणस्थानों में लेश्याओं का विचार करते हुए कहा है 'तेउतिग इगि' यानी छठवे गुणस्थान के पश्चात् आने वाला जो गुणस्थान अप्रमत्त-संयत (लेकिन संख्या-क्रम से इसकी संख्या सातवी है) है उसमे तेज-त्रिक—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—लेश्याये होती है। सातवें गुणस्थान में आर्त और रौद्र ध्यान न होने के कारण पारिणामिक विशुद्धता रहती है, जिससे उस गुणस्थान में अशुभलेश्याये सर्वथा नही होती है किन्तु तीन शुभलेश्याये ही होती है और अप्रमत्तसंयत के बाद के छह गुणस्थानों मे पाई जाने वाली लेश्याओं के सम्बन्ध मे गाथा का संकेत है कि 'छसु सुक्का' अपूर्वकरण आदि आठवे से लेकर सयोगिकेवली तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानो में सिर्फ शुक्ल-लेश्या होती है।

अयोगिकेवली जो चौदहवां गुणस्थान है, उसमे कोई भी लेश्या नही होती है। इसका कारण यह है कि जहाँ तक योग पाया जाता है, वहीं तक लेश्यायें होती है, लेकिन चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे योग का अभाव हो जाने से लेश्या का सद्भाव नही रहता है।

इस प्रकार से चौदह गुणस्थानों में लेश्याओं का निरूपण गुणस्थानों के तीन विभाग करके किया है—

प्रथम विभाग में आदि के छह गुणस्थानों में छहों लेश्यायें वतलाई हैं।

दूसरे विभाग मे सिर्फ एक—अप्रमत्तसयत गुणस्थान में तेजः आदि तीन शुभ लेश्याये कही है।

तीसरे विभाग मे आठवे अपूर्वकरण से लेकर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानो मे शुक्ललेश्या वताई है।

गुणस्थानों में लेश्याओ के सम्वन्ध मे जिज्ञासु प्रश्न करता है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे तेज·, पद्म और शुक्ल लेश्या वतलाई है और सातवे गुणस्थान मे तेजः व पद्म लेश्या तथा आठवे से तेरहवे गुणस्थान तक शुक्ललेश्या। तो इनमे क्या अन्तर है ?

इसका समाधान यह है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तेजः और पद्म लेश्या अति मन्दतम और सातवे गुणस्थान में अति तीव्रतम होती है। इसी प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे शुक्ल लेश्या अति मन्दतम और तेरहवें गुणस्थान मे अति तीव्रतम होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान तथा अन्य गुणस्थानों मे शुभ लेश्याये पाये जाने के वारे मे यही अन्तर है।

इस प्रकार से गुणस्थानों मे लेश्याओ का कथन करने के पश्चात गुणस्थानो में वन्धहेतुओं को वतलाने के लिये सर्वप्रथम वन्वहेतुओ की संख्या वतलाते है कि—

'वंधस्स चउ हेऊ' कर्मबंध के चार कारण है। तव प्रश्न होता है कि उनके नाम क्या है ? तो ग्रथकार कहते है कि—'मिच्छअविरइकसायजोग त्ति' मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग यानी मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग यह चार वंधहेतु हैं।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान रूप आत्म-

परिणाम होता है उसे मिथ्यात्व कहते है। कदाग्रह, सशय आदि मिथ्यात्व के रूप हैं।

अविरति—अर्थात् दोषों से विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम है जो चारित्र को रोकता है। चारित्र को रोकने या न होने देने का कारण अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है।

कषाय—समभाव की मर्यादा को तोड़ना, चारित्र मोहनीय के उदय से क्षमा, विनय, सन्तोष आदि आत्मिक गुणों का प्रगट नही होना या अल्पमात्रा में प्रगट होना।

योग—आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द (चंचलत्व) को योग कहते है। यह परिस्पन्द मन, वचन, काय के योग्य पुद्गलों के आलम्बन से होता है।

कर्मबन्ध के हेतुओं की संख्या की तीन परम्परायें

कर्मबन्ध के हेतुओं की सख्या के बारे मे तीन परम्पराये देखने में आती है—

१. कषाय और योग ये दोनो ही बन्धहेतु है।

२. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार वन्ध हेतु है।

३. तीसरी परम्परा पूर्वोक्त मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार हेतुओं के साथ प्रमाद को बढाकर पाँच वन्धहेतुओं की है।[1]

इस प्रकार से सख्या और उसके कारण नामों में भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में कोई भेद नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रमाद एक तरह का असंयम ही है अतः इसका अविरति या कषाय मे अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिये प्रमाद के सिवाय मिथ्यात्व आदि चार वन्धहेतु माने जाते हैं। लेकिन जव इन चार वन्धहेतुओ के वारे मे सूक्ष्मता से विचार करते है तो मिथ्यात्व और अविरति ये

---

१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा वन्वहेतवः। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१

दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नही पडते है, जिससे कषाय और योग इन दोनो को वन्धहेतु माना जाता है।

उक्त कथन पर प्रश्न होता है कि फिर संख्या और भेद की विभिन्न परम्पराओ का आधार क्या है ? इसका समाधान यह है कि आत्मा के साथ कर्मवर्गणाओं का सम्वन्ध होते समय प्रकृति (स्वभाव), स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार अंशों का निर्माण होता है। उनके कारण कपाय और योग दोनों ही है। क्योंकि प्रकृति और प्रदेशरूप अंशो का निर्माण तो योग से और स्थिति व अनुभाग रूप अंशों का निर्माण कपाय से होता है।[1] इसलिए एक ही कर्म में उत्पन्न होने वाले उक्त चार अशों के कारणों का विश्लेपण करने की दृष्टि से कषाय और योग इन दोनों वधहेतुओं का कथन किया है।

आध्यात्मिक विकास की चढाव-उतार वाली भूमिका स्वरूप गुणस्थानो में वंधने वाली कर्म प्रकृतियो के तरतम भाव के कारण को वतलाने के लिये मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग इन चार वध-हेतुओं की परम्परा है। जिस गुणस्थान में उक्त चार वधहेतुओ में से जितने अधिक बधहेतु होंगे, उस गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो का वध भी अधिक होगा और जहाँ ये वधहेतु कम होंगे, वहाँ कर्म प्रकृतियो का वंध भी कम ही होगा। इस प्रकार से चार वधहेतुओं का कथन गुणस्थानो मे तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्म बंध के कारणों की अपेक्षा से किया गया है। पाँच वंधहेतुओ की परम्परा का आशय चार वधहेतुओ की परम्परा से भिन्न नही है। वह तो जिज्ञासुओ को विस्तार मे वधहेतुओ का ज्ञान कराने के लिये है।

अधिकतर शास्त्रों मे जो कर्मवध के चार और दो वधहेतुओं की परम्परा देखने मे आती है, वह कारण सापेक्ष है। योग और कपाय

---

१ जोगा पयडिपदेसा ठिदिअनुभाग कसायदो कुणइ।

इन दो बंधहेतुओं की परम्परा किसी भी कर्म में सम्भावित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करती है और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार हेतुओं की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों में तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्मबंध के कारणों का स्पष्टीकरण करने के लिये है।

यहाँ पर गुणस्थानों में कर्म बंध के कारणों का विवेचन किया जा रहा है, अतएव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार को बंधहेतु के रूप में प्रस्तुत किया है। ये चारों कर्मबंध के सामान्य हेतु हैं अर्थात् अंतरग हेतु हैं और इन कारणों के रहने पर जीव ज्ञानावरण आदि कर्मों का बंध करता रहता है। पहले कर्मग्रथ गा० ५४ से ६१ तक, तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्रों मे तथा अन्य ग्रंथों में जो ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म के अलग-अलग बधहेतु कहे है और यहाँ जो मिथ्यात्व आदि बधहेतुओं का कथन किया है, इन दोनों में यह अन्तर है कि पहले कर्मग्रंथ आदि मे कहे गये हेतु प्रत्येक कर्म के खास-खास बधहेतु होने से विशेषरूप है, जबकि मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मो के समान बंधहेतु होने से सामान्य है।

कर्मबंध के सामान्य और विशेष बंधहेतुओं का अलग से कथन करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रत्येक समय आयु के सिवाय सात कर्मो का बंध होता रहता है। इसलिये ज्ञान, ज्ञानी आदि पर प्रद्वेप या उनका निह्नव करते समय भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि की तरह अन्य कर्मो का बध होता ही है। इस स्थिति में तत्त्वार्थसूत्र ६/११-२६ तक के सूत्र मे कहे गये 'तत्प्रदोष-निह्नव' आदि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मो के विशेष हेतु कैसे कहे जा सकते है ?

इसका समाधान यह है कि तत्प्रदोपनिह्नव आदि आस्रवो को जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का विशेप वधहेतु कहा है वह अनुभाग वंध की अपेक्षा से, प्रकृति वंध की अपेक्षा से नही। अर्थात् किसी भी

आस्रव के सेवन के समय प्रकृतिबंध सब प्रकार का होता है किन्तु अनुभागबंध में अन्तर पड़ता है कि ज्ञान, ज्ञानी, ज्ञानोपकरण आदि पर प्रद्वेष करते समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण के साथ अन्य कर्म-प्रकृतियो का भी बध होता रहता है किन्तु उस समय अनुभागबध विशेप रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का ही होता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि कर्मबध के सामान्य और विशेप जो बधहेतु बतलाये गये है उनमे विशेप बंधहेतुओ का विभाग अनुभागबंध की अपेक्षा से किया गया है, प्रकृतिबध की अपेक्षा से नही। सामान्य बधहेतुओ से सभी कर्मो का प्रकृति, प्रदेश आदि रूप बंध होगा और इस बध के समय जिस कर्म के विशेप बंधहेतु अधिक होंगे, उसका अनुभागबध विशेप रूप में होगा।

यह सामान्य नियम है कि मिथ्यात्व से योगपर्यन्त बंधहेतुओ में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बंधहेतु होगे वहाँ उसके बाद के भी सभी होंगे। जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि शेष अवश्य होंगे। इसी प्रकार अविरति आदि बंधहेतुओ के लिये भी समझना चाहिये। परन्तु जब उत्तर का बंधहेतु होगा तब पूर्व बंधहेतु हो भी और न भी हो। जैसे अविरति के होने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान मे अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नही रहता है। इसी प्रकार अन्य बंधहेतुओ के लिए भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से कर्मबन्ध के मूल हेतुओं को बतला कर अब आगे की दो गाथाओ मे उनके उत्तरभेद और गुणस्थानों मे मूल बन्ध-हेतुओ को बतलाते है।

बन्धहेतुओं के उत्तरभेद व गुणस्थानों में बन्धहेतु

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय संसइयमणाभोगं।
पण मिच्छ बार अविरइ मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥

नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना।
इगचउपणतिगुणेसुं चउतिदुइगपच्चओ बन्धो ॥५२॥

शब्दार्थ—**अभिगहिय**—आभिग्रहिक, **अणभिगहिय**—अनाभिग्रहिक, **आभिनिवेसिय**—आभिनिवेशिक, **संसइयं**—साशयिक, **अणाभोगं**—अनाभोग, **पण**—पाँच, **मिच्छा**—मिथ्यात्व, **बार**—बारह, **अविरइ**—अविरति, **मणकरण**—मन और इन्द्रियों का, **अनियमु**—अनियम, वश मे नही रखना। **छजियवहो**—छह काय के जीवों का वध।

नव सोल—नौ तथा सोलह, **कसाय**—कषाय, **पनर**—पन्द्रह, **जोग**—योग, **इय**—इस प्रकार से, **उत्तरा**—उत्तरभेद, **उ**—और, **सगवन्ना**—सत्तावन, **इग**—एक, **चउ**—चार, **पण**—पाँच, **ति**—तीन, **गुणेसुं**—गुणस्थानो मे, **चउ**—चार, **ति**—तीन, **दु**—दो, **इग**—एक, **पच्चओ**—प्रत्ययिक, **बन्धो**—बन्ध (होता है)।

गाथार्थ—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोगिक ये पाँच मिथ्यात्व के भेद है। मन तथा पाँच इन्द्रियों को वश में न रखना तथा छह काय के जीवों का वध करना यह अविरति के बारह भेद है।

नौ तथा सोलह कुल पच्चीस भेद कषाय के है तथा योग पन्द्रह होते है। कुल मिलाकर ये उत्तरभेद सत्तावन होते है। एक, चार, पाँच और तीन गुणस्थान में अनुक्रम से चार, तीन, दो और एक हेतु प्रत्ययिक बन्ध होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओ में से मिथ्यात्व और अविरति के उत्तरभेदों के नाम तथा कषाय व योगों के भेदों की संख्या और इन भेदों के कुल जोड का संकेत करने के पश्चात गुणस्थानो में मूल बन्धहेतुओं की संख्या का कथन किया है।

मिथ्यात्व के पाँच भेद है—(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक तथा (५) अनाभोग।[1]

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का औदयिक परिणाम ही मुख्यतया मिथ्यात्व कहलाता है। यहाँ मिथ्यात्व के उदय से होने वाली आभिग्रहिक आदि वाह्य प्रवृत्तियो को कार्यकारण की भेदविवक्षा से मिथ्यात्व कहा है। उनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. तत्त्व की परीक्षा किये विना ही किसी एक सिद्धांत का पक्षपात करके अन्य पक्ष का खंडन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। इस प्रकार के मिथ्यात्व के होने का कारण वश-परम्परा से चले आये विचारों पर आरूढ रहना है। उस स्थिति में यह ज्ञान नहीं होता है कि सत्य क्या है और किसी भी असत्य धर्म को तत्त्वबुद्धि से ग्रहण कर लिया जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव कदापि अपरीक्षित सिद्धांत का पक्षपात नहीं करता है, अतएव जो व्यक्ति तत्त्वपरीक्षापूर्वक किसी एक पक्ष को मानकर अन्य पक्ष का खडन करता है, वह आभिग्रहिक नही है। किन्तु कुलाचार मात्र से अपने को सम्यक्त्वी मानकर तत्त्व की परीक्षा नही करता, वह वस्तुतः आभिग्रहिक है। जो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-परीक्षा करने मे असमर्थ हैं यदि वे गीतार्थ (तत्त्वपरीक्षक) के आश्रित

---

१ (क) पचसग्रह ४।२ मे भी मिथ्यात्व के उक्त पांच भेद कहे है।

(ख) गो० जीवकाड, गा० १५ मे मिथ्यात्व के १ एकांत, २ विपरीत, ३ वैनयिक, ४ सांशयिक और ५ अज्ञान—यह पांच भेद किये है।

(ग) भगवती आराधना गा० ५६ मे मिथ्यात्व के संशय, अभिग्रहीत, अनभिग्रहीत—यह तीन भेद दिये है।

(घ) तत्त्वार्थसूत्र ८।१ के भाष्य मे मिथ्यात्व के अभिग्रहीत और अनभिग्रहीत—यह दो भेद दिये है।

हों तो उन्हें आभिग्रहिकी मिथ्यात्वी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि गीतार्थ के आश्रित रहने से उनमें मिथ्या पक्षपात सम्भव नही है।

२. सत्यासत्य की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।[1] यह मिथ्यात्व मंदबुद्धि वाले, परीक्षा करने मे असमर्थ जनसाधारण में पाया जाता है, जिससे वे अकसर कह देते है कि सब धर्म बराबर है।

३. अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। यथार्थ वक्ता मिलने पर भी श्रद्धा का विपरीत बना रहना दुरभिनिवेश कहलाता है।

४. संशय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व को सांशयिक मिथ्यात्व कहते है। इस मिथ्यात्व के कारण भगवद्-उपदिष्ट जीवाजीव आदि पदार्थों में संशय हो जाता है कि भगवान ने जो धर्मास्तिकाय आदि कहे हैं, वे हैं या नही। अथवा देव, गुरु, धर्म के विषय में संदेहशील बने रहना सांशयिक मिथ्यात्व है।[2]

यद्यपि सूक्ष्म विषयों में संशय सर्वविरति साधुओं में भी पाया जाता है, किन्तु वह मिथ्यात्वरूप इसलिये नही माना जाता है कि वे—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं—

की भावना से आगम को प्रमाण मानकर अपने संशय का निवर्तन

---

१ तद्विपरीतमनाभिग्रहिकम्, यद्वशात् सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीषन्माध्यस्थ्यमुपजायते। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८३**

२ 'सांशयिक' यत् सशयेन निर्वृत्तम्, यद्वशाद् भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु सशय उपजायते, यथा—न जाने किमिद भगवदुक्त धर्मास्तिकायादि सत्यम्? उतान्यथा? इति।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८३**

कर लेते हैं। इसीलिए वास्तव में संशय उसे ही समझना चाहिये जो आगम प्रामाण्य के द्वारा भी निवृत्त नहीं होता है। जब संशयशील व्यक्ति अनिर्णय की स्थिति में किसी एक पक्ष पर दुराग्रह कर लेता है तो वह आभिनिवेशिक मिथ्यात्व हो जाता है।

५. विचार व विशेष ज्ञान के अभाव अर्थात् मोह की प्रगाढ़तम अवस्था के कारण सत्यासत्य का विचार ही न हो, उसे अनाभोग मिथ्यात्व कहते है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि क्षुद्रतम जन्तुओं और मूढ़ प्राणियों में पाया जाता है।

मिथ्यात्व के उक्त पाँच भेदों मे से आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक ये दोनों विपर्यास रूप होने से तीव्र क्लेश के कारण है और शेष तीन विपर्यास रूप न होने से तीव्र क्लेश के कारण नही है। इसीलिये आदि के दोनों मिथ्यात्व गुरु—मुख्य और शेष तीन लघु कहलाते है।

मन तथा स्पर्शन, रसन आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देने से तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस, इन छह काय के जीवों का वध—हिंसा करने से अविरति के बारह भेद है। अर्थात् मन को अपने विषयों में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन-अविरति है। इसी प्रकार शरीर, जीभ आदि पाँचों इन्द्रियों की अविरति के बारे मे समझ लेना चाहिये। पृथ्वीकायिक जीवो की हिंसा करना पृथ्वीकाय-अविरति है। इसी प्रकार से जलकायिक आदि त्रसकायिक पर्यन्त छह कायों की अविरति जानना चाहिये।

अविरति के उक्त बारह भेदों में मृषावाद अविरति, अदत्तादान अविरति आदि सभी अविरतियो का समावेश हो जाता है। क्योंकि इन में भी मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों और पृथ्वीकायिक आदि छह जीव निकायो की सूक्ष्म या स्थूल रूप मे हिंसा होती है। अविरति का मूल कारण काषायिक परिणाम है। कषाय के वश

होकर ही मन आदि की स्वच्छन्द प्रवृत्ति और जीवों की हिंसा होते देखी जाती है।

हास्यादि नौ नोकषायों तथा अनन्तानुबधी क्रोध आदि सोलह कषायों को मिलाने से कषाय के पच्चीस भेद है। इनका विस्तृत विवेचन प्रथम कर्मग्रंथ में किया गया है। हास्यादि नौ नोकषायों को कषाय की सहचारी और उत्तेजक होने से कषाय माना है।

योग के पंद्रह भेदो के नाम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन पहले २४ वी गाथा में हो चुका है।

इस प्रकार से ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग ये सब मिलाकर सत्तावन होते है, जो कर्मबध के हेतु है। कर्मबध के हेतुओं के भेद-प्रभेद बतलाने के बाद अब गुणस्थानों मे मूल बध-हेतुओं को कहते है कि 'इगचउपणतिगुणेसु चउतिदुइगपच्चओ बंधो।'

गाथा के उक्त चरण के पहले पाद 'इगचउपणतिगुणेसु' मे गुणस्थानों की सख्या का सकेत किया है कि एक, चार, पाँच और तीन गुणस्थानों में तथा दूसरे पाद 'चउतिदुइगपच्चओ बंधो' मे बधहेतुओं की सख्या बतलाई है कि चार, तीन, दो और एक बधहेतु हैं। इस प्रकार से गुणस्थानो की सख्या के क्रम के साथ बंधहेतुओ की संख्या का क्रम रखने पर यह फलितार्थ निकलेगा कि एक गुणस्थान मे चार बंधहेतु है, चार गुणस्थानो में तीन बधहेतु, पाँच गुणस्थानों मे दो बंधहेतु और तीन गुणस्थानों मे सिर्फ एक बंधहेतु है। इसका विशेष स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मिथ्यात्व, सासादन आदि के क्रम से अयोगिकेवली पर्यन्त चौदह गुणस्थानो के नाम दूसरे कर्मग्रंथ में वतलाये है। यहाँ जो गुणस्थानों में वन्धहेतुओं की संख्या वतलाई है वह पूर्वोक्त गुणस्थानो की क्रमगणना के अनुसार जानना चाहिए अर्थात् एक—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के समय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चारों वन्धहेतु पाये

जाते है। चार—दूसरे सासादन से लेकर पॉचवें देशविरति पर्यन्त चार गुणस्थानों मे मिथ्यात्व के सिवाय शेष तीन—अविरति, कपाय और योग वन्धहेतु हैं। पॉच—छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसपराय पर्यन्त पॉच गुणस्थानो में मिथ्यात्व, अविरति के सिवाय शेष कषाय और योग यह दो वन्धहेतु है। तीन—ग्यारहवे उपशान्तमोह से तेरहवें सयोगिकेवली पर्यन्त तीन गुणस्थानों में सिर्फ एक योग ही वन्धहेतु है। चौदहवे गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाने से वन्ध का एक भी कारण नही रहता है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में मूल वन्धहेतुओ के कथन के वाद अव वन्ध योग्य १२० वन्ध प्रकृतियो के यथासम्भव मूल वन्धहेतुओ का कथन आगे की गाथा में करते है।

चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

शब्दार्थ—चउ—चार, मिच्छ—मिथ्यात्व, मिच्छ अविरइ—मिथ्यात्व और अविरति, पच्चइया—प्रत्यायिकी, साय—साता वेदनीय, सोल—सोलह, पणतीस—पँतीस प्रकृतियाँ, जोग विणु—योग के अलावा, ति—तीन, पच्चइया—प्रात्ययिक, आहारग—आहारकद्विक, जिण—जिन नामकर्म, वज्ज—छोड़कर, सेसाओ—शेप-प्रकृतियाँ।

गाथार्थ—साता वेदनीय का वन्ध चारो हेतुओ से होता है। सोलह प्रकृतियों का वन्व सिर्फ मिथ्यात्व से और पैंतीस प्रकृतियो का वन्ध मिथ्यात्व और अविरति इन दो हेतुओ से होता है। योग के सिवाय तीन हेतुओ से तीर्थकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के अलावा शेप सव प्रकृतियो का वन्ध होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म प्रकृतियों की बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं—ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ६७, गोत्रकर्म की २ और अन्तराय कर्म की ५। ये सब वन्धयोग्य उत्तर प्रकृतियाँ कुल मिलाकर १२० होती हैं। इन एक सौ वीस में से एक सौ सत्रह प्रकृतियों के बन्धहेतुओं का गाथा में सकेत किया गया है कि साता वेदनीय का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारो हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व से सोलह प्रकृतियों का, मिथ्यात्व और अविरति दोनों से पैंतीस प्रकृतियों का, तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो को छोड़कर शेष पैसठ प्रकृतियों का मिथ्यात्व, अविरति, कषाय इन तीन हेतुओं से बन्ध होता है।

सातावेदनीय का बन्ध चतुर्हेतुक कहा गया है यानी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चारों सातावेदनीय के बन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से, छठे आदि पांच गुणस्थानों में कपाय से तथा ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में योग से सातावेदनीय का बन्ध होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानो मे उसके सव मिलाकर चार बन्धहेतु होते है।

मिथ्यात्व से सोलह प्रकृतियों का बन्ध होता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावर चतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नामकर्म), हुंड संस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व मोहनीय।[1] इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वहेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ पहले

---

१ नरयतिग जाइथावरचउ हुडायवछिवट्ठनपुमिच्छ।

—द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा० ४

गुणस्थान में बाँधी जाती है। इनका मिथ्यात्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। मिथ्यात्व हो तभी इन प्रकृतियों का बन्ध होता है और मिथ्यात्व के अभाव में ये नही बंधती है। इसीलिये मिथ्यात्व इनका मुख्य कारण है और बाकी के तीन हेतु गौण है, जिससे इन प्रकृतियों को मिथ्यात्व प्रत्ययिक माना जाता है। मिथ्यात्व का उदय होने से ही पहले गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व और अविरति इन दो बन्धहेतुओं से तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। इनके बन्ध के मिथ्यात्व और अविरति यह दोनों मुख्य कारण है और बाकी के दो गौण। इसीलिए इन दोनों से उनका बन्ध कहा है। क्योंकि जहाँ तक मिथ्यात्व और अविरति हो वहाँ तक इन प्रकृतियों का बन्ध होता है और उनके अभाव में बध का भी अभाव हो जाता है। पहले गुणस्थान मे ये प्रकृतियाँ मिथ्यात्व से और दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानों में अविरति से बांधी जाती है।

मिथ्यात्व-अविरति बधहेतुक पैंतीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार है—

तिर्यंचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम सहनन चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद, वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और औदारिकद्विक।[1]

---

१ ······· ······· ······ मासणि तिरिथीण दुहगतिग।
अणमज्झागिइसघयणचउ निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति॥
········· · ············वइर नरतिग वियकसाया।
उरल दुगतो············ ··॥ —द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा० ४, ५, ६

उक्त १६ और ३५ प्रकृतियो के पूरे नाम द्वितीय कर्मग्रन्थ, पृ० ५५ से ६२ तक मे दिये गये है।

साता वेदनीय, नरकत्रिक आदि सोलह, तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस और तीर्थंकर नामकर्म, आहारकद्विक इन पचपन प्रकृतियो को बंध-योग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से घटा देने पर शेष पैंसठ प्रकृतियाँ (१२०—५५=६५) रह जाती है। इन पैंसठ प्रकृतियों का बंध अविरति, कषाय और योग हेतुक इस अपेक्षा से समझना चाहिए कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानों में अविरति से और छठे आदि पाँच गुणस्थानों में कषाय से होता है।

उक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण यह है कि यह पैंसठ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व से सूक्ष्मसम्पराय पर्यन्त दस गुणस्थानों में यथायोग्य मिथ्यात्व, अविरति और कपाय इन तीन हेतुओं से बधती है। इसलिए इन तीन हेतुओं की मुख्यता है और योग की गौणता। इन तीन हेतुओं के साथ पैंसठ प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ तक यह तीन हेतु होते है वहाँ तक ये प्रकृतियाँ बंधती है और हेतुओ के नहीं रहने पर अगले गुणस्थानो में नही बंधती है। तथापि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व की, दूसरे आदि चार गुणस्थानो मे अविरति की और छठे आदि पाँच गुणस्थानो में कषाय की प्रधानता है और अन्य हेतुओं की अप्रधानता। इस कारण से मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को बंधहेतु कहा है।

मिथ्यात्व के समय अविरति आदि तीन हेतु, अविरति के समय कषाय आदि दो हेतु और कपाय के समय योग रूप हेतु अवश्य रहता है।

ग्यारहवें से तेरहवे गुणस्थान तक सिर्फ योग रहता है और योग के साथ इन प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नही है। इसीलिये योग को ग्रहण नहीं किया गया है।

इस प्रकार से एक सौ सत्रह प्रकृतियों के मूल वन्धहेतुओं का कथन

किया है और तीर्थंकर नामकर्म व आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों के वन्ध के लिये ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका मे संकेत किया है कि—

'आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थंकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः 'सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं' (वृहत्छतक गा० ४५) **इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहित इतीह तद्वर्जनमिति।'**

आहारक शरीर और अहारक अगोपांग—आहारकद्विक तथा तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व और संयमहेतुक है। इसलिये इन तीन प्रकृतियों का यहाँ निषेध किया गया है। अर्थात् आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम इन तीन प्रकृतियों का बन्ध संयम तथा सम्यक्त्व के सद्भाव में होता है। अतः इन तीन प्रकृतियों की गणना कपाय हेतुक प्रकृतियों मे नही की है।

यद्यपि पचसग्रह ४।१६ में—**'सेसाउ कसाएहिं'** पद से तीर्थंकर नाम-कर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के वन्ध को कपाय हेतुक माना है तथा गाथा २०[1] मे सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकर्म का और सयम को आहारकद्विक का विशेप हेतु कहा है। तत्त्वार्थसूत्र ६।१ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे भी इन तीन प्रकृतियों को कपायहेतुक माना है। तथापि यहाँ ग्रन्थकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने इन तीन प्रकृतियों के वन्ध को कपाय हेतुक नही कहा है। जिसका कारण सिर्फ विशेष हेतु दिखाने का जान पड़ता है किन्तु कषाय का निषेव नही। क्योंकि सभी कर्म के प्रकृति और प्रदेश वन्ध में योग की और स्थिति व अनुभाग वन्ध मे कषाय की कारणता सिद्ध है।[2]

वन्धयोग्य १२० उत्तर प्रकृतियो के यथासम्भव मूल वन्धहेतु

---

१ तित्थयराहाराण वन्धे सम्मत्तसजमा हेऊ। —पंचसंग्रह ४।२०

२ उत्तर प्रकृतियो के मूल वन्धहेतुओ तथा तीर्थंकर नाम व आहारकद्विक के वन्धहेतुओ विषयक पचसंग्रह के मतव्य को परिशिष्ट मे देखिये।

बतलाकर अब आगे गुणस्थानों में उत्तर बन्धहेतुओं का सामान्य व विशेष रूप मे वर्णन करते है।

गुणस्थानों में उत्तर बन्धहेतुओं का वर्णन

पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

शब्दार्थ—**पणपन्न**—पचपन, **पन्न**—पचास, **तियछहिय चत्त**—तेतालीस, छियालीस, **गुणचत्त**—उनतालीस, **छचउदुगवीसा**—छब्बीस, चौबीस, बाईस, **सोलस**—सोलह, **दस**—दस, **नव**—नौ, **नव**—नौ, **सत्त**—सात, **हेउणो**—बधहेतु (है), **न**—नही, **उ**—और, **अजोगिम्मि**—अयोगिकेवली मे।

गाथार्थ—अनुक्रम से तेरह गुणस्थानों में पचपन, पचास, तेतालीस, छियालीस, उनतालीस, छब्बीस, चौबीस, बाईस, सोलह, दस, नौ, नौ और सात उत्तर बन्धहेतु जानना चाहिये और अयोगिकेवली गुणस्थान मे बन्धहेतु नही है।

विशेषार्थ—गाथा ५१, ५२ में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार मूल बन्धहेतुओं के क्रमशः ५, १२, २५, १५ कुल मिलाकर ५७ भेद कहे है। यहाँ गाथा में प्रत्येक गुणस्थान मे उनमें से कितने-कितने होते हैं इसकी सख्या का संकेत किया है। ग्रंथलाघव की दृष्टि से चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान की विशेषता बतलाते हुए कि उसमें कोई बन्धहेतु नही है, के साथ अन्य गुणस्थानो के नाम अथवा क्रम सख्या का उल्लेख नही करके बन्धहेतुओं की सख्या का निर्देश किया है। जिसको अनुक्रम से प्रत्येक गुणस्थान के समक्ष रखने से उस गुणस्थान के बन्धहेतुओं की संख्या ज्ञात हो जाती है।

गुणस्थानों के नाम और उनमे से प्रत्येक गुणस्थान के बन्धहेतुओं की संख्या इस प्रकार है—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ५५ बन्धहेतु हैं। दूसरे सासादन में ५०, तीसरे मिश्र मे ४३, चौथे अविरति में ४६,

पाचवें देशविरति में ३९, छठे प्रमत्तसंयत में २६, सातवे अप्रमत्तसंयत मे २४, आठवे अपूर्वकरण में २२, नौवे अनिवृत्तवादर में १६, दसवे सूक्ष्मसम्पराय में १०, ग्यारहवे उपशान्त मोह व बारहवे क्षीणमोह में नौ-नौ तथा तेरहवें सयोगिकेवली में ७ वन्धहेतु हैं। चौदहवे अयोगि-केवली गुणस्थान में वन्धहेतु नहीं है।

अव आगे की चार गाथाओं मे प्रत्येक गुणस्थान के वन्धहेतुओं की संख्या को कारण सहित स्पष्ट करते है।

पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसविकसाए।
मुत्तु गुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥
अछहास सोल बायरि सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥५८॥

शब्दार्थ—पणपन्न—पचपन, मिच्छि—मिथ्यात्व गुणस्थान मे, हारगदुग—आहारकद्विक, ऊण—हीन, रहित, सासाणि—सासादन गुणस्थान मे, पन्न—पचास, मिच्छ विणा—पाच मिथ्यात्वो के बिना, मिस्सदुग—मिश्रद्विक (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र), कम्म—कार्मण काययोग, अण—अनतानुवंधी, विणु—विना, तिचत्त—तेतालीस, मीसे—मिश्र गुणस्थान मे, अह—और, छचत्ता—छियालीस।

स—सहित, दुमिस्स—मिश्रद्विक (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र), कम्म—कार्मण योग, अजए—अविरति गुणस्थान मे, अविरइ—अवि-रतित्व, कम्म—कार्मण योग, उरलमीस—औदारिकमिश्र, विकसाए—दूसरी कषाय (अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क), मुत्तु—[illegible] गुणचत्त—उनतालीस, देसे—देशविरति गुणस्थान मे, छव

छव्वीस, **साहारदु**—आहारकद्विक सहित, **पमत्ते**—प्रमत्त गुण-स्थान मे।

अविरइ—अविरति, **इगार**—ग्यारह, **तिकसाय**—तीसरी कषाय (प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क), **वज्ज**—रहित, **अपमत्ति**—अप्रमत्त गुणस्थान मे, **मीसदुग**—मिश्रद्विक (वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र), **रहिया**—रहित, **चउवीस**—चौवीस, **अपुव्वे**—अपूर्वकरण गुणस्थान मे, **पुण**—तथा, **दुवीस**—बाईस, **अविउव्वियाहारा**—वैक्रिय और आहारक के बिना।

अछहास—हास्यादि छह के बिना, **सोल**—सोलह, **बायरि**—बादरसम्पराय मे, **सुहुमे**—सूक्ष्मसम्पराय मे, **वेद**—तीन वेद, **संजलणति**—सज्वलनत्रिक (क्रोध, मान, माया) **विणा**—बिना, **खीणुवसंति**—क्षीणमोह व उपशातमोह मे, **अलोभा**—लोभ के बिना, **सजोगि**—सयोगिकेवली गुणस्थान मे, **पुव्वुत्त**—पूर्वोक्त, **सग**—सात, **जोगा**—योग।

गाथार्थ—आहारकद्विक के बिना पचपन बन्धहेतु मिथ्यात्व गुणस्थान में है। सासादन गुणस्थान में पाँच मिथ्यात्व के सिवाय पचास, मिश्र गुणस्थान में औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र, कार्मण और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात को छोड़कर तेतालीस बन्धहेतु है।

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पूर्वोक्त तेतालीस मे कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र इन तीन को मिलाने से कुल छियालीस, देशविरति गुणस्थान मे कार्मण, औदारिकमिश्र, त्रस अविरति और अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन सात के सिवाय शेष उनतालीस बन्धहेतु है। प्रमत्त गुणस्थान में पूर्वोक्त उनतालीस मे से ग्यारह अविरतियाँ, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन पन्द्रह को छोड़कर तथा आहारकद्विक को मिलाने से कुल छब्बीस बन्ध-हेतु है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पूर्वोक्त छब्बीस मे से मिश्र-द्विक (वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र) के सिवाय शेष चौवीस वन्धहेतु है। अपूर्वकरण गुणस्थान में वैक्रिय और आहारक योग को छोड़कर वाईस हेतु हैं।

पूर्वोक्त वाईस मे से अनिवृतिवादर गुणस्थान में हास्यादिषट्क के सिवाय शेष सोलह, सूक्ष्मसम्पराय में तीन वेद और तीन संज्वलन कषाय (क्रोध, मान, माया) के सिवाय दस हेतु है। उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह गुणस्थानों में संज्वलन लोभ के सिवाय नौ हेतु तथा सयोगिकेवली गुणस्थान मे सात योग रूप वन्धहेतु है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे प्रत्येक गुणस्थान के वन्धहेतुओ की संख्या वतलाई गई है और इन चार गाथाओं में प्रत्येक गुणस्थान के वन्धहेतुओं की संख्या को कारण सहित स्पष्ट किया है।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में वन्धहेतुओं की संख्या पचपन है। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'पणपन्न मिच्छि हारग-दुगूण' आहारकद्विक (आहारक और आहारकमिश्र काययोग) के सिवाय शेप पचपन वन्धहेतु मिथ्यात्व गुणस्थान में पाये जाते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में संयम का अभाव है और आहारकद्विक संयम-सापेक्ष हैं। इसीलिए इसमें आहारकद्विक नही होने से शेप पचपन वन्धहेतु होते है।

दूसरे सासादन गुणस्थान मे पचास वन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है। इसलिए पाँच मिथ्यात्वों को कम करने से शेप पचास हेतु दूसरे गुण-स्थान में कहे हैं—सासाणि पन्न मिच्छ विणा।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे तेतालीस वन्ध हेतु हैं। क्योंकि अनन्ता-नुवन्धी चतुष्क का उदय दूसरे गुणस्थान तक होने से तीसरे गुणस्थान

में नहीं हैं तथा इस गुणस्थान के समय मृत्यु न होने के कारण अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग भी नहीं होते हैं।[1] इस प्रकार से दूसरे गुणस्थान के पचास बन्धहेतुओ में से सात बन्धहेतु घट जाने से शेष तेतालीस बन्धहेतु तीसरे गुणस्थान मे रहते है।

चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे छियालीस बन्धहेतु है। चौथा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था मे भी पाया जाता है, अतएव इसमे अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र यह तीन योग सम्भव है। जिससे तीसरे गुणस्थान सम्बन्धी तेतालीस हेतुओं में इन तीन को मिलाने से कुल छियालीस बन्धहेतु चौथे गुणस्थान में समझना चाहिए।[2]

पाँचवें देशविरति गुणस्थान में उनतालीस बन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान पर्याप्त अवस्थाभावी है अतः अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग नहीं होते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होता है, आगे नही, इस कारण वह पाँचवे गुणस्थान में नही पाया जाता है तथा पाँचवां गुणस्थान देशविरति रूप (एकदेश संयम रूप) होने से इसमें त्रस हिसा का त्याग होने पर त्रस अविरति तो नहीं है। इस तरह चौथे गुणस्थान सम्बन्धी छियालीस बन्ध-

---

१ 'न सम्ममिच्छो कुणइ काल' इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावाद् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विक कार्मण च न सम्भवति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ-स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

२ अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विक कार्मण च पूर्वोक्ताया त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

हेतुओं में से कार्मण, औदारिकमिश्र, अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क और त्रस अविरति इन सात हेतुओं को कम करने से पाँचवे गुणस्थान मे उनतालीस वन्धहेतु रहते है।

त्रसहिंसारूप त्रसकाय अविरति को देशविरति गुणस्थान के वंधहेतुओं मे नही मानने पर प्रश्न होता है कि त्रस अविरति को मात्र सकल्प से त्यागा जा सकता है, आरम्भ से नही, तो यहाँ त्रस-अविरति का त्याग कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ के अशक्य परिहार होने से आरम्भ से त्रस अविरति होने पर भी वह अल्प है, अतः उसकी यहाँ विवक्षा नही की है।[1]

देशविरति गुणस्थान के उनतालीस बंधहेतुओं में जो वैक्रियमिश्र काययोग शामिल है, वह अपर्याप्त अवस्थाभावी नही किन्तु वैक्रिय-लब्धिजन्य है जो पर्याप्त अवस्था में ही होता है।

छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे छब्बीस बंधहेतु हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान सर्वविरतिरूप होने से शेष ग्यारह अविरतियाँ नही रहती है तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदय पाँचवे गुणस्थान तक होने से पाँचवे गुणस्थान सम्बन्धी उनतालीस बंधहेतुओं मे से पद्रह (११+४) घटा देने पर शेप चौबीस रहते है। किन्तु इस गुण-स्थान मे चतुर्दश पूर्वधारी मुनि के आहारकलब्धि के प्रयोग द्वारा आहारक शरीर की रचना के समय आहारकद्विक का उदय सम्भव होने से उक्त चौबीस हेतुओं के साथ आहारकद्विक योग को मिलाने पर कुल छब्बीस हेतु छठे गुणस्थान मे होते हैं।

सातवे अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे चौबीस बंधहेतु है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए गाथा मे सकेत किया है—'मीसदुग रहिया'

---

१ गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोष.।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

यानी इस गुणस्थान में वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र यह दो योग नहीं होते हैं। क्योंकि वैक्रियमिश्र योग वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय तथा आहारकमिश्र आहारक शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय होता है और उस समय प्रमत्तभाव होने के कारण सातवां गुणस्थान नही होता है। इसलिये छठे गुणस्थान के छब्बीस बंधहेतुओं में से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र इन दो योगों को कम करने पर सातवे गुणस्थान मे चौबीस बंधहेतु है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में बाईस बंधहेतु हैं। इस गुणस्थान मे वैक्रिय और आहारक यह दो काययोग नही होते है। इन दोनों योगो के न होने का कारण यह है कि वैक्रिय शरीर वाले को वैक्रिय काययोग और आहारक शरीर वाले को आहारक काययोग होता है और ये शरीर वाले अधिक से अधिक सातवे गुणस्थान के ही अधिकारी होते है, आगे के गुणस्थानों के नही। इस कारण से सातवे गुणस्थान के चौबीस बंधहेतुओं मे से इन दो योगों को नहीं गिनने पर आठवें गुणस्थान में बाईस बंधहेतु होते है।

नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे सोलह बधहेतु है। इस गुणस्थान में हास्यषट्क का उदय नही होता है। क्योंकि हास्यषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—का उदय आठवे गुणस्थान तक सम्भव है। इसलिये आठवें गुणस्थान के बाईस वधहेतुओ में से हास्यषट्क को कम करने पर शेष सोलह वन्धहेतु नौवे गुणस्थान में होते है—अछहास सोल बायरि।

दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में दस बंधहेतु है—'सुहुमे दस वेय-संजलणति विणा' यानी वेदत्रिक—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद और सज्वलनत्रिक—क्रोध, मान, माया इनका उदय नौवे गुणस्थान तक होने से इन छह को नौवें गुणस्थान के सोलह हेतुओं मे से कम करने पर शेप दस वन्धहेतु दसवें गुणस्थान में माने जाते है।

ग्यारहवे उपशांतमोह और बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान में नौ-नौ बंधहेतु है। क्योंकि सज्वलन लोभ का उदय दसवे गुणस्थान तक ही रहता है। इसलिये संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान के बंधहेतुओं मे से कम करने पर शेष नौ हेतु ग्यारहवे और बारहवें गुणस्थान में पाये जाते है। उन नौ हेतुओं के नाम यह है—मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और एक औदारिक काययोग।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान मे सात बंधहेतु है। जिनके नाम यह है—सत्य मनोयोग, असत्यामृपा मनोयोग, सत्य वचनयोग, असत्या-मृपा वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग। मनोयोगद्विक किसी के द्वारा मन से पूछे गये प्रश्न का मन द्वारा उत्तर देने के समय, वचनयोगद्विक देशना के समय तथा औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था मे तथा केवली समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे औदारिकमिश्र काययोग और तीसरे, चौथे, पाँचवे समय मे कार्मण काययोग पाया जाता है। इसलिये तेरहवे गुणस्थान मे सात बंधहेतु माने हैं। चौदहवे अयोगि-केवली गुणस्थान मे योग का अभाव होने मे बंधहेतु का सर्वथा अभाव कहा है।

यहाँ चौदह गुणस्थानो में सामान्य से सभी जीवों की अपेक्षा से उत्तर बन्धहेतु बतलाये है किन्तु एक जीव की अपेक्षा विचार करे तो इनके ४७१३०१० भग होते हैं। इनमे से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे ३४७७६००, सासादन गुणस्थान मे ३८३०४०, मिश्र गुणस्थान मे ३०२४००, अविरति गुणस्थान मे ३८३०४०, देशविरति गुणस्थान में १६३६८०, प्रमत्तसयत गुणस्थान मे ११८४, अप्रमत्तसंयत में १०२४. अपूर्वकरण मे ८६४, अनिवृत्तिबादर में १४८, सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान मे ९, उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में ९, और सयोगि

केवली गुणस्थान में ७ भंग होते है। अयोगिकेवली गुणस्थान में हेतु न होने से कोई भंग नही होता है।

ये सब मिलाकर चौदह गुणस्थानों मे ४७१३०१० भंग होते है, जो बंधहेतुओं का अपेक्षाभेद से आपस में गुणा करने से बनते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानों में बंधहेतुओं का कथन किया गया। अब आगे की गाथा में गुणस्थान में बंध का निरूपण करते हैं।

गुणस्थान में बंध

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीस अप्पुव्वबायरा सत्त।
बंधइ छ स्सुहमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥५६॥

शब्दार्थ—**अपमत्तंता**—अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त, **सत्तट्ठ**—सात या आठ, **मीस**—मिश्र गुणस्थान वाला, **अप्पुव्व**—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, **बायरा**—बादर संपराय गुणस्थान वाला, **सत्त**—सात कर्म, **बंधइ**—बाँधता है, **छ**—छह, **स्सुहमो**—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, **एगं**—एक, **उवरिम**—ऊपर के गुणस्थान वाले, **अबंधगा**—अबन्धक, **अजोगी**—अयोगि गुणस्थान वाला।

गाथार्थ—अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सात अथवा आठ कर्मों का बंध होता है। मिश्र, अपूर्वकरण और बादरसंपराय गुणस्थान वाले सात कर्मो का, सूक्ष्म संपराय गुणस्थान वाले छह कर्मो का बध करते हैं। पूर्वोक्त गुणस्थानों के सिवाय शेष ऊपर के (११, १२, १३) गुणस्थान वाले एक कर्म को बाँधते है और अयोगिकेवली गुणस्थान अवन्धक है।

विशेषार्थ—कारण के रहने पर कार्य अवश्य होता है। अतएव गुणस्थानों मे कर्मबंध के कारणों को बतलाने के पश्चात् यहाँ कर्म प्रकृतियों के बंध को स्पष्ट किया गया है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमें से 'अपमत्तंता सत्तट्ठ' अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मों का

वंध होता है। अर्थात् तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोड़कर[1] पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवे अप्रमत्तविरत गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मो का बंध होता है। सात अथवा आठ कर्मो का वंघ मानने का कारण यह है कि आयुकर्म का वंध होने के समय तो आठ कर्मो का और उसका वन्ध न होने के समय सात कर्मो का वंध समझना चाहिए। आयुकर्म के सदैव वन्ध न होने के कारण को पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान जीवन के तीसरे, नौवे, सत्ताईसवें भाग के प्रथम समय मे अथवा जव इस समय मे भी परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध न किया जा सके तो वर्तमान आयु के अन्तर्मुहूर्त शेप रहने पर अवश्य ही परभव की आयु का वन्ध हो जाता है। आयुकर्म के वन्ध की इसी विशेपता के कारण पहले से सातवे गुणस्थान तक सात या आठ कर्मो का वन्ध होना माना है।

तीसरे मिश्र, आठवे अपूर्वकरण और नौवे अनिवृत्तिवादर गुणस्थान—इन तीन गुणस्थानो में सात कर्मो का वन्ध होता है—मीस-अपुव्ववायरा सत्त। इन तीन गुणस्थानो मे आयुकर्म के सिवाय शेप सात कर्मो का वन्ध होता है और आयुकर्म के वन्ध न होने का कारण यह है कि आठवे, नौवे गुणस्थान में परिणाम इतने विशुद्ध हो जाते

---

१ मिश्र गुणस्थान को छोड़ने का कारण यह है कि—

'न सम्ममिच्छो कुणइ काल'—मिश्र गुणस्थान मे मरण नही होता है। गो० जीवकाड गाथा २३ मे तीसरे गुणस्थान की विशेपताओं को इस प्रकार वताया है—

सो सजमं ण गिण्हदि देसजम वा ण वधदे आऊ।
सम्म वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥

—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सयम ग्रहण नही करता है। आयुकर्म का वंध नही करता है और नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व को प्राप्त करके ही मरण करता है। किन्तु इस गुणस्थान मे मरण नही होता है

हैं कि जिससे उनमें आयु बंध योग्य परिणाम ही नही रहते है और तीसरे गुणस्थान में आयुकर्म के बन्ध न होने का कारण उसकी स्वभावगत विशेषता है, जिससे उसमें आयु का बन्ध नही हो पाता है।

दसवे सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे मोहनीय और आयु इन दो कर्मो का बन्ध न होने से छह कर्मो का बन्ध होता है। क्योकि इस गुणस्थान में परिणामों के अति विशुद्ध हो जाने से आयु का वन्ध और बादर कषायोदय न होने से मोहनीय कर्म का बन्ध वर्जित किया है।[1]

इस प्रकार से एक से लेकर दस गुणस्थान तक कर्मबन्ध को बतलाने के बाद शेष चार गुणस्थानों के बन्ध का कथन दो विभाग करके किया गया है। पहला विभाग योग वाले ग्यारह, बारह और तेरह इन तीन गुणस्थानो का किया है और दूसरा विभाग योगातीत चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान का। जिस गुणस्थान तक एक भी कर्मबन्ध का हेतु है उस तक अवश्य ही कर्म का बंध होता है। इसलिए ग्यारह, बारह और तेरह इन तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय इन बंधहेतुओं के क्षय हो जाने से सिर्फ योग यह एक कर्मबध का हेतु रहता है। जिससे इन तीन गुणस्थानों में कषायोदय सर्वथा न होने से अन्य प्रकृतियो का बंध असम्भव है किन्तु योग द्वारा वंधयोग्य एक—सातावेदनीय कर्म का बध होता है। जिसका संकेत गाथा में 'एगमुवरिम' पद से किया गया है। चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में बंधहेतुओं का सर्वथा अभाव होने से किसी भी कर्म का वंध नही होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवे, छठे

---

१ सूक्ष्मसम्परायो मोहनीयायुर्वर्जनानि षट् कर्माणि वध्नाति, मोहनीयवंधस्य वादरकपायोदयनिमित्तत्वात्, तस्य च तदभावात्, आयुर्वन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेय। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८७

और सातवे गुणस्थान में सात अथवा आठ कर्मों का, तीसरे, आठवे, नौवें गुणस्थान मे सात कर्मो का, दसवे गुणस्थान मे छह कर्मो का, ग्यारहवे, वारहवें, तेरहवे गुणस्थान मे एक कर्म का वंध होता है और चौदहवें गुणस्थान में वधहेतु न रहने से किसी भी कर्म का वध नहीं होता है, चौदहवाँ गुणस्थान वधातीत है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे कर्मवध का कथन करने के वाद आगे की गाथा मे सत्ता और उदय को वतलाते है।

गुणस्थानों में सत्ता और उदय

आसुहमं संतुदए अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ सते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

शब्दार्थ—आसुहमं—सूक्ष्मसपराय गुणस्थान पर्यन्त, संतुदए—सत्ता तथा उदय मे, अट्ठ—आठो कर्म, वि—और, मोहविणु—मोहनीय कर्म के सिवाय, सत्त—सात कर्म, खीणम्मि—क्षीणमोह गुणस्थान मे, चउ—चार प्रकृतिया, चरिमदुगे—अतिम दो गुणस्थानो मे, अट्ठ—आठ, उ—तथा, संते—सत्ता मे, उवसति—उपशात-मोह गुणस्थान मे, सत्तुदए—सात प्रकृतियो का उदय।

गाथार्थ—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक सत्ता और उदय में आठो कर्म प्रकृतियाँ होती है। मोहनीय कर्म के सिवाय सात कर्म प्रकृतियाँ क्षीणमोह गुणस्थान मे सत्ता व उदय मे है। अतिम दो गुणस्थान मे चार कर्म प्रकृतियाँ सत्ता व उदय मे होती है और उपशातमोह गुणस्थान मे आठ कर्म प्रकृतियाँ सत्ता मे एवं सात कर्म प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे चौदह गुणस्थानो मे से प्रत्येक गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो की सत्ता और उदय को वतलाया है कि—

'आसुहमं संतुदए अट्ठ' सूक्ष्मसपराय नामक दसवे गुणस्थान तक ज्ञानावरण आदि आठों कर्म सत्तागत भी है और उदयमान भी।

बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से मोहनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मो की सत्ता और उदय माना है।

अन्त के दो गुणस्थानों—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घाति कर्मो का क्षय हो जाने से सिर्फ चार अघाति कर्म—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र सत्तागत और उदयमान रहते है। इसीलिये इन दोनों गुणस्थानों में चार कर्मो की सत्ता और उदय माना है।

ग्यारहवें उपशातमोह गुणस्थान की यह विशेषता है कि इसमे मोहनीय कर्म सत्तागत है किन्तु उदयमान नही। इसीलिये शेष तेरह गुणस्थानों मे कर्मो की सत्ता और उदय को बतलाने के पश्चात् ग्यारहवें गुणस्थान में सत्ता व उदय बतलाने के लिये गाथा मे कहा है—'अट्ठ उ संते उवसति सत्तुदए' ग्यारहवे उपशांतमोह गुणस्थान मे सत्ता तो आठों कर्मो की है किन्तु उदय सात कर्मो का। अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान में आठ कर्मो की सत्ता और सात कर्मो का उदय होता है।

सारांश यह है कि पहले ग्यारह गुणस्थानों में आठ कर्मो का, बारहवें में सात का और तेरहवे, चौदहवे में चार का सत्तास्थान है। लेकिन उदयस्थान पहले दस गुणस्थानों में आठ का, ग्यारहवे, बारहवे मे सात का और तेरहवे, चौदहवें मे चार का है।

इस प्रकार से गुणस्थानों मे कर्मो की सत्ता और उदयस्थानों का कथन करने के पश्चात आगे गुणस्थानों में उदीरणा का निरूपण करते है।

गुणस्थानों में उदीरणा तथा अल्पबहुत्व

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा।
छग अपमत्ताइ तओ छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥

शब्दार्थ—**उइरंति**—उदीरणा करते है, **पमत्तंता**—प्रमत्त गुणस्थान तक, **सगट्ठ**—सात अथवा आठ, **मीस**—मिश्र गुणस्थान वाला, **अट्ठ**—आठ, **वेय**—वेदनीय कर्म, **आउ**—आयु कर्म, **विणा**—रहित, विना, **छग**—छहकर्म की, **अपमत्ताइ**—अप्रमत्त आदि तीन गुणस्थान वाले, **तओ**—तदनन्तर, उसके वाद, **छ**—छह, **पंच**—पाच, **सुहुमो**—सूक्ष्मसम्पराय वाला, **पण**—पाच, **उवसतो**—उपशातमोह वाला ।

गाथार्थ—प्रमत्त गुणस्थान तक के जीव सात अथवा आठ कर्म की उदीरणा करते है । मिश्र गुणस्थान वाला आठ कर्म की, अप्रमत्त आदि तीन गुणस्थान वाले वेदनीय और आयु के विना छह कर्म की और उसके वाद सूक्ष्मसम्पराय वाला छह अथवा पाच की और उपशान्तमोह वाला पाच कर्म की उदीरणा करता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा मे पहले से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक कर्मो की उदीरणा का कथन किया है । गुणस्थानों मे कर्मो की उदीरणा का विचार समझने के लिये यह ध्यान रखना चाहिये कि उदयमान कर्म की ही उदीरणा होती है, अनुदयमान की नही तथा जव उदयमान कर्म की स्थिति आवलिका प्रमाण शेप रहती है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है ।[1]

अव गुणस्थानो में कर्मो की उदीरणा का विचार करते है कि 'उइरति पमत्तंता सगट्ठ'—तीसरे मिश्र गुणस्थान मे कर्मो की उदीरणा का अलग से कथन किया गया है, अतः तीसरे गुणस्थान को छोडकर पहले मिथ्यात्व से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त पाच गुणस्थानो मे सात अथवा आठ कर्मो की उदीरणा होती है । सात अथवा आठ कर्मो की उदीरणा मानने का कारण यह है कि आयुकर्म की

---

१ आवलिकावशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात् तथास्वाभाव्यात् ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

उदीरणा न होने के समय सात कर्म की और होने पर आठ कर्म की उदीरणा समझना चाहिये।[1] आयुकर्म की उदीरणा उस समय रुक जाती है जिस समय वर्तमान भव की आयु आवलिका प्रमाण शेष रहती है। यद्यपि वर्तमान भव की आयु के आवलिका मात्र वाकी रहने के समय परभव सम्बन्धी आयु की स्थिति आवलिका से अधिक रहती है किन्तु उसके अनुदयमान होने से उसकी उदीरणा नही होती है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आठ कर्म की उदीरणा मानी जाती है—'मीसट्ठ।' क्योंकि इस गुणस्थान मे मृत्यु नही होती है। इसलिये आयु की अन्तिम आवलिका मे जबकि उदीरणा रुक जाती है, यह गुणस्थान सम्भव नहीं है। जिससे आठ कर्मो की उदीरणा मानी जाती है।[2]

'छग अपमत्ताइ'—अप्रमत्तसयत आदि तीन गुणस्थानों यानी सातवे, आठवें और नौवें गुणस्थान में छह कर्मो की उदीरणा होती है। अनुदीर्ण कर्म है—वेदनीय और आयु। इन तीन गुणस्थानों में अति विशुद्ध अध्यवसाय होने के कारण उदीरणायोग्य आवश्यक अध्यवसायों का अभाव होने से वेदनीय और आयुकर्म की उदीरणा नही होती है।[3]

दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान मे छह अथवा पाँच कर्मो की उदी-

---

१ मिथ्यादृष्टिप्रभृतय प्रमत्तान्ता यावद् अद्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेष न भवति तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति। आवलिकावशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्तैव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

२ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

३ तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

रणा होती है—'छ पंच सुहुमो'—वेदनीय और आयुकर्म की उदीरणा न होने के समय छह कर्म की और उक्त दो के साथ मोहनीय कर्म की भी उदीरणा न होने के समय पांच की समझना चाहिये। दसवे गुणस्थान की अन्तिम आवलिका मे मोहनीय कर्म की उदीरणा रुक जाती है। इसलिये उस समय उसकी स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है।

ग्यारहवे उपशान्तमोह गुणस्थान मे वेदनीय, मोहनीय और आयु इन तीन कर्मों की उदीरणा न होने के कारण पॉच की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान मे मोहनीय की उदीरणा का निषेध इसलिये किया है कि 'वेद्यमानमेवोदीर्यते'—उदयप्राप्त कर्म की ही उदीरणा होती है तथा अति विशुद्ध परिणाम होने से वेदनीय और आयु कर्म की भी उदीरणा सम्भव नही है।

इस प्रकार से एक से ग्यारह गुणस्थान तक उदीरणा बतलाकर अब आगे की दो गाथाओ मे बारह, तेरह और चौदह इन तीन गुणस्थानों मे उदीरणा और गुणस्थानों मे अल्पबहुत्व का कथन करते है।

पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमा नियट्टिअपुव्व सम अहिया ॥६२॥
जोगि अपमत्त इयरे संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥

शब्दार्थ—पण दो—पाच तथा दो, खीण—क्षीणमोह गुणस्थान वाला, दु—दो, जोगी—सयोगिकेवली गुणस्थान वाला, अणुदीरगु—अनुदीरक, अजोगी—अयोगिकेवली, थेव—थोड़ा, अल्प, उवसंता—उपशातमोह गुणस्थान वाले, संखगुण—सख्यातगुणा, खीण—क्षीणमोह वाले, सुहुम—सूक्ष्मसम्पराय वाले, अनियट्टि—

अनिवृत्तिवादर वाले, **अपुव्व**—अपूर्वकरण वाले, **सम**—समान, **अहिया**—अधिक (विशेपाधिक)।

जोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान वाले, **अपमत्त**—अप्रमत्त गुणस्थान वाले, **इयरे**—इतर, प्रमत्त गुणस्थान वाले, **संखगुण**—संख्यातगुणा, **देश**—देशविरति वाले, **सासणा**—सासादन गुणस्थान वाले, **मीसा**—मिश्र गुणस्थान वाले, **अविरय**—अविरति गुणस्थान वाले, **अजोगि**—अयोगिकेवली गुणस्थान वाले, **मिच्छा**—मिथ्यात्व गुणस्थान वाले, **असख**—असंख्यातगुणा, **चउरो**—चार, **दुवे**—दो, **णंता**—अनतगुणा।

गाथार्थ—क्षीणमोह गुणस्थान वाले पांच अथवा दो कर्म की, सयोगिकेवली दो कर्म की उदीरणा करते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थान अनुदीरक है।

उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती जीव सबसे थोड़े है, क्षीणमोह गुणस्थान वाले संख्यातगुणे तथा सूक्ष्मसम्पराय, अनिवृत्तिबादर और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती आपस में तुल्य तथा क्षीणमोह गुणस्थान वालो से विशेषाधिक है।

सयोगिकेवली, अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थान वाले संख्यातगुणे है। देशविरति, सासादन, मिश्र और अविरति यह चार गुणस्थान वाले असंख्यातगुणे तथा अयोगिकेवली और मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती यह दो अनन्तगुणे है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में पूर्व गाथा में वताये गये गुणस्थानों से शेष रहे वारह, तेरह और चौदह इन तीन गुणस्थानों मे उदीरणा का कथन करने के वाद चौदह गणस्थानों के अल्पवहुत्व का निरूपण किया है।

वारहवें गुणस्थान में कर्मो की उदीरणा के लिये कहा है—'पण दो खीण' यानी क्षीणमोह गुणस्थान मे पाँच या दो की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान मे आयु, वेदनीय और मोहनीय इन तीन के

सिवाय शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अंतराय इन पाँच कर्मों की उदीरणा होती रहती है लेकिन अंतिम आवलिका में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय की स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है तब उनकी उदीरणा रुक जाती है और शेष नाम व गोत्र दो की उदीरणा सम्भव है। इसीलिये बारहवें गुणस्थान मे पाँच अथवा दो कर्म की उदीरणा होने का कथन किया है।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में सिर्फ नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा मानी है। इसका कारण यह है कि इस गुणस्थान में चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर चार अघाती कर्म शेष रहते है और इन चार कर्मो मे भी आयु व वेदनीय कर्म की उदीरणा तो बारहवें गुणस्थान से ही रुकी हुई है। इसीलिये उनके कम करने पर इस गुणस्थान मे दो कर्मों की उदीरणा मानी गई है।

चौदहवाँ गुणस्थान अनुदीरक है यानी किसी भी कर्म की उदीरणा नही होती है। क्योंकि योग के सद्भाव मे ही उदीरणा हो सकती है और इस गुणस्थान में योग का अभाव होने से उदीरणा का भी अभाव है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थान में आठ कर्मों की ही उदीरणा होती है। पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे इन पाँच गुणस्थानों मे सात या आठ कर्मों की, सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान की एक आवलिका शेष रहे तब तक छह की और दसवे की अंतिम आवलिका से बारहवे गुणस्थान की अंतिम आवलिका के शेष रहने तक पाँच की और बारहवे की चरम आवलिका से तेरहवें गुणस्थान के अंत तक दो कर्मों की उदीरणा होती है। चौदहवाँ गुणस्थान योग के अभाव के कारण उदीरणा से रहित है।

गुणस्थानो मे उदीरणा का कथन कर अब अल्पबहुत्व बतलाते है,

गुणस्थानों में अल्पबहुत्व

गुणस्थानों में अल्पवहुत्व को बतलाते हुए सबसे पहले कहा है कि 'थेव उवसंता'—यानी ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थान वालों से अल्प हैं। क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समय में उस अवस्था को पाने वाले) चौवन और पूर्व प्रतिपन्न (किसी विवक्षित समय के पहले उस अवस्था को पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते है।[1]

बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान वाले, ग्यारहवे गुणस्थान वालों से संख्यातगुणे हैं। क्योंकि बारहवे गुणस्थान वाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एकसौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) पाये जाते हैं।

ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशमश्रेणि का और बारहवां गुणस्थान क्षपकश्रेणि का है और उपशम श्रेणि के प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौवन और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणि के प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एकसौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व माने गये है। इसीलिये ग्यारहवें गुणस्थान वाले अल्प और बारहवें गुणस्थान वाले सख्यातगुणे माने गये है।

दसवे सूक्ष्मसपराय, नौवें अनिवृत्तिवादर और आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान वाले उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों में पाये जाते है। इसलिये ये तीनो गुणस्थान वाले जीव आपस मे समान है किन्तु बारहवे गुणस्थान वालों की अपेक्षा विशेपाधिक है।

तेरहवे सयोगिकेवली गुणस्थान वाले आठवे गुणस्थान वालों

---

१ उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवा, यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्पतोऽपि चतु'पंचाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

लेकिन सिद्ध (अभवस्थ अयोगि) अनंत है। इसीलिये अयोगिकेवलियो को चौथे गुणस्थान वालों से अनन्तगुणा कहा है।[1]

चौदहवे गुणस्थान वालों से भी पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले अनन्तगुणे हैं। क्योंकि साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि है। इसी से मिथ्यादृष्टि वाले जीव चौदहवें गुणस्थान वालों से अनन्तगुणे कहे हैं।

ऊपर कहा गया अल्पबहुत्व उत्कृष्ट संख्या की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि जघन्य सख्या के समय जीवों का प्रमाण उपर्युक्त अल्पबहुत्व के विपरीत भी हो जाता है। जैसे कि कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवे गुणस्थान वालो से अधिक भी हो जाते है।

पहला, चौथा, पाचवां, छठा, सातवां और तेरहवां ये छह गुणस्थान सदा पाये जाते हैं और शेष आठ गुणस्थान—दूसरा, तीसरा, आठवां, नौवां, दसवां, ग्यारहवां, बारहवां और चौदहवां कभी पाये जाते है और कभी नही भी पाये जाते है। तब भी उनमें वर्तमान जीवों की संख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है।

गुणस्थानों मे जीवस्थान आदि का विवरण पृष्ठ ३२१ की तालिका में दिया गया है।

इस प्रकार से गुणस्थानों मे अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब गुणस्थानों के वर्ण्य विषयों में से भावों का वर्णन करते है। सर्वप्रथम भावों के नाम और उनके भेदों को वतलाते हैं।

भावों के नाम और भेद

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरणं पढम भावे ॥६४॥

---

१ तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्।   —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि अल्पबहुत्व पर्यन्त का विवरण

क्रम संख्या	गुणस्थान	जीवस्थान	योग	उपयोग	लेश्या	मूलबंधहेतु	उत्तरबंधहेतु	मिथ्यात्व	अविरति	कषाय	योग	बंध प्रकृति	उदय प्रकृति	उदीरणा प्रकृति	सत्ता प्रकृति	अल्पबहुत्व
१.	मिथ्यात्व	१४	१३	५	६	४	५५	५	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	अनन्तगुणा
२.	सासादन	७	१३	५	६	३	५०	०	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
३.	मिश्र	१	१०	६	६	३	४३	०	१२	२१	१०	७	८	८	८	"
४.	अविरति	२	१३	६	६	३	४६	०	१२	२१	१३	७/८	८	७/८	८	"
५.	देशविरति	१	११	६	६	३	३९	०	११	१७	११	७/८	८	७/८	८	"
६.	प्रमत्तसंयत	१	१३	७	६	२	२६	०	०	१३	१३	७/८	८	७/८	८	संख्यातगुणा
७.	अप्रमत्तसंयत	१	११	७	३	२	२४	०	०	१३	११	७/८	८	६	८	"
८.	अपूर्वकरण	१	९	७	१	२	२२	०	०	१३	९	७	८	६	८	तुल्य
९.	अनिवृत्तिकरण	१	९	७	१	२	१६	०	०	७	९	७	८	६	८	"
१०.	सूक्ष्मसंपराय	१	९	७	१	२	१०	०	०	१	९	६	८	६/५	८	विशेषाधिक
११.	उपशान्तमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५	८	सबसे कम
१२.	क्षीणमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५/२	८	संख्यातगुणा
१३.	सयोगिकेवली	१	७	२	१	१	७	०	०	०	७	१	४	२	४	"
१४.	अयोगिकेवली	१	०	२	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४	अनन्तगुणा

लेकिन सिद्ध (अभवस्थ अयोगि) अनंत है। इसीलिये अयोगिकेवलियो को चौथे गुणस्थान वालों से अनन्तगुणा कहा है।[1]

चौदहवें गुणस्थान वालों से भी पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले अनन्तगुणे हैं। क्योंकि साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुणे है और वे सभी मिथ्यादृष्टि है। इसी से मिथ्यादृष्टि वाले जीव चौदहवें गुणस्थान वालों से अनन्तगुणे कहे है।

ऊपर कहा गया अल्पबहुत्व उत्कृष्ट संख्या की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि जघन्य संख्या के समय जीवों का प्रमाण उपर्युक्त अल्पबहुत्व के विपरीत भी हो जाता है। जैसे कि कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवें गुणस्थान वालों से अधिक भी हो जाते है।

पहला, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां और तेरहवा ये छह गुणस्थान सदा पाये जाते हैं और शेष आठ गुणस्थान—दूसरा, तीसरा, आठवां, नौवां, दसवां, ग्यारहवां, बारहवां और चौदहवां कभी पाये जाते हैं और कभी नही भी पाये जाते हैं। तब भी उनमें वर्तमान जीवों की संख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है।

गुणस्थानों मे जीवस्थान आदि का विवरण पृष्ठ ३२१ की तालिका मे दिया गया है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब गुणस्थानों के वर्ण्य विषयो में से भावों का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम भावों के नाम और उनके भेदों को बतलाते हैं।

भावों के नाम और भेद

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरणं पढम भावे ॥६४॥

---

१ तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८९

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि अल्पबहुत्व पर्यन्त का विवरण

क्रम संख्या	गुणस्थान	जीवस्थान	योग	उपयोग	लेश्या	मूलबंधहेतु	उत्तरबंधहेतु	मिथ्यात्व	अविरति	कषाय	योग	बंध प्रकृति	उदय प्रकृति	उदीरणा प्रकृति	सत्ता प्रकृति	अल्पबहुत्व
१.	मिथ्यात्व	१४	१३	५	६	४	५५	५	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	अनन्तगुणा
२.	सासादन	७	१३	५	६	३	५०	०	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
३	मिश्र	१	१०	६	६	३	४३	०	१२	२१	१०	७	८	८	८	"
४.	अविरति	२	१३	६	६	३	४६	०	१२	२१	१३	७/८	८	७/८	८	"
५.	देशविरति	१	११	६	६	३	३९	०	११	१७	११	७/८	८	७/८	८	"
६.	प्रमत्तसंयत	१	१३	७	६	२	२६	०	०	१३	१३	७/८	८	७/८	८	संख्यातगुणा
७.	अप्रमत्तसंयत	१	११	७	३	२	२४	०	०	१३	११	७/८	८	६	८	"
८.	अपूर्वकरण	१	९	७	१	२	२२	०	०	१३	९	७	८	६	८	तुल्य
९	अनिवृत्तिकरण	१	९	७	१	२	१६	०	०	७	९	७	८	६	८	"
१०.	सूक्ष्मसंपराय	१	९	७	१	२	१०	०	०	१	९	६	८	६/५	८	विशेषाधिक
११.	उपशान्तमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५	८	सबसे कम
१२.	क्षीणमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५/२	८	संख्यातगुणा
१३.	सयोगिकेवली	१	७	२	१	१	७	०	०	०	७	१	४	२	४	"
१४.	अयोगिकेवली	१	०	२	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४	अनन्तगुणा

शब्दार्थ—**उवसम**—औपशमिक, **खय**—क्षायिक, **मीस**—मिश्र (क्षायोपशमिक), **उदय**—औदयिक, **परिणामा**—पारिणामिक भाव, **दु**—दो, **नव**—नौ, **ठार**—अठारह, **इगवीसा**—इक्कीस, **तिय**—तीन, **भेय**—भेद, **सन्निवाइय**—सान्निपातिक, **सम्मं**—सम्यक्त्व, **चरणं**—चारित्र, **पढम भावे**—प्रथम भाव मे (औपशमिक भाव मे)।

गाथार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) औदयिक, पारिणामिक इन पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद है। छठा भाव सान्निपातिक है। सम्यक्त्व और चारित्र यह प्रथम भाव के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में जीव के भाव दिखाये है। ये मूल भाव पाँच है—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक, ५ पारिणामिक।[1] इनको जीव के भाव कहने का कारण यह है कि जीव औपशमिक आदि भावों सहित द्रव्य है यानी ये जीव के असाधारण धर्म है।[2]

भावों के उक्त क्रम के विषय में जिज्ञासु का प्रश्न है कि औदयिक भाव तो निगोद से लेकर समस्त संसारी जीवों मे पाया जाता है और औपशमिक तो कुछ एक को ही होता है। अतः औपशमिक के पहले औदयिक भाव को रखना चाहिये था। इसका समाधान यह है कि जीव के ऐसे स्वरूप को बताना चाहिये जो असाधारण हो। क्योकि असाधारण स्वरूप के द्वारा ही जीव की अन्य द्रव्यों से भिन्नता वतलाई जा सकती है। इसीलिये प्रारम्भ में औदयिक आदि को ग्रहण न करके सवसे पहले औपशमिकादि भावों का क्रम रखा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि औदयिक और पारिणामिक भाव—ये दो भाव

---

१ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। —तत्त्वार्थसूत्र २।१

२ किं जीवा ? उवसममाइएहिं भावेहिं संजुय दव्व। —पंचसग्रह २।२

तो अजीव द्रव्य मे भी पाये जाते हैं जिससे उन भावों को प्रारम्भ में ग्रहण नहीं किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भाव पूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये विना क्षायिक भाव प्राप्त करता ही नही है। अनादि मिथ्यादृष्टि पहली बार उपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है, अतः क्षायिक को प्रारम्भ में नही रखा है। क्षायोपशमिक भाव औपशमिक भाव से अत्यन्त भिन्न नही है। इसीलिये प्रारम्भ में औपशमिक भाव को ग्रहण किया है।

औपशमिक आदि पाँचों भावों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१ **औपशमिक भाव**—आत्मा मे कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम है।[1] अथवा प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है। उपशम से होने वाले भाव को औपशमिक भाव कहते है। औपशमिक भाव सादि-सान्त है।

२ **क्षायिक भाव**—कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव क्षायिक भाव है।[2] यह भाव सादि-अनन्त है।

३. **क्षायोपशमिक भाव**—कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होने वाले भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है जो कर्म के एक अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रगट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित होती है जैसे

---

१ (क) आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः।

—सर्वार्थसिद्धि टीका, २।१

(ख) उपशमनमुपशमः—विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं स एव तेन वा निर्वृत्त औपशमिकः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८९

२ (क) क्षयः—कर्मणोऽत्यन्तोच्छेदः स एव तेन वा निर्वृत्तः क्षायिकः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९०

(ख) क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी। —तत्त्वार्थ राज० २।

धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने पर और कुछ रह जाने पर कोदों की शुद्धि।

वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। अर्थात् कर्म के उदयावलि-प्रविष्ट मन्द रस स्पर्धक का क्षय और अनुदयमान रस स्पर्धक की सर्वघातिनी विपाक शक्ति का निरोध या देशघाति रूप में परिणमन व तीव्र शक्ति का मन्द शक्ति रूप में परिणमन (उपशमन) क्षयोपशम है।

यद्यपि यहाँ कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है किन्तु उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण जीव के गुण को घातने में समर्थ नहीं होता है। पूर्ण शक्ति के साथ उदय में न आकर शक्ति-क्षीण होकर उदय में आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है और सत्ता वाले सर्वघाती कर्मों का अकस्मात उदय में न आना ही उनका सदवस्थारूप उपशम है। यद्यपि क्षीणशक्ति या देशघाती कर्मों का उदय प्राप्त होने की अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी कहा जा सकता है, किन्तु गुण के प्रगट होने वाले अंश की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही कहते है।

४. औदयिक भाव—कर्मों के उदय से होने वाले भाव को औदयिक भाव कहते हैं। कर्मों की शुभाशुभ प्रकृतियों के विपाक का अनुभव करना उदय है।[1]

५. पारिणामिक भाव—जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का

---

१ (क) कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुण· औदयिकः। —धवला १।१,१,८।१६१।१

(ख) उदयः—शुभाशुभप्रकृतीनां विपाकतोऽनुभवन स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिकः। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है अथवा कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।

इन औपशमिक आदि पारिणामिक पर्यन्त पाँचों भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद है। अर्थात् औपशमिक के २ भेद, क्षायिक के ९ भेद, क्षायोपशमिक के १८ भेद, औदयिक के २१ भेद और पारिणामिक के ३ भेद है।[1] कुल मिलाकर ५३ भेद होते हैं।

इस प्रकार से मूल मे पाँच भाव है और उनके क्रमशः दो, नौ, अठारह आदि भेदो के कारण ५३ भेद हो जाते है। इनके सिवाय जीव मे कुछ ऐसे भाव भी पाये जाते है जो दो या दो से अधिक मिले हुए होते हैं। ये सान्निपातिक भाव हैं। अर्थात् एक-एक भाव को मूल भाव और दो या दो से अधिक मिले हुए भावों को सान्निपातिक भाव कहते है।

मूल भावों के नाम और उनके स्वरूप का कथन करने के बाद उनके उत्तर भेदों को बतलाते है। पहले भाव औपशमिक के दो उत्तर भेद—१ औपशमिक सम्यक्त्व और २ औपशमिक चारित्र हैं[2]—सम्मं चरण पढम भावे।

१ अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहनीय त्रिक इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व-रुचिव्यंजक आत्म-परिणाम प्रगट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

२. चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से प्रगट होने वाले स्थिरतात्मक परिणाम को औपशमिक चारित्र कहते हैं।

---

१ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्। —तत्त्वा.

२ सम्यक्त्वचारित्रे। —तत्त्वा.

अब आगे की गाथा में क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों के भेदों के नाम बतलाते है—

बीए केवलजुयलं सम्मं दाणाइलद्धि पण चरणं।
तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥६५॥

शब्दार्थ—बीए—दूसरा (क्षायिकभाव), **केवलजुयल**—केवल-युगल, केवलद्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन), **सम्म**—सम्यक्त्व, **दाणाई**—दानादि, **लद्धी**—लब्धि, **पण**—पाँच, **चरणं**—चारित्र, **तइए**—तीसरा (क्षायोपशमिक भाव), **सेस**—बाकी के, **उवओगा**—उपयोग, **पण लद्धी**—पाँच लब्धि, **सम्म**—सम्यक्त्व, **विरइदुग**—विरतिद्विक (देशविरति और सर्वविरति)।

गाथार्थ—दूसरे (क्षायिक) भाव के केवलद्विक, सम्यक्त्व, दानादि पाँच लब्धियाँ और चारित्र यह भेद जानना चाहिए। तीसरे (क्षायोपशमिक) भाव के केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरतिद्विक यह भेद है।

विशेषार्थ—गाथा में क्षायिक भाव के नौ और क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों के नाम बताये है।

क्षायिक भाव के नाम इस प्रकार है—१ केवलज्ञान, २ केवल-दर्शन, ३ सम्यक्त्व, ४ दान, ५ लाभ, ६ भोग, ७ उपभोग, ८ वीर्य, ९ चारित्र।[1] इनमें से केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो भाव प्रगट होते है।[2] दर्शनमोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों (अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) के क्षय से उत्पन्न

---

१ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। —तत्त्वार्थसूत्र २।४

२ केवलज्ञानावरणक्षयभूतत्वेन क्षायिक केवलज्ञान, केवलदर्शनावरणक्षय-सम्भूत क्षायिक केवलदर्शनम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

होने वाले तत्त्व-रुचि रूप आत्मा के गुण को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म के आत्यन्तिक क्षय से उत्पन्न क्रमशः क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य भाव है।[1] चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र रूप परिणाम को क्षायिक चारित्र कहते हैं।[2]

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों के लिये गाथा मे संकेत दिया है कि 'तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुग'—यानी बारह उपयोगों में से केवलद्विक उपयोगों को छोड़कर शेष दस उपयोग, दानादि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरतिद्विक—देशविरति और सर्वविरति, ये क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) मति-अज्ञान, (६) श्रुत-अज्ञान, (७) विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान), (८) चक्षुदर्शन, (९) अचक्षुदर्शन, (१०) अवधिदर्शन, (११) दान, (१२) लाभ, (१३) भोग, (१४) उपभोग, (१५) वीर्य, (१६) सम्यक्त्व, (१७) चारित्र—सर्वविरति, (१८) संयमासंयम—देशविरति।[3]

उक्त अठारह भेदों मे से मतिज्ञान आदि मनपर्यायज्ञान पर्यन्त चार ज्ञान तथा मति, श्रुत व अवधि अज्ञान कुल सात ज्ञानावरण कर्म के

---

१ दानादिरूपपञ्चप्रकारान्तरायक्षयोद्भूता: क्षायिक्य: ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

२ चारित्रमोहनीयक्षयसमुद्भूतं च क्षायिकं चरणं यथाख्यातचारित्ररूपं ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

३ ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २।५

क्षयोपशम से, चक्षु, अचक्षु, अवधि, यह तीन दर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से, दानादि वीर्य पर्यन्त पाच भाव अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से, सम्यक्त्व, दर्शनमोह सप्तक के क्षयोपशम से, सर्वविरति, देशविरति, चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होते है। अर्थात् मतिज्ञान, मतिअज्ञान, मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, श्रुतज्ञान, श्रुतअज्ञान, श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, अवधि-ज्ञान, विभंगज्ञान, अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, मन-पर्यायज्ञान, मनपर्यायज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन क्रमशः चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से प्रगट होते है। दानादि वीर्य पर्यन्त पांच भाव क्रम से दानान्तराय आदि पांच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते है। अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक के क्षयोपशम से सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से देशचारित्र (देशविरति) और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से सर्वविरति प्रगट होते है।

मतिअज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव अभव्य के अनादि-अनन्त और विभंगज्ञान सादि-सान्त है। मतिज्ञान आदि भाव भव्य के सादि-सांत है और दानादि लब्धियाँ तथा अचक्षुदर्शन अनादि-अनन्त है।

दानादि पाँच लब्धियों, सम्यक्त्व और चारित्र को क्षायिक भावो में गर्भित करके पुनः क्षायोपशमिक भावों में भी गर्भित करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इनको क्षायोपशमिक भाव में गर्भित करना युक्तियुक्त नही है। इसका समाधान यह है कि दानादि लब्धियाँ अन्तराय कर्म के क्षय और क्षायोपशमिक के भेद से दो प्रकार की हैं। दानादि अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि लब्धियों को क्षायिक भाव में ग्रहण किया है और क्षयोपशम से प्रगट होने वालियों को क्षायोपशमिक भाव में। क्षयोत्पन्न लब्धियाँ

केवलज्ञानी में ही और क्षयोपशम से जन्य छद्मस्थों में पाई जाती है।[1] इसी प्रकार से सम्यक्त्व और चारित्र के लिये भी समझना चाहिये कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से जन्य सम्यक्त्व और चारित्र का यहाँ ग्रहण किया है।

अब आगे की गाथा मे औदयिक और पारिणामिक भावो के भेद बतलाते है।

अन्नाणमसिद्धित्तासंजमलेसाकसायगइवेया ।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥६६॥

शब्दार्थ—अन्नाणं—अज्ञान, असिद्धत्त—असिद्धत्व, असंजम—असयम, लेसा—लेश्या, कसाय—कषाय, गइ—गति, वेया—वेद, मिच्छं—मिथ्यात्व, तुरिए—चौथे भाव मे, भव्व—भव्यत्व, अभव्वत्त—अभव्यत्व, जियत्त—जीवत्व, परिणामे—पारिणामिक भाव मे।

गाथार्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, लेश्या, कषाय, गति, वेद और मिथ्यात्व ये चौथे औदयिक भाव के भेद है। भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व यह तीन पारिणामिक भाव है।

विशेषार्थ—गाथा मे औदयिक और पारिणामिक भावो के भेद बतलाये है। पूर्व मे यह संकेत दिया जा चुका है कि औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते है। यहाँ गाथा मे कुछ भेदों के तो नाम दिये है और जिन भेदों के अन्तर्गत अन्य भेद है, उनके नामो का निर्देश किया

---

[1] इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मणः क्षयसम्भविन्यः क्षयोपशमसम्भविन्यश्च । तत्र च याः क्षायिक्यः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव, याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसम्भूतात्छद्मस्थानामेव ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

क्षयोपशम से, चक्षु, अचक्षु, अवधि, यह तीन दर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से, दानादि वीर्य पर्यन्त पाच भाव अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से, सम्यक्त्व, दर्शनमोह सप्तक के क्षयोपशम से, सर्वविरति, देशविरति, चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होते है। अर्थात् मतिज्ञान, मतिअज्ञान, मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, श्रुतज्ञान, श्रुतअज्ञान, श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, अवधिज्ञान, विभंगज्ञान, अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, मनपर्यायज्ञान, मनपर्यायज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन क्रमश: चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से प्रगट होते है। दानादि वीर्य पर्यन्त पांच भाव क्रम से दानान्तराय आदि पांच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते है। अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक के क्षयोपशम से सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से देशचारित्र (देशविरति) और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से सर्वविरति प्रगट होते है।

मतिअज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव अभव्य के अनादि-अनन्त और विभंगज्ञान सादि-सान्त है। मतिज्ञान आदि भाव भव्य के सादि-सांत हैं और दानादि लब्धियाँ तथा अचक्षुदर्शन अनादि-अनन्त है।

दानादि पाँच लब्धियों, सम्यक्त्व और चारित्र को क्षायिक भावों में गर्भित करके पुन: क्षायोपशमिक भावों में भी गर्भित करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इनको क्षायोपशमिक भाव में गर्भित करना युक्तियुक्त नही है। इसका समाधान यह है कि दानादि लब्धियाँ अन्तराय कर्म के क्षय और क्षायोपशमिक के भेद से दो प्रकार की है। दानादि अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि लब्धियों को [illegible]यिक भाव में ग्रहण किया है और क्षयोपशम से प्रगट होने [illegible] क्षायोपशमिक भाव में। क्षयोत्पन्न लब्धियाँ

केवलज्ञानी में ही और क्षयोपशम से जन्य छद्मस्थों मे पाई जाती है।[1] इसी प्रकार से सम्यक्त्व और चारित्र के लिये भी समझना चाहिये कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से जन्य सम्यक्त्व और चारित्र का यहाँ ग्रहण किया है।

अव आगे की गाथा मे औदयिक और पारिणामिक भावों के भेद वतलाते है।

अन्नाणमसिद्धित्तासंजमलेसाकसायगइवेया।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥६६॥

शब्दार्थ—**अन्नाणं**—अज्ञान, **असिद्धत्त**—असिद्धत्व, **असंजम**—असयम, **लेसा**—लेश्या, **कसाय**—कषाय, **गइ**—गति, **वेया**—वेद, **मिच्छं**—मिथ्यात्व, **तुरिए**—चौथे भाव मे, **भव्व**—भव्यत्व, **अभव्वत्त**—अभव्यत्व, **जियत्त**—जीवत्व, **परिणामे**—पारिणामिक भाव मे।

गाथार्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, लेश्या, कपाय, गति, वेद और मिथ्यात्व ये चौथे औदयिक भाव के भेद है। भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व यह तीन पारिणामिक भाव है।

विशेषार्थ—गाथा मे औदयिक और पारिणामिक भावों के भेद वतलाये है। पूर्व में यह संकेत दिया जा चुका है कि औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते है। यहाँ गाथा मे कुछ भेदों के तो नाम दिये है और जिन भेदो के अन्तर्गत अन्य भेद है, उनके नामों का निर्देश किया

---

१ इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मण. क्षयसम्भविन्यः क्षयोपशमसम्भविन्यश्च। तत्र च या. क्षायिक्यः पूर्वमुक्तास्ता. क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव, याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसम्भूताश्छद्मस्थानामेव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

है—जैसे लेश्या, कषाय, गति और वेद। इनके अन्तर्गत भेदों के नाम इस प्रकार है—

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म, शुक्ल।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

वेद—पुरुष, स्त्री, नपुसक।

इन भेदों और गाथोक्त शेष नामों—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम और मिथ्यात्व—को जोड़ने से औदयिक भाव के कुल इक्कीस नाम हो जाते है। जो इस प्रकार है—

१ अज्ञान, २ असिद्धत्व, ३ असंयम, ४ कृष्ण, ५ नील, ६ कापोत, ७ तेजः ८ पद्म, ९ शुक्ल लेश्या, १० क्रोध, ११ मान, १२ माया, १३ लोभ कषाय, १४ नरक, १५ तिर्यंच, १६ मनुष्य, १७ देव गति, १८ पुरुष, १९, स्त्री, २० नपुंसक वेद, २१ मिथ्यात्व।[1]

उक्त सभी भेद कर्मोदयजन्य होने से औदयिक भाव कहलाते है। जैसे कि अज्ञान का मतलब ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों से है। इनमे से ज्ञान का अभाव ज्ञानावरण कर्म के उदयजन्य और मिथ्याज्ञान मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदयजन्य है। इसीलिये अज्ञान औदयिक है। असिद्धत्व भाव सिद्धत्व की अभाव रूप अवस्था (संसारावस्था), यह ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के उदय का फल है। असंयम अप्रत्याख्यानावरण कपाय के उदय से उत्पन्न फल है।

लेश्या उदयजन्य भाव है। लेश्या के लक्षण के वारे में मत-भिन्नता है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है—१ कापायिक-परिणाम, २ कर्मपरिणति और ३ योगपरिणाम। ये तीनो ही [illegible]यिक है,

---

१ गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानार [illegible] चतुर [illegible] —त [illegible] भेदाः।

क्योंकि काषायिक परिणाम कषायमोहनीय के उदय का, कर्म-परिणति कर्म के उदय का और योगपरिणाम योगत्रयजनक कर्म के उदय का फल है।[1]

कषाय की उत्पत्ति कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होती है। नरक-तिर्यंच आदि गतियाँ अपने-अपने नाम वाले गति नामकर्म के उदय का फल है। वेद—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के वेद औदयिक हैं। आकृति रूप द्रव्यवेद अंगोपांग नामकर्म के उदय तथा पुरुष, स्त्री, नपुसक अभिलाषा रूप भाववेद पुरुष, स्त्री, नपुंसक वेद नोकषाय मोहनीय के उदय से होता है। मिथ्यात्व—अतत्त्वश्रद्धान—मिथ्यात्व मोहनीय के उदय का परिणाम है।

ये औदयिक भाव अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के बहुधा अनादि-सान्त है।

निद्रा, निद्रा-निद्रा, सुख-दुख का वेदन, हास्य, रति, शरीर आदि अन्य जितने भी असंख्यात भाव है वे सभी औदयिक है। लेकिन यहाँ पूर्व आचार्यो की परम्परा का अनुसरण करके स्थूलदृष्टि से इक्कीस ही औदयिक भाव बतलाये है।

यद्यपि पूर्व गाथा में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान को क्षायोपशमिक भावों मे ग्रहण किया है और यहाँ औदयिक माना है, सो इसका कारण यह है कि मतिअज्ञान आदि उक्त तीन उपयोगों को मतिज्ञानावरण आदि के क्षयोपशमजन्य होने की अपेक्षा से क्षायोप-

---

१ लेश्यास्तु येषा मते कषायनिष्यन्दो लेश्या: तन्मतेन कषायमोहनीयोदयजत्वाद् औदयिक्य:, यन्मतेत तु योगपरिणामो लेश्या. तदभिप्रायेण योगत्रयजनक-कर्मोदयप्रभवा., येषा त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्यास्तन्मतेन ससारित्वासिद्धत्व-वद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६१

शमिक भाव कहा है और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से यहाँ औदयिक भाव माना है। क्योंकि अतत्त्वार्थश्रद्धान का कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है।

पारिणामिक भाव के 'भव्वाभव्वत्तजियत्त परिणामे'—१ भव्यत्व, २ अभव्यत्व और ३ जीवत्व, यह तीन भेद है।[1] ये तीनों भाव अनादि-अनन्त है।

प्राण (द्रव्य, भाव) का धारण करना जीवत्व है। यह भाव समस्त संसारी और सिद्ध जीवों में पाया जाता है। इसीलिये भव्यत्व, अभव्यत्व की अपेक्षा व्यापक है। मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता को भव्यत्व और मुक्ति-प्राप्ति की अयोग्यता को अभव्यत्व भाव कहते है। ये तीनों भाव अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध है।

यद्यपि अस्तित्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, प्रदेशत्व आदि भी दूसरे अनेक पारिणामिक भाव है। लेकिन यहाँ पारिणामिक भाव के जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीन ही भेद बताने का कारण यह है कि जीव का स्वरूप उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिये औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाये है जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं, किन्तु वे जीव की तरह अजीव मे भी है। जिससे वे जीव के असाधारण भाव नही है। इसलिये यहाँ उनका निर्देश नही किया है।

सान्निपातिक भाव के भेद

इस प्रकार से औपशमिक आदि पाँच भावों का सप्रभेद निरूपण करके अब सान्निपातिक नामक छठे भेद का वर्णन करते है। ये

---

१ जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। —तत्त्वार्थसूत्र २।७

(सान्निपातिक भाव औपशमिक आदि पाँच भावों में से दो, तीन, चार या पाँच भावों के मिलने पर होते है। दो भावों के मेल से होने वाला सान्निपातिक 'द्विकसंयोग', तीन भावों के मेल से होने वाला 'त्रिक-संयोग' चार भावों के संयोग से होने वाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावों के मेल से होने वाला 'पंचसंयोग' कहलाता है।

इनमें द्विकसंयोग के दस भेद, त्रिकसंयोग के दस भेद, चतुस्संयोग के पाँच भेद और पंचसंयोग का एक भेद होता है। कुल मिलाकर छब्बीस भेद होते है। इनमे से छह भेद जीवों में पाये जाते है और शेप २० भेद तो सम्भव ही नही हैं।

सान्निपातिक भाव के द्विसंयोगी आदि भेद इस प्रकार वनते हैं।

द्विक-संयोगी दस भेद

१. औपशमिक+क्षायिक।
२. औपशमिक+क्षायोपशमिक।
३. औपशमिक+औदयिक।
४. औपशमिक+पारिणामिक।
५. क्षायिक+क्षायोपशमिक।
६. क्षायिक+औदयिक।
७. क्षायिक+पारिणामिक।
८. क्षायोपशमिक+औदयिक।
९. क्षायोपशमिक+पारिणामिक।
१०. औदयिक+पारिणामिक।

त्रिक-संयोगी दस भेद

१ औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक।
२ औपशमिक+क्षायिक+औदयिक।
३. औपशमिक+क्षायिक+पारिणामिक।
४. औपशमिक+क्षायोपशमिक+औदयिक।

शमिक भाव कहा है और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के अपेक्षा से यहाँ औदयिक भाव माना है। क्योंकि अतत्त्वार्थश्र कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है।

पारिणामिक भाव के 'भव्वाभव्वत्तजियत्त परिणामे'—(२ अभव्यत्व और ३ जीवत्व, यह तीन भेद है।[1] ये तीनों भाव अनन्त है।

प्राण (द्रव्य, भाव) का धारण करना जीवत्व है। समस्त संसारी और सिद्ध जीवों मे पाया जाता है। इसीलिये अभव्यत्व की अपेक्षा व्यापक है। मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता क और मुक्ति-प्राप्ति की अयोग्यता को अभव्यत्व भाव कहते है भाव अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध है।

यद्यपि अस्तित्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, प्रदेशत्व आदि अनेक पारिणामिक भाव है। लेकिन यहाँ पारिणामिक भाव के भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीन ही भेद बताने का कारण यः जीव का स्वरूप उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया ज है। इसलिये औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भ ही बतलाये है जो सिर्फ जीव के असाधारण है। अस्ति पारिणामिक भाव है, किन्तु वे जीव की तरह अजीव में वे जीव के असाधारण भाव नहीं है। इसलिये यहाँ उन किया है।

सान्निपातिक भाव के

इस प्रकार से औप   पाँच
करके अब स.   ५। त   भेद

---

१ जीवभव्याभव्यत्वादीनि

सान्निपातिक भाव औपशमिक आदि पाँच भावों में से दो, तीन, चार या पाँच भावों के मिलने पर होते हैं। दो भावों के मेल से होने वाला सान्निपातिक 'द्विकसंयोग', तीन भावों के मेल से होने वाला 'त्रिक-संयोग' चार भावों के सयोग से होने वाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावों के मेल से होने वाला 'पंचसंयोग' कहलाता है।

इनमे द्विकसंयोग के दस भेद, त्रिकसंयोग के दस भेद, चतुस्संयोग के पाँच भेद और पंचसंयोग का एक भेद होता है। कुल मिलाकर छब्बीस भेद होते है। इनमे से छह भेद जीवों में पाये जाते हैं और शेष २० भेद तो सम्भव ही नहीं हैं।

सान्निपातिक भाव के द्विसंयोगी आदि भेद इस प्रकार वनते हैं।

द्विक-संयोगी दस भेद

१. औपशमिक+क्षायिक।
२ औपशमिक+क्षायोपशमिक।
३ औपशमिक+औदयिक।
४. औपशमिक+पारिणामिक।
५. क्षायिक+क्षायोपशमिक।
६. क्षायिक+औदयिक।
७ क्षायिक+पारिणामिक।
८ क्षायोपशमिक+औदयिक।
९. क्षायोपशमिक+पारिणामिक।
१०. औदयिक+पारिणामिक।

त्रिक-संयोगी दस भेद

१. औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक।
२. औपशमिक+क्षायिक+औदयिक।
३. औपशमिक+क्षायिक+पारिणामिक।
४ औपशमिक+क्षायोपशमिक+औदयिक।

शमिक भाव कहा है और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से यहाँ औदयिक भाव माना है। क्योंकि अतत्त्वार्थश्रद्धान का कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है।

पारिणामिक भाव के 'भव्वाभव्वत्तजियत्त परिणामे'—१ भव्यत्व, २ अभव्यत्व और ३ जीवत्व, यह तीन भेद हैं।[1] ये तीनों भाव अनादि-अनन्त है।

प्राण (द्रव्य, भाव) का धारण करना जीवत्व है। यह भाव समस्त संसारी और सिद्ध जीवों में पाया जाता है। इसीलिये भव्यत्व, अभव्यत्व की अपेक्षा व्यापक है। मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता को भव्यत्व और मुक्ति-प्राप्ति की अयोग्यता को अभव्यत्व भाव कहते है। ये तीनों भाव अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध है।

यद्यपि अस्तित्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, प्रदेशत्व आदि भी दूसरे अनेक पारिणामिक भाव है। लेकिन यहाँ पारिणामिक भाव के जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीन ही भेद बताने का कारण यह है कि जीव का स्वरूप उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिये औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाये है जो सिर्फ जीव के असाधारण है। अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं, किन्तु वे जीव की तरह अजीव में भी है। जिससे वे जीव के असाधारण भाव नही है। इसलिये यहाँ उनका निर्देश नहीं किया है।

सान्निपातिक भाव के भेद

इस प्रकार से औपशमिक आदि पाँच भावों का सप्रभेद निरूपण करके अब सान्निपातिक नामक छठे भेद का वर्णन करते है। ये

---

१ जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। —तत्त्वार्थसूत्र २।७

सान्निपातिक भाव औपशमिक आदि पाँच भावों में से दो, तीन, चार या पाँच भावों के मिलने पर होते है। दो भावों के मेल से होने वाला सान्निपातिक 'द्विकसंयोग', तीन भावों के मेल से होने वाला 'त्रिक-संयोग' चार भावों के संयोग से होने वाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावों के मेल से होने वाला 'पंचसंयोग' कहलाता है।

इनमें द्विकसंयोग के दस भेद, त्रिकसंयोग के दस भेद, चतुस्संयोग के पाँच भेद और पंचसंयोग का एक भेद होता है। कुल मिलाकर छब्वीस भेद होते हैं। इनमें से छह भेद जीवों मे पाये जाते हैं और शेप २० भेद तो सम्भव ही नही है।

सान्निपातिक भाव के द्विसंयोगी आदि भेद इस प्रकार वनते हैं।

द्विक-संयोगी दस भेद

१. औपशमिक + क्षायिक।
२. औपशमिक + क्षायोपशमिक।
३ औपशमिक + औदयिक।
४ औपशमिक + पारिणामिक।
५ क्षायिक + क्षायोपशमिक।
६. क्षायिक + औदयिक।
७ क्षायिक + पारिणामिक।
८. क्षायोपशमिक + औदयिक।
९. क्षायोपशमिक + पारिणामिक।
१०. औदयिक + पारिणामिक।

त्रिक-संयोगी दस भेद

१. औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक।
२ औपशमिक + क्षायिक + औदयिक।
३. औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक।
४ औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक।

५. औपशमिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक ।

६. औपशमिक+औदयिक+पारिणामिक ।

७. क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक ।

८. क्षायिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक ।

९. क्षायिक+औदयिक+पारिणामिक ।

१०. क्षायोपशमिक+पारिणामिक+औदयिक ।

चतुः-संयोगी के पाँच भेद

१ औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक ।

२. औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक ।

३. औपशमिक+क्षायिक+औदयिक+पारिणामिक ।

४ औपशमिक+क्षायोपशमिक+औदयिक+पारिणामिक ।

५. क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक+पारिणामिक ।

पंच-संयोगी एक भेद

१ औपशमिक + क्षायिक+क्षायोपशमिक + औदयिक+ पारिणामिक ।

इनमें से जो छह भेद जीवों मे पाये जाते है, उनको निम्नलिखित दो गाथाओ द्वारा बतलाते हैं ।

चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिं चउ सखइएहिं ।
उवसमजुएहिं वा चउ केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥

शब्दार्थ—**चउ**—चार भेद, **चउगईसु**—चार गतियो मे, **मीसग**—मिश्र भाव, **परिणामुदएहिं**—पारिणामिक तथा औदयिक भाव मे, **चउ**—चार भेद, **सखइएहिं**—क्षायिक भाव सहित, **उवसमजुएहिं**—उपशम सम्यक्त्व सहित, **वा**—अथवा, **चउ**—चार भेद, **केवलि**—केवलज्ञानी, **परिणाम**—पारिणामिक, **उदय**—औदयिक, **खइए**—क्षायिक में ।

खय—क्षायिक, **परिणामे**—पारिणामिक मे, **सिद्धा**—सिद्ध जीव, **नराण**—मनुष्य को, **पणजोग**—पचसयोगी, **उवसमसेढीए**—उपशम श्रेणि मे, **इय**—यह, **पनर**—पद्रह, **सन्निवाइय**—सान्निपातिक, **भेया**—भेद, **वीसं**—बीस, **असभविणो**—असभव है।

गाथार्थ—त्रिसंयोगि सान्निपातिक भाव क्षायोपशमिक-पारिणामिक-औदयिक—चार गति मे पाये जाने के कारण चार प्रकार का है। चतुःसंयोगी—उक्त तीन और क्षायिक सहित अथवा उक्त तीन और औपशमिक सहित सान्निपातिक भाव भी चार प्रकार का है। पारिणामिक, औदयिक और क्षायिक का त्रिसंयोगी सान्निपातिक भाव केवली में पाया जाता है।

क्षायिक और पारिणामिक भाव रूप द्विसंयोगी सान्निपातिक भाव सिद्धों मे तथा पंचसंयोगी सान्निपातिक भाव मनुष्यों के उपशम श्रेणि में होता है। इस प्रकार से छह सान्निपातिक भावों मे पन्द्रह भेद संभव तथा शेष बीस भेद असंभव समझना चाहिए।

विशेषार्थ—उक्त दो गाथाओं मे जीव मे पाये जाने वाले छह सान्निपातिक भाव के भेदों का कथन किया है। उनमें से सर्वप्रथम 'मीसग परिणामुदएहि'—मिश्र (क्षायोपशमिक), पारिणामिक और औदयिक के मेल से बना त्रिसंयोगी भेद चारो गतियों में पाया जाता है। वह इस प्रकार—चारों गतियों के जीवो में क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप में, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि के रूप में और औदयिक भाव गति, कषाय आदि के रूप मे है।[1]

---

[1] क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिक जीवत्वादि, औदयिकी नरकगतिः, इत्येको नरकगत्याश्रितस्त्रिकसयोगः। एव तिर्यङ् मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भगका अन्येऽपि वाच्या इति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९२

गति नामकर्म के नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव यह चार भेद है। अत: इस त्रिकसंयोगी के गति रूप स्थानभेद से चार भेद हैं।

'सखइएहिं' अथवा 'उवसमजुएहिं' यानी उक्त त्रिसंयोगी क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक—के साथ क्षायिक या उपशम के सयोग से बनने वाले चतु:संयोगी सान्निपातिक भाव चारों गतियों के जीवों में पाये जाते हैं। अर्थात् क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक, क्षायिक, यह चतु:संयोगी भाव चारों गतियों में पाया जाता है। गति रूप स्थान के चार भेद होने से इस चतु:संयोगी के भी चार भेद हो जाते है। चारों गतियों में क्षायिक भाव क्षायिक सम्यक्त्व रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव कषाय आदि रूप है।

पूर्वोक्त त्रिसयोगी—क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक के साथ औपशमिक का योग करने से बना हुआ चतु:संयोगी भेद भी चारों गतियों में पाया जाता है। इनमें से औपशमिक भाव औपशमिक सम्यक्त्व रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव कषाय आदि रूप समझना चाहिये। गति रूप स्थान के चार भेद होने से इस चतु:संयोगी के भी चार भेद होते हैं।

पारिणामिक, औदयिक और क्षायिक के सयोग से बनने वाला त्रिसंयोगी भेद 'परिणामुदयखइए' सिर्फ भवस्थ केवलियों में पाया जाता है। इसीलिए वह एक ही प्रकार का है। केवलियों में पारिणामिक भाव जीवत्व आदि के रूप मे, औदयिक भाव गति आदि के रूप मे और क्षायिक भाव केवलज्ञान आदि के रूप में पाया जाता है।

'खयपरिणामे सिद्धा'—क्षायिक और पारिणामिक के योग से बनने वाला द्विकसंयोगी भेद सिर्फ सिद्ध जीवों मे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और क्षायिक

भाव केवलज्ञान आदि रूप है। सिद्धों में किसी प्रकार का भेद नहीं होने के कारण यह भेद एक ही प्रकार का है।

पंचसंयोगी सान्निपातिक भाव सिर्फ उपशम श्रेणि वाले मनुष्यों में होता है—'पणजोगुवसमसेढीए' अतएव यह एक ही प्रकार का है। इस पंचसंयोगी भेद में से उपशम श्रेणि वाले मनुष्यों में क्षायिक भाव सम्यक्त्व रूप, औपशमिक भाव चारित्र रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव लेश्या आदि रूप है।

इस प्रकार छह सान्निपातिक भाव जीवो में सम्भव हैं। इनके स्थानभेद से पन्द्रह भेद हो जाते हैं। यहाँ जिज्ञासु शंका प्रस्तुत करता है कि पहले तो सान्निपातिक भाव के छब्बीस भेद बताये व यहाँ पन्द्रह भेद और बतलाये अतएव इन पन्द्रह भेदों को बीस भेदों में मिलाने पर पैंतीस भेद हो जाते है। इस भिन्नता का कारण क्या है? इसका समाधान यह है कि मूल मे तो द्विसंयोगी आदि छह भेद है। एक द्विसंयोगी, दो त्रिसंयोगी, दो चतुःसंयोगी, एक पंचसंयोगी, किन्तु गतियो की अपेक्षा उनका विचार करने पर स्थानभेद से पन्द्रह भेद हो जाते है। इसलिए मूल छह भेदो को बीस भेदो के साथ जोडने पर सान्निपातिक भाव के कुल छब्बीस भेद होते है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार से औपशमिक आदि भावों का वर्णन करने के पश्चात् अब आगे की गाथा मे कर्म व धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यों में भावो का विचार करते है।

कर्म व अजीव द्रव्यों में भाव

मोहेव समो मीसो चउघाइसु अट्ठकम्मसु च सेसा।
धम्माइ पारिणामिय भावे खंधा उदइए वि ॥६९॥

शब्दार्थ—**मोहेव**—मोहनीय मे ही, **समो**—उपशम, **मीसो**—क्षयोपशम, **चउघाइसु**—चार घाति कर्मों मे, **अट्ठकम्मसु**—आठ कर्मो मे, **य**—और, **सेसा**—बाकी के, **धम्माइ**—धर्मास्तिकाय आदि, **पारिणामिय**—पारिणामिक, **भावे**—भाव, **खंधा**—स्कन्ध (पुद्गल), **उदइए**—औदयिक भाव, **वि**—भी।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म में ही उपशम भाव होता है। चार घाति कर्मो में क्षायोपशमिक भाव और आठ कर्मो में शेष (औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्यों में पारिणामिक भाव होता है किन्तु पुद्गल स्कन्ध मे औदयिक भाव भी पाया जाता है।

विशेषार्थ—गाथा मे आठ कर्मो और धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों मे औपशमिक आदि भावों में से कौन-कौन से भाव पाये जाते है, उनको बतलाया है।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म में पाये जाने वाले भाव का संकेत करते हुए कहा है कि 'मोहेव समो' मोहनीय कर्म में सिर्फ औपशमिक भाव पाया जाता है। क्योंकि मोहनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मों की उपशम अवस्था नहीं होती है। इसीलिये औपशमिक भाव[1] मोहनीय कर्म में कहा गया है। क्षायोपशमिक भाव चार घाति कर्मो में पाया जाता है—'मीसो चउघाइसु।' लेकिन इतनी विशेषता है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण इन दो घाति कर्मों के विपाकोदय का निरोध नही होने के कारण क्षयोपशम नही होता है। शेष

---

१ औपशमिक शब्द के दो अर्थ हैं—(१) कर्म की उपशम आदि अवस्थायें औपशमिक भाव है, यह अर्थ कर्म के भावो पर लागू पडता है। (२) कर्म की उपशम आदि अवस्थाओं से होने वाली पर्याय औपशमिक आदि भाव है, यह अर्थ जीव के भावो पर लागू पडता है।

धर्मास्तिकाय जीव, पुद्गलों की गति में सहायक बनने रूप अपने कार्य में अनादि काल से परिणत हुआ करता है। इसीलिये उसमें सिर्फ पारिणामिक भाव माना है। इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक बनने के रूप कार्य में, आकाशास्तिकाय अवकाश देने रूप कार्य में और काल समयपर्याय रूप स्वकार्य मे अनादि काल से परिणमन करता आ रहा है। ये चारों द्रव्य स्वकार्य-मर्यादा के अलावा अन्य कोई कार्य नही करते है।

पुद्गलास्तिकाय में पारिणामिक और औदयिक, यह दो भाव है। सो पुद्गल के परमाणु और स्कंध रूप पर्यायों के होने की अपेक्षा से है। परमाणु पुद्गल मे तो केवल पारिणामिक भाव होता है किन्तु स्कंध रूप पुद्गल पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव वाले हैं। स्कन्धों में भी द्व्यणुक आदि स्कंध स्व-स्वरूप मे परिणत होते रहने के कारण पारिणामिक भाव वाले है और औदारिक आदि शरीर रूप स्कंध पारिणामिक, औदयिक दो भाव युक्त हैं। औदारिक आदि शरीर औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदयजन्य होने के कारण औदयिक भाव वाले है।

पुद्गल द्रव्य में जो दो भाव कहे है सो कर्म-पुद्गल से भिन्न पुद्गल के समझना चाहिए। क्योकि यह पूर्व में बताया जा चुका है कि—कर्म-पुद्गल के तो औपशमिक आदि पांचों भाव होते है।

अजीव द्रव्यो में भावों के सम्बन्ध में उक्त कथन का सारांश यह है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं। पुद्गलास्तिकाय के सिवाय शेप चार अजीव द्रव्यों में पारिणामिक भाव इस प्रकार होता है—धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों की गति में, अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होने का कार्य अनादि काल से कर रहा है। आकाशास्तिकाय जीव और पुद्गल द्रव्य को अवकाश देने रूप

कार्य में और काल समयपर्याय रूप स्वकार्य मे परिणमन कर रहे है। इसीलिये इन चारों में अनादि पारिणामिक भाव है।

पुद्‌गल में पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव है। पारिणामिक भाव के दो भेद है—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक। द्वयणुक आदि स्कंध मे सादि काल से उस उस भाव में परिणत होने से सादि पारिणामिक भाव जबकि मेरु आदि, शाश्वत पदार्थों मे अनादि काल से उस भाव में परिणत होते रहने के कारण अनादि पारिणामिक भाव होता है। औदारिक आदि शरीर नामकर्म आदि के उदय से ग्रहण किये हुए अनन्त पुद्‌गल परमाणु वाले स्कन्धों तथा उनमे होने वाले अंगोपांग आदि आकार और वर्णादि मे औदयिक और पारिणामिक भाव है। क्योकि ये स्व-स्वभाव मे परिणत होने से पारिणामिक भाव और औदारिक आदि शरीर नामकर्मजन्य होने से औदयिक भाव वाले है। जीव जिन्हें ग्रहण नही कर सकता ऐसे द्वि-अणुक आदि स्कंधो मे जो वृद्धि-ह्रास होता है उसमें तो सादि पारिणामिक भाव घटता है। जीव जिसको ग्रहण कर सकता है ऐसे स्कंधो मे ही औदयिक भाव है। कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल स्कंधो मे औपशमिक आदि भाव पाये जाते है, अतः उनकी यहाँ विवक्षा नही की है।

इस प्रकार से कर्म और अजीव द्रव्यो मे भावों का कथन करने के बाद गुणस्थानो मे भावों का निरूपण करते है।

सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

शब्दार्थ—सम्माइ—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि, चउसु—चार गुणस्थानो मे, तिग चउभावा—तीन अथवा चार भाव, चउपण—चार या पांच, उवसामग—उपशमक मे (नौवे, दसवें गुणस्थान मे), उवसंते—उपशान्तमोह मे, चउ—चार, खीणा—क्षीणमोह

अपुव्वे—अपूर्वकरण मे, **तिन्नि**—तीन भाव, **सेस गुणट्ठाणग**—शेष गुणस्थानो मे, **एगजिए**—एक जीव में ।

गाथार्थ—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में चार भाव, चार या पॉच भाव उपशमक (नौवें, दसवे) और उपशांतमोह गुणस्थान में, क्षीणमोह और अपूर्वकरण गुणस्थान मे चार भाव और शेष गुणस्थानों में तीन भाव। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा भाव समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा मे एक जीव के आश्रय से गुणस्थानों मे औपशमिक आदि मूल भावों का दिग्दर्शन कराया है।

गुणस्थानों में मूल भावों का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम कहा है—'सम्माइचउसु तिग चउ'—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में तीन या चार भाव होते हैं। यानी चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि, पॉचवे देशविरति, छठे प्रमत्तविरत और सातवें अप्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानों मे तीन भाव ये है—१ औदयिक, २ पारिणामिक और ३ क्षायोपशमिक। औदयिक भाव मनुष्यगति आदि रूप में, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप में और क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि रूप में पाया जाता है। लेकिन जब क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व इन गुणस्थानो मे हो तब इन दोनों में से कोई एक सम्यक्त्व तथा पूर्वोक्त तीन भावों के मिलाने से चार भाव समझना चाहिये। पाये जाने वाले चार भावो का विवक्षाभेद से इस प्रकार कथन किया जायेगा—

१ औदयिक, २ पारिणामिक, ३ क्षायोपशमिक और ४ औपशमिक, अथवा १ औदयिक, २ पारिणामिक, ३ क्षायोपशमिक और ४ क्षायिक ।

नौवे, दसवे और ग्यारहवें इन तीन गुणस्थानो मे चार या पाँच भाव पाये जाते है—भावा चउ पणुवसामगुवसंते। यानी—अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह इन गुणस्थानो में या तो

औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र ये चार भाव अथवा औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये पाँच भाव पाये जाते है। चार या पाँच भाव पाये जाने की विभिन्नता का कारण यह है कि चार भाव तो उस समय पाये जाते है जबकि औपशमिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि वाला हो और नौवे, दसवे गुणस्थानवर्ती जीव के औपशमिक चारित्र होने पर पाँच भाव माने जाते है।[1]

बारहवे क्षीणमोह और आठवे अपूर्वकरण इन दो गुणस्थानों मे चार भाव होते है। बारहवे गुणस्थान मे पाये जाने वाले चार भाव इस प्रकार हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक, पूर्वोक्त इन तीनों के साथ क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र। आठवे गुणस्थान मे पूर्वोक्त औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक के साथ औपशमिक और क्षायिक इन दो मे से कोई एक सम्यक्त्व के होने से चार भाव समझना चाहिये।

शेष गुणस्थानों (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवे, चौदहवे) में तीन भाव है—तिन्नि सेसगुणट्ठाणग। इन पाँच गुणस्थानों मे से पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान मे औदयिक—मनुष्य आदि गति, पारिणामिक—जीवत्व आदि और क्षायोपशमिक—भावेन्द्रियां आदि, ये तीन भाव पाये जाते हैं तथा तेरहवें, चौदहवे गुणस्थान मे औदयिक—मनुष्यत्व, पारिणामिक जीवत्व और क्षायिक—ज्ञान आदि, ये तीन भाव है।

गाथा मे एक जीव के आश्रय से गुणस्थानो में भावो का कथन किया गया है—एगजिए। एक जीवाश्रित भावो की संख्या जैसी इस गाथा

---

१ अमीषामेव चतुर्णां मध्येऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक-वर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनाद् औपशमिकचारित्र-प्रक्षेपे पंचम इति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६७

में है वैसी ही पंचसंग्रह २।६४ मे[1] भी है। किन्तु इस गाथा की टीका और पंचसंग्रह की उक्त गाथा की टीका मे थोड़ा-सा व्याख्याभेद है। जिसको यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

गुणस्थानों में भाव सम्बन्धी पंचसंग्रह का अभिमत

गाथा की स्वोपज्ञ टीका में 'उपशमक', 'उपशांत' इन दो पदों से नौवां, दसवा और ग्यारहवां यह तीन गुणस्थान ग्रहण किये है और 'अपूर्व' पद से सिर्फ आठवां गुणस्थान। नौवे आदि तीन गुणस्थानों में उपशम श्रेणि वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि को या क्षायिक सम्यग्दृष्टि को औपशमिक चारित्र माना है। आठवे गुणस्थान में औपशमिक या क्षायिक किसी भी सम्यक्त्व वाले को औपशमिक चारित्र इष्ट नही है किन्तु क्षायोपशमिक है। जो गाथा मे 'अपूर्व' पद को अलग से ग्रहण करने से स्पष्ट है। क्योंकि यदि आठवे गुणस्थान में भी औपशमिक चारित्र इष्ट होता तो अपूर्व शब्द अलग से ग्रहण न करके उपशमक शब्द से ही नौवें आदि गुणस्थान की तरह आठवें का भी संकेत किया जाता। नौवें और दसवे गुणस्थान के क्षपकश्रेणि गत जीव सम्वन्धी भावों व चारित्र का उल्लेख टीका में नही है।

लेकिन पचसंग्रह २।६४ की टीका में श्री मलयगिरि ने 'उपशमक' 'उपशान्त' पद से आठवे से ग्यारहवे तक उपशम श्रेणि वाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पद से आठवा, नौवां, दसवा और वारहवा यह चार गुणस्थान ग्रहण किये है। उपशमश्रेणि वाले को औपशमिक चारित्र माना है किन्तु क्षपकश्रेणि वाले के लिये चारित्र का कोई उल्लेख नही किया है।

ग्यारहवें गुणस्थान मे मोहनीयकर्म का सम्पूर्ण उपशम हो जाने के

---

१ सम्माइ चउसु तिय चउ उवसममुवसतयाण चउ पच।
चउ खीणअपुव्वाण तिन्नि उ मावावसेसाण ॥

कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र होता है। नौवे और दसवें इन दो गुणस्थानों में औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो चारित्र होते है। क्योंकि इन दो गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय की कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती है, सभी नहीं। अतएव उपशांत प्रकृतियो की अपेक्षा औपशमिक और अनुपशांत प्रकृतियों की अपेक्षा क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिए। यद्यपि यह बात स्पष्टता से नही कही गई है किन्तु पंचसंग्रह ३।२५ की टीका देखने से सन्देह नही रहता है। क्योकि उसमें सूक्ष्मसंपराय चारित्र को जो दसवे गुणस्थान मे होता है, क्षायोपशमिक वताया है। पंचसग्रह की गाथा पूर्व मे उल्लिखित है। इसी प्रकार क्षपकश्रेणि वाले के चारित्र मोहनीय की कुछ प्रकृतियों का क्षय और कुछ प्रकृतियो का क्षयोपशम होने से क्षायिक और क्षायोपशमिक चारित्र आठवे, नौवें, दसवे और वारहवे गुणस्थानों मे जानना चाहिए।[1]

एक जीव मे भिन्न-भिन्न समय मे और अनेक जीवो मे एक समय या भिन्न-भिन्न समय मे पाये जाने वाले भावों का विवेचन इस प्रकार है—

इस गाथा में किसी एक जीव मे विवक्षित समय मे पाये जाने वाले भावो का कथन किया गया है। अव एक जीव मे भिन्न-भिन्न

---

१ दिगम्बर ग्रन्थो मे उपशमश्रेणि वाले ८-११ चार गुणस्थानो मे औपशमिक चारित्र ही माना है तथा क्षपकश्रेणि वाले चार गुणस्थानो (८, ९, १०, १२) मे क्षायिक चारित्र। दोनो मे क्षायोपशमिक चारित्र का स्पष्ट निषेध है। तत्सम्बन्धी गो० कर्मकाड की गाथाये इस प्रकार है—

> अयदुवसमगचउक्के एक्क दो उवसमस्स जादिपदो।
> गइगपद तत्थेक्क गवगे जिणसिद्धगेसु दु पण चदू ॥८४५॥
> मिच्छतिये मिस्सपदा तिण्णि य अयदम्मि होंति चत्तारि।
> देसतिये पंचपदा तत्तो खीणोत्ति तिण्णिपदा ॥८४६॥

समय में पाये जाने वाले भावों और अनेक जीवों में एक समय मे या भिन्न-भिन्न समय में पाये जाने वाले भावों का गुणस्थानों की अपेक्षा विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

एक जीव में भिन्न-भिन्न समय में अथवा अनेक जीवों मे एक समय में पांचों भाव हो सकते है और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले तीन गुणस्थानों में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक यह तीन भाव होते है। चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक आठ गुणस्थानों में पाचों भाव, बारहवें गुणस्थान मे औपशमिक के सिवाय शेष चार भाव होते है, तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान में क्षायिक, औदयिक, पारि-णामिक यह तीन भाव है।

अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद

औपशमिक—भाव के भेद इस प्रकार हैं—सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त और चारित्र ९, १०, ११ इन तीन गुणस्थानों में होता है।

क्षायोपशमिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार है—पहले, दूसरे दो गुणस्थानों में तीन अज्ञान, चक्षु-अचक्षु दर्शन, दानादि पांच लब्धियाँ, ये दस भेद होते हैं। तीसरे मिश्रदृष्टि गुणस्थान में तीन ज्ञान (मिश्र), तीन दर्शन (यहाँ अवधिदर्शन सिद्धान्त की अपेक्षा माना है), सम्यग्‌मिथ्या-दृष्टि (मिश्रदृष्टि-मिश्रमोहनीय), दानादि पॉच लब्धियाँ, यह वारह भाव, चौथे गुणस्थान मे तीसरे गुणस्थान वाले वारह किन्तु मिश्र-दृष्टि के स्थान पर सम्यक्त्व, पाँचवे गुणस्थान में चौथे गुणस्थान वाले वारह तथा देशविरति कुल तेरह, छठे, सातवे गुणस्थान मे मनपर्याय-ज्ञान सहित तथा देशविरति के वदले सर्वविरति को मिलाने से चौदह यानी पाँचवें गुणस्थान के तेरह भावो में से देशविरति के स्थान पर सर्वविरति का प्रक्षेप करने से तेरह तथा मनपर्यायज्ञान मिलाने से

प्राप्त होने मे बहुत विलम्ब नही लगता है, इस अपेक्षा से तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान मे भव्यत्व भाव पूर्वाचार्यों ने नही माना है।

क्षायिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार है—पहले तीन गुणस्थानों मे क्षायिक भाव नही है। चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक आठ गुणस्थानों में सम्यक्त्व, बारहवे गुणस्थान में सम्यक्त्व और चारित्र तथा तेरहवे, चौदहवें गुणस्थान में सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दानादि पॉच लब्धियॉ कुल नौ भाव होते है।[1]

---

1 दिगम्बर ग्रन्थ—गो० कर्मकाड गा० ८२० से ८७५ तक स्थानगत और पदगत भंगो द्वारा भावो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सक्षेप मे वह वर्णन इस प्रकार है—

एक जीव आश्रित भावो के उत्तर भेद—

१. **औपशमिक**—चौथे से आठवे गुणस्थान तक सम्यक्त्व और नौवे से ग्यारहवे गुणस्थान तक सम्यक्त्व व चारित्र।

२. **क्षायोपशमिक**—पहले दो गुणस्थानो मे मति, श्रुत दो या विभगज्ञान सहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दानादि पाच लब्धियाँ। तीसरे मे दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धि। चौथे मे दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त अवस्था मे अचक्षु एक या अवधि सहित दो दर्शन और पर्याप्त अवस्था मे दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धि, पाँचवे मे दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पाँच लब्धि, छठे-सातवे मे दो, तीन या मनपर्यायज्ञान पर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, सर्वविरति, पाच लब्धियाँ, आठवे, नौवें, दसवें गुणस्थान मे सम्यक्त्व को छोड़कर छठे, सातवे गुणस्थान वाले सब क्षायोपशमिक भाव, ग्यारहवे, बारहवे मे चारित्र को छोड दसवे गुणस्थान वाले भाव।

क्षायिक—चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक मे सम्यक्त्व, बारहवे मे सम्यक्त्व और चारित्र और तेरहवे, चौदहवे मे सभी (नौ) क्षायिक भाव।

औदयिक—पहले गुणस्थान मे अज्ञान, असिद्धत्व, असयम, एक लेश्या, एक कपाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व, दूसरे मे मिथ्यात्व को छोड़कर

गुणस्थानों में औपशमिक आदि भावों का विवरण[1]

क्रम संख्या	गुणस्थान	एक जीव में कुल मूल भाव ५	सर्व जीवों में कुल मूल भाव ५	औपशमिक २	क्षायिक ९	क्षायोपशमिक १८	औदयिक २१	पारिणामिक ३	कुल उत्तर भेद ५३
१.	मिथ्यात्व	३	३	०	०	१०	२१	३	३४
२.	सासादन	३	३	०	०	१०	२०	२	३२
३.	मिश्र	३	३	०	०	१२	१९	२	३३
४.	अविरति सम्यग्दृष्टि	३–४	५	१	१	१२	१९	२	३५
५	देशविरति	३–४	५	१	१	१३	१७	२	३४
६.	प्रमत्तसयत	३–४	५	१	१	१४	१५	२	३३
७.	अप्रमत्तसयत	३–४	५	१	१	१४	१२	२	३०
८.	अपूर्वकरण	४	५	२	१	१३	१०	२	२८
९.	अनिवृत्तिकरण	४–५	५	२	१	१३	१०	२	२८
१०.	सूक्ष्मसपराय	४–५	५	२	१	१३	४	२	२२
११	उपशान्तमोह	४–५	५	२	१	१२	३	२	२०
१२.	क्षीणमोह	४	४	०	२	१२	३	२	१९
१३.	सयोगिकेवली	३	३	०	९	०	३	१	१३
१४.	अयोगिकेवली	३	३	०	९	०	२	१	१२

१—इस विवरण मे गुणस्थानो मे भावो के जो उत्तर-भेद बतलाये है, वे सब जीवो की अपेक्षा समझना चाहिये।

अनन्त भी तीन प्रकार का जानना चाहिए। ये सब भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे संख्या का विचार प्रारम्भ किया गया है। शास्त्रों मे संख्या तीन प्रकार की बतलाई है—१ संख्यात, २ असख्यात, ३ अनन्त। उनमें से मूलभेद की अपेक्षा सख्यात एक ही है। असंख्यात के तीन भेद है—परीत्त-असंख्यात, युक्त-असंख्यात और निजपद-युक्त असख्यात अर्थात् असंख्यातासख्यात। इसी तरह अनन्त के भी तीन भेद इस तरह होते हैं—परीत्त-अनन्त, युक्त-अनन्त और निजपद-युक्त-अनन्त यानी अनन्तानन्त। इस प्रकार से सख्या के मूल सात भेद होते है।

यह सातों भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा से तीन-तीन प्रकार के है। जिससे सात को तीन से गुणित करने पर इक्कीस भेद हो जाते है। इक्कीस भेदो के नाम क्रमशः इस प्रकार है—

१ जघन्य संख्यात, २ मध्यम सख्यात, ३ उत्कृष्ट संख्यात।

४ जघन्य परीत्त-असंख्यात—५ मध्यम परीत्त-असंख्यात, ६ उत्कृष्ट परीत्त-असंख्यात।

७ जघन्य युक्त-असख्यात, ८ मध्यम युक्त-असंख्यात, ९ उत्कृष्ट युक्त-असख्यात।

१० जघन्य असख्यात-असख्यात, ११ मध्यम असख्यात-असख्यात, १२ उत्कृष्ट असख्यात-असख्यात।

१३ जघन्य परीत्त-अनन्त, १४ मध्यम परीत्त-अनन्त, १५ उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त।

१६ जघन्य युक्त-अनन्त, १७ मध्यम युक्त-अनन्त १८ उत्कृष्ट युक्त-अनन्त।

१९ जघन्य अनन्तानन्त, २० मध्यम अनन्तानन्त, २१ उत्कृष्ट अनन्तानन्त।

इस प्रकार से सख्या के भेदों को बतलाने के पश्चात् आगे की गाथा में संख्यात के तीन भेदों का स्वरूप बतलाते है।

लहु संखिज्जं दु च्चिय अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबूद्दीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इमं ॥७२॥

शब्दार्थ—**लहु**—जघन्य, **संखिज्जं**—सख्यात, **दुच्चिय**—दो ही, **अओ परं**—इसके उपरात, **मज्झिमं**—मध्यम, **तु**—तथा, **जा गुरुय**—उत्कृष्ट तक, **जंबूद्दीवपमाणय**—जम्बूद्वीप प्रमाण, **चउ पल्ल**—चार पल्यो, **परूवणाइ**—प्ररूपणा करके, **इमं**—इस उत्कृष्ट सख्यात को।

गाथार्थ—दो की सख्या ही जघन्य संख्यात है। इसके (दो के) उपरांत उत्कृष्ट संख्यात तक मध्यम संख्यात जानना चाहिये। जम्बूद्वीप प्रमाण चार पल्यों की प्ररूपणा करके इस उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण जाना जाता है। (पल्यों के नाम, प्रमाण आदि आगे की गाथा में कहे है)।

विशेषार्थ—गाथा मे सख्यात के जघन्य, मध्यम भेदों का स्वरूप और उत्कृष्ट भेद को स्पष्ट करने का संकेत किया गया है।

जघन्य संख्यात को बतलाते हुए कहा है 'लहु संखिज्ज दु च्चिय' दो की संख्या जघन्य संख्यात है। दो को जघन्य संख्यात कहने का कारण यह है कि संख्या का मतलब भेद (पार्थक्य) से है, अर्थात् जिसमे भेद प्रतीत हो, उसे संख्या कहते है। एक संख्या भेदरहित है, उसमें भेद प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि जब एक घड़ा देखते है तब यह घड़ा है ऐसी प्रतीति तो उत्पन्न होती है किन्तु यह एक घड़ा है ऐसी प्रतीति उत्पन्न नहीं होती है। अथवा लेने-देने में एक वस्तु की प्राय: कोई गणना करके लेता-देता नहीं है। इसीलिये सबसे जघन्य होने पर भी एक की जघन्य संख्यात के रूप में गणना नही की है। भेद की प्रतीति दो आदि में होती है इसीलिये दो को ही जघन्य संख्यात माना जाता है।

दो से ऊपर और उत्कृष्ट संख्यात तक बीच की सब संख्याये

मध्यम संख्यात है—'अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।' यानी इसके बाद तीन से लेकर उत्कृष्ट संख्यात तक के मध्य में जितनी भी संख्यायें होंगी, वे सब मध्यम संख्यात मानी जायेगी। कल्पना से मान लो कि १०० की संख्या उत्कृष्ट संख्यात है और दो की संख्या जघन्य संख्यात। तो २ और १०० के बीच ३ से लेकर ९९ तक जितनी भी संख्याये होंगी वे सब मध्यम संख्यात है।

उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण जम्बूद्वीप के प्रमाण[1] जैसे चार पल्यों की प्ररूपणा द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। जिसका संकेत आगे की गाथा मे करते है।

पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा।
जोयणसहसोगाढा सवेइयंता ससिहभरिया ॥७३॥

शब्दार्थ—पल्ला—पल्य, अणवट्ठिय—अनवस्थित, सलाग—शलाका, पडिसलाग—प्रतिशलाका, महासलागा—महाशलाका, अक्खा—नाम के, जोयणसहस—हजार योजन, ओगाढा—गहरा, सवेइयंता—वेदिका के अंत सहित, ससिह—शिखा तक, भरिया—भरना।

गाथार्थ—अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका यह चार पल्य है। ये चारों पल्य एक हजार योजन गहरे और वेदिका प्रमाण ऊंचे है, जिन्हे शिखा पर्यन्त भरना चाहिये।

---

१ जम्बूद्वीप की लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन प्रमाण है और वृत्ताकार होने से इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष, कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल प्रमाण है—

परिही तिलक्ख सोलस सहस्स दो य सय सत्तवीसहिया।
कोसतिग अट्ठवीसं धणुसय तेरंगुलद्धहियं ॥

—बृह० क्षे०, गा० ६

विशेषार्थ—गाथा में उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण बताने के लिये कल्पना का सहारा लिया है। शास्त्र में सत् और असत् दो प्रकार की कल्पना होती है। जो कार्य मे परिणत की जा सके उसे सत्कल्पना और जो किसी वस्तु का स्वरूप समझाने में उपयोगी मात्र हो किन्तु कार्य मे परिणत न की जा सके उसे असत्कल्पना कहते हैं। पल्यों का विचार असत्कल्पना है और इसका प्रयोजन उत्कृष्ट सख्यात का स्वरूप समझना मात्र है।

गाथा में पल्य चार कहे गये है—१ अनवस्थित, २ शलाका, ३ प्रतिशलाका और ४ महाशलाका। इन चारों पल्यों की लम्बाई, चौडाई, गहराई और ऊँचाई शास्त्रों में इस प्रकार बतलाई है कि लम्बाई-चौड़ाई जम्बूद्वीप के बराबर—एक-एक लाख योजन की, गहराई एक हजार योजन प्रमाण और ऊँचाई पद्मवर वेदिका प्रमाण जो साढे आठ योजन प्रमाण है। पल्य की ऊँचाई और गहराई मेरु पर्वत की समतल भूमि से समझना चाहिये। सारांश यह है कि ये पल्य तल मे शिखा तक १००८$\frac{1}{2}$ योजन है।

उक्त चार पल्यो मे से पहला अनवस्थित पल्य सरसों के दानो से शिखा तक ठांस कर लबालब भरना चाहिये।

पल्यों के नामकरण का कारण

अनवस्थित पल्य—आगे बढते जाने वाला होने से नियत स्वरूप के अभाव वाला पल्य अनवस्थित पल्य कहलाता है। जब पहला अनवस्थित पल्य खाली करते है उस समय वह नियत माप वाला होने से अनवस्थित नही कहलाता है किन्तु उसके बाद आगे जाने पर क्रम-क्रम से बढ़ते जाने के कारण उसका परिमाण अनियमित होने से उसे अनवस्थित कहते है और अनवस्थित होने के पश्चात ही साक्षी रूप सरसों का दाना शलाका पल्य में डाला जाता है, उसके पहले नहीं।

अनवस्थित पल्य अनेक बनते है, इनकी लम्बाई, चौडाई एक-सी

नहीं है, अनियत है किन्तु ऊँचाई नियत है अर्थात् १००८$\frac{1}{4}$ योजनमान है। पहले अनवस्थित (मूल अनवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई एक लाख योजन की है और आगे के सब अनवस्थित (उत्तर अनवस्थित) पल्यों की लम्बाई-चौड़ाई अधिकाधिक है। जैसे जम्बूद्वीप प्रमाण मूल अनवस्थित पल्य को सरसों के दानों से भरकर जम्बूद्वीप से लेकर आगे के प्रत्येक समुद्र, द्वीप में उन सरसों में से एक-एक दाना डालते जाना। इस प्रकार से डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में मूल अनवस्थित पल्य खाली हो जाये तब जम्बूद्वीप (मूल स्थान) से उस द्वीप या समुद्र तक की लम्बाई-चौड़ाई वाला नया पल्य बनाया जाये। यह पहला उत्तर अनवस्थित पल्य है।

उस पल्य को भी ठांस-ठांस कर परिपूर्ण शिखा तक सरसों से भरकर उन दानों में से एक-एक को आगे के प्रत्येक द्वीप, समुद्र में डालना, डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में उस पहले उत्तर अनवस्थित पल्य के सब सरसों के दाने समाप्त हो जायें तब एक साक्षीभूत सरसों का दाना शलाकापल्य में डालना।

उस उत्तर अनवस्थित पल्य के दाने जिस द्वीप या समुद्र में समाप्त हुए हैं, उसके बराबर मूल स्थान (जम्बूद्वीप) से लेकर लम्बा-चौड़ा पल्य फिर से बनाना। यह दूसरा उत्तर अनवस्थित पल्य है। इसे भी सरसों के दाने से भरकर आगे के द्वीप, समुद्रों में एक-एक दाना डालकर जिस द्वीप या समुद्र में उन दानों की समाप्ति हो तो एक दाना साक्षी रूप से शलाका पल्य में डालना।

इसी प्रकार से आगे-आगे मूल स्थान से लेकर समाप्त होने वाले सरसों के दाने के द्वीप, समुद्र तक के विस्तार वाले अनवस्थित पल्यों का निर्माण करते जाना। ये सभी पल्य पूर्व-पूर्व की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई में क्रमशः बड़े-बड़े ही होते जायेंगे। ये अनवस्थित पल्य ... [illegible] ... की संख्याओं के लिए

शलाका पल्य—एक-एक साक्षीभूत सरसों के दाने से भरे जाने के कारण इसको शलाका पल्य कहते है। शलाका पल्य में डाले गये सरसों के दानों की संख्या से यही जाना जाता है कि इतनी बार उत्तर अनवस्थित पल्य खाली हुए है।

प्रतिशलाका पल्य—प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दाने से भरे जाने के कारण यह प्रतिशलाका पल्य कहलाता है। हर बार शलाका पल्य के खाली होने पर एक-एक सरसों का दाना प्रतिशलाका पल्य में डाला जाता है। प्रतिशलाका पल्य में डाले गये इन दानों की संख्या से यह ज्ञात हो जाता है कि इतनी बार शलाका पल्य भरा जा चुका है।

महाशलाका पल्य—महासाक्षी भूत सरसों के दानों द्वारा भरे जाने के कारण यह महाशलाका पल्य कहलाता है। प्रतिशलाका पल्य के एक-एक बार भर जाने और खाली हो जाने पर एक-एक सरसों का दाना महाशलाका पल्य में डाल दिया जाता है। जिससे यह जाना जाता है कि इतनी बार प्रतिशलाका पल्य भरा गया और खाली किया गया।

अब आगे की गाथाओं में पल्यों के भरने आदि की विधि बतलाते है।

तो दीवुदहिसु इक्किक्क सरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे।
पढमं व तदंतं चिय पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागख (खि) वणेणं।
पुन्नो बीओ य तओ पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥
खीणे सलाग तइए एवं पढमेहिं बीययं भरसु।
तेहि य तइयं तेहि य तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

शब्दार्थ—**तो**—उसके बाद, **दीवदहिसु**—द्वीप, समुद्र मे, **इक्किक्क**—एक-एक, **सरिसवं**—सरसो के दाने को, **खिविय**—डालकर, **निट्ठिए पढमे**—पहले पल्य के खाली होने पर, **पढमं व**—पहले पल्य

की तरह, तदंत चिय—उस द्वीप या समुद्र के अंत तक को, पुण भरिए—पुनः भरकर, तम्मि—उस पल्य को, तह—वैसे ही, खीणे—खाली होने पर।

खिप्पइ—डाले, सलागपल्ले—शलाका पल्य में, एगु—एक दाना, सरिसवो—सरसों का, इय—इस प्रकार, सलाग—शलाका में, खवणेणं—डालने के द्वारा, पुन्नो—पूर्ण, बीओ—दूसरा, य—और, तओ—उसके बाद, पुव्वं पिव—पहले की तरह, तम्मि—उसको, उद्धरिए—लेकर के।

खीणे—खाली होने पर, सलाग—शलाका, तइए—तीसरे में, एवं—इस प्रकार, पढमेहिं—पहले के द्वारा, बीयय—दूसरा शलाका पल्य, भरसु—भरना, तेहिं—उसके द्वारा, य—और, तइयं—तीसरा, तेहिं य—उसके द्वारा और, तुरियं—चौथा, जा—जब तक, किर—निश्चित, फुडा—स्फुट पूरी तरह, चउरो—चारों।

गाथार्थ—उसके बाद अनवस्थित पल्य में से एक-एक द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालने से पहले पल्य के खाली होने पर जिस द्वीप या समुद्र में सरसों के दाने समाप्त हों उस द्वीप या समुद्र के अंत जितना पल्य बनाकर पहले की तरह सरसों के दानों से भरें और उसको भी पहले की तरह एक-एक द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालकर खाली होने पर—

शलाकापल्य में एक सरसों का दाना डालें। इस प्रकार शलाकापल्य में साक्षीभूत सरसों का दाना डालने के द्वारा जब शलाकापल्य भर जाये तो पहले की तरह उसे लेकर—

उसमें से एक-एक दाना निकाल कर उसे खाली करना और प्रतिशलाका में एक दाना डालना। इस प्रकार से पहले के द्वारा दूसरा पल्य भरना, दूसरे के द्वारा तीसरा और तीसरे के द्वारा चौथा भरना। इस प्रकार चारों पल्यों को शिखा तक परिपूर्ण भर देना चाहिये।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण बताने के लिये कल्पना का सहारा लेकर पहले चार पल्य बताये गये है। इन तीन गाथाओं मे उन पल्यों को भरने की विधि का निरूपण किया है।

सबसे पहला पल्य अनवस्थितपल्य है। यह दो प्रकार का है—१. मूल अनवस्थित और २. उत्तर अनवस्थित। मूल अनवस्थितपल्य तो जम्बूद्वीप-प्रमाण एक लाख योजन लम्बाई-चौड़ाई वाला वृत्ताकार तथा ऊँचा १००८$\frac{1}{2}$ योजन है। इसको सरसों के दानों से शिखा पर्यन्त ठांस-ठास कर परिपूर्ण भर देने के बाद उसमें से एक-एक सरसों का दाना जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप, समुद्र में डालना। इस प्रकार एक-एक सरसों का दाना डालने पर जिस द्वीप या समुद्र में यह मूल अनवस्थित पल्य खाली हो जाये तो मूल स्थान—जम्बूद्वीप से लेकर उतने लम्बे-चौड़े क्षेत्र प्रमाण और ऊँचाई मे मूल अनवस्थित पल्य जितना दूसरा अनवस्थित पल्य बनाना चाहिये। इसको सरसों के दानों से शिखा पर्यन्त परिपूर्ण भर दिया जाये।

इस प्रथम उत्तर-अनवस्थितपल्य में से सरसों का एक-एक दाना मूल अनवस्थितपल्य के सरसों के दाने जिस द्वीप या समुद्र मे डालने पर समाप्त हुए थे, पुनः क्रम से आगे के द्वीप समुद्र में डालना। इस प्रकार एक-एक सरसो का दाना डालने पर उस पल्य को खाली किया जाये। जब वह खाली हो जाये तब एक दाना शलाकापल्य मे डाल दिया जाये।

इस प्रकार करने पर जब अनवस्थित पल्य खाली होता जाये तब एक-एक सरसों का दाना शलाकापल्य में डालते जाना चाहिये और जिस द्वीप या समुद्र में वह पल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर के नये-नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करते जाना चाहिये और उसे द्वीप या समुद्र मे खाली करके एक दाना शलाका-पल्य मे डालें। इस प्रकार करते-करते जब शलाकापल्य पूर्ण भर

जाये तब जिस द्वीप या समुद्र मे अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर क्षेत्र के अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसों से भरना। उसको खाली करने पर साक्षीभूत सरसो का दाना शलाकापल्य में समाने—रखे जाने की स्थिति में न होने के कारण उसे जैसा का तैसा ही भरा रखना चाहिये और उस शलाकापल्य को लेकर एक-एक द्वीप, समुद्र मे एक-एक सरसों का दाना डालते जाना चाहिये। इस प्रकार शलाकापल्य खाली हो तब एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डालना। इस समय अनवस्थितपल्य भरा हुआ, शलाकापल्य खाली और प्रतिशलाका मे एक सरसों का दाना होता है।

तदनन्तर अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप, समुद्र मे एक-एक सरसो डालते जाना चाहिये और खाली हो तब एक सरसों शलाकापल्य मे डालना और उस द्वीप या समुद्र जितने नये अनवस्थित पल्य की कल्पना करके भरना और पुनः एक-एक सरसो एक-एक द्वीप और समुद्र मे डालते जाना। इस प्रकार पुनः दूसरी बार शलाकापल्य को पूरा भरना और जिस द्वीप या समुद्र मे अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप समुद्र के बराबर के उत्तर-अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसों से भरना।

ऐसा करने पर अनवस्थित और शलाका पल्य भरे हुए है और प्रतिशलाकापल्य में एक सरसों का दाना है।

अब पुनः शलाकापल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालकर उसे खाली करना और खाली होने पर एक सरसो प्रतिशलाका मे डालना। ऐसा होने पर प्रतिशलाका में दो सरसो है, शलाकापल्य खाली है और अनवस्थित पल्य भरा हुआ है। बाद में भरे हुए अनवस्थितपल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप

विशेषार्थ—उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण बताने के लिये कल्पना का सहारा लेकर पहले चार पल्य बताये गये है। इन तीन गाथाओं मे उन पल्यों को भरने की विधि का निरूपण किया है।

सबसे पहला पल्य अनवस्थितपल्य है। यह दो प्रकार का है—१. मूल अनवस्थित और २ उत्तर अनवस्थित। मूल अनवस्थितपल्य तो जम्बूद्वीप-प्रमाण एक लाख योजन लम्बाई-चौड़ाई वाला वृत्ताकार तथा ऊँचा १००८$\frac{1}{2}$ योजन है। इसको सरसों के दानों से शिखा पर्यन्त ठांस-ठांस कर परिपूर्ण भर देने के बाद उसमें से एक-एक सरसों का दाना जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप, समुद्र मे डालना। इस प्रकार एक-एक सरसों का दाना डालने पर जिस द्वीप या समुद्र में यह मूल अनवस्थित पल्य खाली हो जाये तो मूल स्थान—जम्बूद्वीप से लेकर उतने लम्बे-चौड़े क्षेत्र प्रमाण और ऊँचाई में मूल अनवस्थित पल्य जितना दूसरा अनवस्थित पल्य बनाना चाहिये। इसको सरसों के दानो से शिखा पर्यन्त परिपूर्ण भर दिया जाये।

इस प्रथम उत्तर-अनवस्थितपल्य मे से सरसों का एक-एक दाना मूल अनवस्थितपल्य के सरसों के दाने जिस द्वीप या समुद्र मे डालने पर समाप्त हुए थे, पुनः क्रम से आगे के द्वीप समुद्र में डालना। इस प्रकार एक-एक सरसों का दाना डालने पर उस पल्य को खाली किया जाये। जब वह खाली हो जाये तब एक दाना शलाकापल्य मे डाल दिया जाये।

इस प्रकार करने पर जब अनवस्थित पल्य खाली होता जाये तब एक-एक सरसों का दाना शलाकापल्य मे डालते जाना चाहिये और जिस द्वीप या समुद्र मे वह पल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर के नये-नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करते जाना चाहिये और उसे द्वीप या समुद्र में खाली करके एक दाना शलाका-पल्य मे डालें। इस प्रकार करते-करते जब शलाकापल्य पूर्ण भर

जाये तब जिस द्वीप या समुद्र में अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर क्षेत्र के अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसों से भरना। उसको खाली करने पर साक्षीभूत सरसों का दाना शलाकापल्य में समाने—रखे जाने की स्थिति में न होने के कारण उसे जैसा का तैसा ही भरा रखना चाहिये और उस शलाकापल्य को लेकर एक-एक द्वीप, समुद्र मे एक-एक सरसों का दाना डालते जाना चाहिये। इस प्रकार शलाकापल्य खाली हो तब एक सरसो प्रतिशलाकापल्य में डालना। इस समय अनवस्थितपल्य भरा हुआ, शलाकापल्य खाली और प्रतिशलाका मे एक सरसो का दाना होता है।

तदनन्तर अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप, समुद्र मे एक-एक सरसों डालते जाना चाहिये और खाली हो तब एक सरसों शलाकापल्य मे डालना और उस द्वीप या समुद्र जितने नये अनवस्थित पल्य की कल्पना करके भरना और पुन. एक-एक सरसों एक-एक द्वीप और समुद्र में डालते जाना। इस प्रकार पुनः दूसरी वार शलाकापल्य को पूरा भरना और जिस द्वीप या समुद्र मे अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप समुद्र के बराबर के उत्तर-अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसो से भरना।

ऐसा करने पर अनवस्थित और शलाका पल्य भरे हुए है और प्रतिशलाकापल्य मे एक सरसो का दाना है।

अव पुनः शलाकापल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालकर उसे खाली करना और खाली होने पर एक सरसों प्रतिशलाका मे डालना। ऐसा होने पर प्रतिशलाका मे दो सरसों हैं, शलाकापल्य खाली है और अनवस्थित पल्य भरा हुआ है। अतः इस भरे हुए अनवस्थितपल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप

समुद्रों में एक-एक दाना डालना और खाली होने पर शलाकापल्य में एक साक्षीभूत सरसों का दाना डालना और इस प्रकार शलाका-पल्य को पूरा भरना चाहिए। तव अनवस्थितपल्य भी भरा हुआ होता है। बाद में शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रों में खाली करना और खाली होने पर एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डालना इस प्रकार अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाका और शलाकापल्य के द्वारा प्रतिशलाकापल्य पूर्ण भरना चाहिए।

जब प्रतिशलाका पल्य पूरा भरा हुआ होता है तब अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका यह तीनों पल्य भरे हुए होते है।

इसके पश्चात् प्रतिशलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप, समुद्रों मे खाली करना और जब खाली हो तब महाशलाका पल्य में एक साक्षीभूत सरसों डालना। इस समय महाशलाकापल्य में एक सरसो, प्रतिशलाका खाली और शलाका व अनवस्थित पल्य भरे हुए होते हैं। इस समय शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रों में खाली करना और खाली होने पर एक सरसों प्रतिशलाका पल्य में डालना। तव महाशलाका तथा प्रतिशलाका पल्य मे एक-एक सरसों और शलाका खाली तथा अनवस्थितपल्य भरा हुआ होता है।

इसके वाद अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रो मे खाली करना और शलाकापल्य को पुनः भरना। जव शलाकापल्य भर जाये तव अनवस्थितपल्य को भरा हुआ रखना चाहिए और शलाका-पल्य को खाली करके एक सरसो प्रतिशलाकापल्य मे डालना चाहिये। इस रीति से अनवस्थित द्वारा शलाका और शलाका द्वारा प्रतिशलाकापल्य को पूर्ण भरना चाहिये। जव प्रतिशलाकापल्य पूर्ण हो जाए तव महाशलाकापल्य मे एक सरसों और शेप पल्य भरे हुए होते हैं। इसके बाद प्रतिशलाकापल्य को खाली करके महा-शलाकापल्य में एक सरसो डालना और शलाका को खाली करके

प्रतिशलाकापल्य में एक सरसों डालना तथा अनवस्थितपल्य को खाली करके एक सरसों शलाकापल्य में डालना। इस प्रकार जब महाशलाकापल्य में एक सरसों के दाने की वृद्धि होती है तब प्रतिशलाकापल्य खाली होता है और शलाका तथा अनवस्थितपल्य भरे हुए होते हैं।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्य खाली हों तब एक-एक साक्षी सरसों आगे-आगे के पल्य में डालते जाना चाहिये। जब महाशलाकापल्य पूरा भर जाये तब प्रतिशलाकापल्य खाली और शलाका व अनवस्थितपल्य भरे हुए होते हैं। इसी प्रकार शलाका द्वारा प्रतिशलाका और अनवस्थित द्वारा शलाका को पूर्ण करते जाना चाहिये। जब महाशलाका और प्रतिशलाका पल्य पूर्ण होते हैं तब शलाकापल्य खाली होता है और अनवस्थितपल्य भरा हुआ।

इस समय अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य को पूर्ण भरना और शलाकापल्य जब पूरा भर जाये तब जो द्वीप या समुद्र हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर क्षेत्र जितने अनवस्थितपल्य की कल्पना करके उसे भी सरसों के द्वारा भर लेना चाहिये। इस प्रकार चारों पल्य पूर्ण भरे जाते हैं।

ग्रंथकार ने स्वोपज्ञ टीका में चारों पल्यों के भरे जाने की उक्त प्रणाली बतलाई है। लेकिन श्री जीवविजयजी महाराज ने अपने टबा मे यह बात अन्य प्रकार से बतलाई है। जो अन्य आचार्यो का मत है, ऐसा प्रतीत होता है। उसमें इस प्रकार बताया है—

पहले अनवस्थितपल्य द्वारा शलाकापल्य पूरा भरना. जब शलाकापल्य भर जाये तब अनवस्थितपल्य को खाली रखना और शलाका में से एक-एक सरसो डालना। शलाकापल्य खाली हो तब प्रतिशलाकापल्य में एक सरसों डालना, यानी जब प्रतिशलाका
एक सरसो हो तब शलाका और अनवस्थित पल्य खाली हो

इसके बाद जहाँ शलाकापल्य खाली हुआ है, उतने द्वीप समुद्रों के बराबर अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और इस रीति से अनवस्थित द्वारा शलाकापल्य भरना, शलाका द्वारा प्रतिशलाकापल्य भरना। जब प्रतिशलाका पूर्ण भर जाये तब अनवस्थित और शलाकापल्य खाली होते हैं।

इसके बाद प्रतिशलाका को लेकर उसमें के दाने एक-एक द्वीप-समुद्र में डालना और उसके खाली होने पर एक साक्षी सरसों महाशलाकापल्य में डालना। महाशलाकापल्य मे जब एक सरसो होता है तब पहले के तीन पल्य खाली होते है। इसलिये जहाँ प्रतिशलाकापल्य खाली हुआ है। उतने द्वीप समुद्र के क्षेत्र बराबर के नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और अनवस्थित द्वारा शलाका और शलाका द्वारा प्रतिशलाका और प्रतिशलाका द्वारा महाशलाकापल्य इस क्रम से पूर्ण भरना। जब महाशलाकापल्य पूरा भरा हुआ होता है तब प्रतिशलाका, शलाका और अनवस्थितपल्य खाली होते है।

अनन्तर जहाँ प्रतिशलाकापल्य खाली हुआ हो, वहाँ उतने ही बड़े अनवस्थितपल्य की कल्पना करके पुन: पूर्व क्रमानुसार एक-दूसरे को पूर्ण करना। इस प्रकार प्रतिशलाकापल्य पूर्ण भरा हुआ होता है तब महाशलाका और प्रतिशलाकापल्य भरे हुए होते है और शलाका व अनवस्थितपल्य खाली। इसके बाद जहाँ शलाकापल्य खाली हुआ हो उतने द्वीप या समुद्र के बराबर के अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और अनवस्थितपल्य द्वारा शलाका को पूर्ण भरना चाहिये और जहाँ अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उतने द्वीप समुद्र जितना अनवस्थितपल्य बनाकर उसको शिखा तक सरसों से पूर्ण भरना। इस प्रकार से चारों पल्य पूर्ण भरे जाते है।

इस प्रकार से टीका व टवा के मतानुसार अनवस्थित आदि चारो

पल्यों को भरने की विधि बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में इन सरसों के परिपूर्ण पल्यों के उपयोग के बारे में संकेत करते हैं।

पढमतिपल्लुद्धरिया दीवुदही पल्लचउसरिसवा य ।
सव्वो वि एग रासी रूवूणो परमसंखिज्जं ॥७७॥

शब्दार्थ—पढमतिपल्ल—पहले तीन पल्य, उद्धरिया—पूरे हुए हैं, दीवुदही—द्वीप और समुद्र में, पल्लचउ—चार पल्य के, सरिसवा—सरसों, य—और, सव्वो वि—सभी को, एग रासी—एक राशि इकट्ठा करने से, रूवूणो—एक रूप कम, परमसंखिज्जं—उत्कृष्ट संख्यात (है)।

गाथार्थ—पहले तीन पल्य जितने द्वीप समुद्रों में खाली हुए हैं, उनके सरसों के दानों और चारों पल्यों के सरसों के दानों की संख्या को मिलाने से जो संख्या हो उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्कृष्ट संख्यात की राशि का प्रमाण बतलाया है।

पूर्व में अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका पल्य को बार-बार सरसों के दानों से भरकर उनको खाली करने की विधि बतलाई है। उसके अनुसार जितने द्वीपों और समुद्रों में सरसों का एक-एक दाना पड़ा, उन सब द्वीपों की और सब समुद्रों की जो संख्या हुई, उसमें चारों पल्यो में भरे हुए सरसों के दानो की संख्या को मिलाने से जो संख्या होती है, उसमे से एक को कम कर देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण निकलता है। अर्थात् प्रत्येक द्वीप, समुद्र में डाले गये सरसों के दानों और चारों पल्यो के दानो को एकत्रित करके उसमें से एक को कम करने पर प्राप्त-राशि उत्कृष्ट संख्यात है।

जघन्य संख्यात दो और उत्कृष्ट संख्यात से पूर्व तक की जितनी भी बीच की संख्या है, उसे मध्यम संख्यात समझना।

शास्त्र मे जहाँ कही भी संख्यात शब्द का व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम संख्यात से मतलब है।[1]

दो से लेकर दहाई, सैकड़ा, हजार, लाख, करोड़, शीर्षप्रहेलिका आदि जो संख्यात की राशियाँ हैं, उनका तो किसी न किसी प्रकार वर्णन भी किया जा सकता है। लेकिन संख्यात संख्या इतनी ही नही है और इसके बाद की सख्या का कथन उपमा द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार से सख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदों का स्वरूप बतलाने के पश्चात अब आगे की दो गाथाओं में असख्यात और अनन्त का स्वरूप स्पष्ट करते है।

रूवजुयं तु परित्तासंखं लहु अस्स रासि अब्भासे।
जुत्तासंखिज्जं लहु आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥
वितिचउपंचमगुणणे कमा सगासंख पढमचउसत्त।
णंता ते रूवजुया मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

शब्दार्थ—**रूवजुयं**—रूप (एक) युक्त, **तु**—और, **परित्तासखं**—परीत्तासख्यात, **लहु**—लघु (जघन्य), **अस्स**—इसका, **रासि अब्भासे**—राशि अभ्यास करने पर, **जुत्तासंखिज्ज**—युक्तासख्यात, **लहु**—लघु (जघन्य), **आवलिया**—आवलिका के, **समयपरिमाण**—समय का परिमाण।

वितिचउपचम—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवे का, **गुणणे**—अभ्यास करने पर, **कमा**—क्रम से, **सगासंख**—सातवाँ असंख्यात (जघन्य असख्यात-असख्यात), **पढमचउसत्त**—पहला, चौथा और सातवा, **णंता**—अनन्त, **तेरूवजुया**—एक रूप सहित, **मज्झा**—मध्यम, **रूवूण**—एक (रूप) कम करने पर, **गुरुपच्छा**—पिछला उत्कृष्ट (होता है)।

---

१ सिद्धाते य जत्थ जत्थ संखिज्जगगहण कत तत्थ तत्थ सव्व अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्व। —अनुयोगद्वार चूर्णि

गाथार्थ—उत्कृष्ट संख्यात में रूप[1] (एक) को मिलाने से जघन्य परीत्तासंख्यात होता है। इसकी राशि का (जघन्य परीत्तासख्यात की राशि का) अभ्यास करने से जघन्य युक्तासख्यात होता है। इसे आवलिका के समयों का परिमाण जानना चाहिये।

दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें मूलभेद की राशि का अभ्यास करने पर अनुक्रम से सातवां असख्यात और पहला, चौथा एवं पांचवा अनन्त होता है। उसको रूप सहित करने पर मध्यम और एक कम करने पर पिछली संख्या का उत्कृष्ट होता है।

विशेषार्थ—गाथा में असंख्यात और अनन्त की संख्या का परिमाण वताने की सूत्रविधि बतलाई है। पहली गाथा में असख्यात के चार भेदो का और दूसरी गाथा में उसके शेष भेदों व अनंत के सब भेदों का स्वरूप बतलाया है।

पूर्व मे सख्यात के तीन भेदों—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट—का स्वरूप वतलाया है और यहां असंख्यात व अनन्त के भेदों का स्वरूप वतलाते है।

असख्यात और अनन्त के क्रमशः परीत्त, युक्त और निजपद-युक्त अर्थात् असख्यात-असंख्यात और अनंत-अनत, यह तीन-तीन भेद होते है तथा यह तीन-तीन भेद भी जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट की अपेक्षा से तीन-तीन प्रकार के है। ये भेद कुल मिलाकर नौ-नौ है। इनके पूरे नामों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। यहाँ इन भेदों का

---

१ दिगम्बर साहित्य मे भी रूप शब्द एक सख्या के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

रूवुत्तरेण ततो आवलिया सखभाग गुणगारे।
तप्पाउग्गेजादे वाउस्सोग्गाहण कमसो ॥

—गो० जीवकांड ११०

पूरा नाम न देकर अंक द्वारा क्रम का संकेत किया है। इसलिये इनके क्रम को जानने के लिये इस प्रकार से अंक स्थापना करते है—

जघन्य परीत्त असंख्यात	१,	मध्यम परीत्त असंख्यात	२
उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात	३,	जघन्य युक्त असंख्यात	४
मध्यम युक्त असंख्यात	५,	उत्कृष्ट युक्त असंख्यात	६
जघन्य असंख्यात-असंख्यात	७,	मध्यम असंख्यात-असख्यात	८
उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात	९,		

जघन्य परीत्त अनत	१,	मध्यम परीत्त अनन्त	२
उत्कृष्ट परीत्त अनन्त	३,	जघन्य युक्त अनन्त	४
मध्यम युक्त अनन्त	५,	उत्कृष्ट युक्त अनत	६
जघन्य अनन्त-अनन्त	७,	मध्यम अनन्त-अनन्त	८
उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त	९,		

सर्वप्रथम जघन्य परीत्त असख्यात का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है कि—'रूवजुयं तु परित्तासंखं लहु' उत्कृष्ट संख्यात की राशि मे एक सख्या के मिलाने से जघन्य परीत्त असंख्यात की राशि होती है। जैसे कि मान लो कि उत्कृष्ट संख्यात की राशि १०० है। इस राशि में १ को और मिलाने पर जघन्य परीत्त असंख्यात की संख्या होगी। यानी १०० उत्कृष्ट संख्यात है और १००+१=१०१ जघन्य परीत्त-असंख्यात का प्रमाण होगा।

इस जघन्य परीत्त असंख्यात की राशि का अभ्यास[1] करने पर

---

१ जिस संख्या का अभ्यास करना होता है, उसके अक को उतनी बार लिखकर आपस मे गुणा करना। अर्थात् पहले अक का दूसरे अक के साथ गुणा करना और जो गुणनफल आये उसका तीसरे अक के साथ गुणा करना और उसके गुणनफल का चौथे अक से गुणा करना। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के गुणनफल का अगले अक के साथ गुणा करना और अत मे जो गुणनफल प्राप्त हो, वही विवक्षित संख्या का अभ्याम है। जैसे कि ५

जो संख्या आती है वह जघन्य युक्त असंख्यात की संख्या है—अस्स रासि अब्भासे जुत्तासखिज्जं लहु। यही जघन्य युक्त असंख्यात आवलिका के समय का परिमाण है। अर्थात् एक आवलिका में असंख्यात समय होते है। शास्त्र में आवलिका के समयों को जो असंख्यात कहा है, वह जघन्य युक्त असंख्यात समझना चाहिये।

एक कम जघन्य युक्त असंख्यात को उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात तथा जघन्य परीत्त असख्यात एव उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात के बीच की सव संख्याओ को मध्यम परीत्त असंख्यात जानना चाहिये।

इस प्रकार से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट परीत्त असख्यात और जघन्य युक्त असख्यात इन चार की संख्या का निर्देश करने के वाद शेप असख्यात व अनन्त के नौ भेदों का स्वरूप वतलाते है।

जघन्य युक्त असख्यात का दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं बार अभ्यास करने पर अनुक्रम से 'सगासंख' निज पद असंख्यात अर्थात् असंख्यात-असंख्यात तथा पहला, चौथा और सातवां अनत होता है। वह इस प्रकार समझना चाहिये।

जघन्य युक्त असंख्यात की राशि का अभ्यास करने पर जघन्य असख्यात-असंख्यात होता है। उसका भी अभ्यास करने पर पहला जघन्य परीत्त अनत और उसका भी अभ्यास करे तो चौथा जघन्य युक्त अनन्त तथा उसका भी अभ्यास करने पर जघन्य अनन्त-अनन्त होता है। तीन असख्यात और तीन अनन्त इन छह के जघन्यों को एक

का अभ्यास ३१२५ है। इसकी विधि यह है कि—५ को पांच बार लिखना—५,५,५,५,५। पहले ५ को दूसरे पांच से गुणने पर २५ हुए, २५ को तीसरे ५ के साथ गुणने पर १२५, और १२५ को चौथे ५ के साथ गुणने से ६२५ तथा ६२५ को पांचवें ५ से गुणने पर ३१२५ हुए। यही ५ का अभ्यास कहलायेगा।

—अनुयोगद्वार टीका

आदि से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट न हो जाये वहाँ तक छह मध्यम होंगे और इन छह में से एक कम करने पर पिछले उत्कृष्ट भेद होते हैं; किन्तु सिद्धांत के मतानुसार उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त यह अनन्त का अंतिम नौवां भेद नहीं होता है।

असंख्यात व अनन्त के भेदों की व्याख्या

उक्त कथन के अनुसार जघन्य परीत्त असंख्यात आदि की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

१. जघन्य परीत्त असंख्यात—उत्कृष्ट संख्यात को एक संख्या सहित करने पर जघन्य परीत्त असंख्यात होता है।

२. मध्यम परीत्त असंख्यात—जघन्य परीत्त असंख्यात को एक संख्या से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात न हो, वहाँ तक मध्यम परीत्त असंख्यात कहलाता है।

३. उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात—जघन्य परीत्त असंख्यात राशि का अभ्यास करने से जघन्य युक्त असख्यात होता है और उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात कहलाता है।

४. जघन्य युक्त असंख्यात—जघन्य परीत्त असख्यात का राशि-अभ्यास करने से जघन्य युक्त असंख्यात होता है। एक आवलिका में इतने समय होते हैं।

५. मध्यम युक्त असंख्यात—जघन्य युक्त असंख्यात मे एक मिलायें, यानी वहाँ से लेकर जहाँ तक उत्कृष्ट युक्त असंख्यात न हो जाये, वहाँ तक की समस्त संख्या मध्यम युक्त असख्यात कहलाती है।

६. उत्कृष्ट युक्त असंख्यात—जघन्य युक्त असंख्यात का राशि अभ्यास करने से सातवां जघन्य असख्यात-असंख्यात कहलाता है, उसमे से एक को कम करने पर उत्कृष्ट युक्त असंख्यात होता है।

करने से जघन्य अनन्त-अनन्त होता है, उसमे से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्त-अनन्त होता है।

७ जघन्य अनन्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त का राशि-अभ्यास करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, वह जघन्य अनन्त-अनन्त है।

८. मध्यम अनन्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त को एकादिक से युक्त करने पर उसके बाद जो कुछ भी संख्या बनती है, वह सब मध्यम अनन्तानन्त होती है।

९. उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त—अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार कि

एवं उक्कोसयं अणंताणंतयं नत्थि—

उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही होता है। जघन्य अनन्तानन्त के पश्चात सभी स्थान मध्यम अनन्तानन्त में गर्भित हो जाते है। अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही है।

इस प्रकार से अनुयोगद्वार सूत्र मे बताई गई विधि के अनुसार असंख्यात आदि का स्वरूप बतलाया है। अब असंख्यात एवं अनन्त के भेदों के विषय मे कार्मग्रन्थिक मत का सात गाथाओं द्वारा उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते है।

असंख्यात व अनन्त के भेदों सम्बन्धी कार्मग्रन्थिक मत

इय सुत्तुत्तं अन्ने वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं।
होइ असंखासंखं लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥८०॥

शब्दार्थ—इय—यह, सुत्तुत्तं—सूत्रोक्त, अन्ने—अन्य आचार्य, वग्गियं—वर्ग करते समय, इक्कसि—एक बार, चउत्थयं—चौथा, असंखं—असख्यात, होइ—होता है, असंखासंखलहु—जघन्य असख्यात-असंख्यात, रूवजुयं—एक युक्त होने पर, तु—और, तं—वह, मज्झं—मध्यम असख्यात-असख्यात।

गाथार्थ—इस प्रकार से असख्यात आदि के बारे में सूत्रोक्त जानना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि चौथे

असंख्यात का एक बार वर्ग करने पर जघन्य असंख्यात-असंख्यात होता है और उसे एक से युक्त करने पर मध्यम असख्यात-असंख्यात होता है।

विशेषार्थ—पूर्व मे अनुयोगद्वार सूत्रोक्त विधि के अनुसार संख्या का वर्णन किया गया है। लेकिन यहाँ सिद्धान्त के मत से भिन्न अन्य आचार्यो के मन्तव्य का 'अन्ने वग्गियं' पद से दिग्दर्शन कराना प्रारम्भ करते है।

उन आचार्यो का मत है कि जघन्य युक्त-असंख्यात का एक ही बार वर्ग करने पर यानी जघन्य युक्त-असंख्यात की जो राशि है उसका उसी राशि के साथ गुणा करने पर जैसे कि पाँच का पाँच से गुणा करने पर २५ होता है, वह जघन्य असंख्यात-असंख्यात है—इक्कसि चउत्थयमसंखं होइ असंखासंखं लहु।

इस जघन्य असंख्यात-असंख्यात को भी एक आदिक से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट न हो, वहाँ तक मध्यम असंख्यात-असंख्यात समझना चाहिये।

रूवूणमाइमं गुरु ति वग्गिउं तं इमं दस क्खेवे।
लोगागासपएसा धम्माधम्मेगजियदेसा ॥८१॥
ठिइबंधज्झवसाया अणुभागा जोगछेयपलिभागा।
दुण्ह य समाण समया पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुण तम्मि तिवग्गियए परित्तणंत लहु तस्स रासीण।
अब्भासे लहु जुत्ताणंतं अब्भव्वजियमाणं ॥८३॥

शब्दार्थ—रूवूण—एक रूप हीन, आइमं—पहला, गुरु—उत्कृष्ट, ति वग्गिउं—तीन बार वर्ग करके, तं—उसमे, इम—यह, दस—दस वस्तुए, क्खेवे—डाले, मिलाये, लोगागास—लोकाकाश, पएसा—प्रदेश, धम्माधम्म—धर्म और अधर्म अस्तिकाय, एगजिय—एक जीव के, देसा—प्रदेश।

ठिइबंध—स्थितिबध, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **अणुभागा**–अनुभागबन्ध के स्थान, **जोग**—योग के, **छेयपलिभागा**—छेद पलि-भाग (निर्विभाज्य भाग), **दुण्ह**—दोनों के (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के) **य**—और, **समाण**—समान, **समया**—समय, **पत्तेय**—प्रत्येक शरीर वाले जीव, **निगोयए**—निगोद के जीव, **खिवसु**—मिलाओ।

पुण—पुन , उसके बाद, **तम्मि**—उस राशि मे, **तिवग्गियए**—तीन वार वर्ग करने पर, **परित्तणत**—परीत्त-अनन्त, **लहु**—जघन्य, **तस्स**—उस, **रासीण**—राशि का, **अब्भासे**—अभ्यास करने से, **लहु**—जघन्य, **जुत्ताणतं**—युक्त-अनन्त, **अब्भव्व**—अभव्य, **जियमाणं**—जीव का परिमाण।

गाथार्थ—उसके (जघन्य असंख्यात-असख्यात के) एक रूप हीन करने पर, पूर्व का उत्कृष्ट होता है और उसका तीन वार वर्ग करके उसमे इन दस वस्तुओं को मिलायें—लोकाकाश के प्रदेश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव के प्रदेश तथा स्थितिबंध के अध्यवसाय स्थान, अनु-भागबंध के अध्यवसाय स्थान, योग के निर्विभाज्य भाग, उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल के समय, प्रत्येक शरीर वाले जीव और निगोद के जीव, और उसके बाद—

उस राशि का तीन वार वर्ग करने पर जघन्य परीत्त-अनन्त होता है। उसकी राशि का अभ्यास करने पर जघन्य युक्त-अनन्त होता है। उसे अभव्य जीवों का परिमाण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं मे उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात, जघन्य परीत्त-अनन्त और जघन्य युक्त-अनन्त की संख्या का परिमाण वतलाया है।

उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात की संख्या का परिमाण वतलाते हुए कहा है—'रूवूणमाइयं गुरु' यानी पूर्व मे जो जघन्य असंख्यात-असंख्यात

का परिमाण वताया गया है, उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात की संख्या का परिमाण हो जाता है।

जघन्य परीत्त-अनन्त का परिमाण वतलाने के लिये पहला सकेत तो यह किया है–'तिवग्गिउं'–जघन्य असख्यात-असंख्यात का तीन बार वर्ग[1] करो और वर्ग करने के पश्चात प्राप्त राशि में निम्नलिखित दस क्षेपक[2] मिलाये जायें—

१. लोकाकाश के प्रदेश,
२. धर्मास्तिकाय के प्रदेश,
३ अधर्मास्तिकाय के प्रदेश,
४. एक जीव के प्रदेश,
५. स्थितिवंध के अध्यवसाय स्थान,
६ अनुभागवंध के अध्यवसाय स्थान,
७. योग (मन, वचन, काय शक्ति) के छेद प्रतिभाग (जो सूक्ष्म निर्विभाज्य भाग होते है),
८. उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी इन दोनों कालों के समय,
९. प्रत्येक जीव के शरीर,
१०. निगोद—साधारण वनस्पतिकाय के शरीर।

---

१ किसी सख्या का तीन वार वर्ग करना हो तो सर्वप्रथम उस सख्या का आपस मे वर्ग करना, दूसरी वार फिर वर्गजन्य संख्या का वर्गजन्य सख्या से वर्ग करना, तीसरी वार दूसरी वार किये गये वर्ग से प्राप्त राशि का उसी के वरावर की राशि के साथ वर्ग करना। जैसे कि ५ का तीन वार वर्ग करना है तो ५ का पहला वर्ग ५×५=२५ हुआ। इस २५ का दूसरी वार इसी सख्या के साथ वर्ग करना २५×२५=६२५ यह दूसरा वर्ग हुआ। इस ६२५ का ६२५ से गुणा करना ६२५×६२५=३९०६२५ यह ५ का तीन वार वर्ग हुआ।

२ ये ही दस क्षेपक त्रिलोकसार गाथा ४२ से ४४ तक मे भी निर्दिष्ट है।

उक्त दस क्षेपकों के मिलाने पर जो राशि हो उसका तीन बार वर्ग करने पर प्राप्त संख्या जघन्य परीत्त-अनन्त है और इस जघन्य परीत्त-अनंत की राशि का अभ्यास करने पर जघन्य युक्त-अनन्त कहलाता है। यही अभव्य जीवों का प्रमाण है अर्थात् इतनी अभव्य जीवों की संख्या है।

तव्वग्गे पुण जायइ णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो।
वग्गसु तह वि न तं होइ णंतखेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥
सिद्धा निगोयजीवा वणस्सई काल पुग्गला चेव।
सव्वमलोगनहं पुण ति वग्गिउं केवलदुगम्मि ॥८५॥
खित्ते णंताणंतं हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं।
इय सुहुमत्थवियारो लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥८६॥

शब्दार्थ—**तव्वगो**—उसका वर्ग करने से, **पुण**—पुनः, **जायइ**—होता है, **णंताणतलहु**—जघन्य अनन्तानन्त, **तं**—उसको, **च**—और, **तिक्खुत्तो**—तीन बार, **वग्गसु**—वर्ग करने पर, **तहवि**—तो भी, **न तं होई**—वह (उत्कृष्ट अनन्तानन्त) नही होता है, **णंत**—अनत, **खेवे**—क्षेपक, **खिवसु**—मिलाओ, **छ इमे**—यह छह।

सिद्धा—सिद्ध जीव, **निगोयजीवा**—निगोद के जीव, **वणस्सई**—वनस्पतिकाय, **काल**—काल के समय, **पुग्गला**—पुद्गल परमाणु, **चेव**—और, **सव्वं**—सर्व, सभी, **अलोगनहं**—अलोकाकाश, **पुण**—पुन, **तिवग्गिउ**—तीन बार वर्ग करके, **केवलदुगम्मि**—केवल-द्विक के पर्याय।

खित्ते—मिलाने से, **णंताणंतं**—अनतानत, **हवेइ**—होता है, **जिट्ठं**—उत्कृष्ट, **तु**—और, **ववहरइ**—व्यवहार मे, **मज्झं**—मध्यम, **इय**—इस प्रकार, **सुहुमत्थवियारो**—सूक्ष्म अर्थ का विचार, **लिहिओ**—लिखा, **देविंदसूरीहिं**—देवेन्द्रसूरि ने।

गाथार्थ—उसका (जघन्य युक्तानन्त का) वर्ग करने

से जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग करने से ही उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही हो जाता है किन्तु उसमें तीन बार वर्ग करके निम्नलिखित छह क्षेपक और मिलाना चाहिये—

सिद्ध, निगोद के जीव, वनस्पतिकायिक जीव, तीनों काल के समय, समस्त पुद्‌गल परमाणु, समग्र अलोकाकाश के प्रदेश। इन छह क्षेपको को मिलाने के पश्चात् तीन बार वर्ग करके उसमें केवलद्विक के पर्याय मिलाये।

उनके मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। लेकिन व्यवहार में मध्यम अनन्तानन्त का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से श्री देवेन्द्रसूरि ने 'सूक्ष्म अर्थ-विचार' प्रकरण लिखा है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा मे जघन्य युक्तानन्त की राशि का प्रमाण वतलाया था। इस तीन गाथाओ मे जघन्य अनन्तानन्त और उत्कृष्ट अनन्तानन्त का परिमाण वतलाते हुए ग्रंथ के नामोल्लेख पूर्वक प्रकरण-समाप्ति का संकेत किया है।

जघन्य अनन्तानन्त के परिमाण को वतलाते हुए कहा है कि 'तव्वग्गे पुण जायइ णंताणत लहु' पूर्वोक्त जघन्य युक्तानन्त की सख्या का वर्ग करने से प्राप्त राशि जघन्य अनन्तानन्त की संख्या है और जघन्य अनन्तानन्त की राशि का तीन वार वर्ग करने से ही उत्कृष्ट अनन्तानन्त की संख्या का वोध नही हो जाता है। लेकिन उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या का ज्ञान करने के लिये सवसे पहले जघन्य अनन्तानन्त की सख्या का तीन वार वर्ग करके अनन्त सख्या वाली निम्नलिखित छह वस्तुओं (क्षेपको)[1] को मिलाना चाहिये—

---

१ यही छह क्षेपक त्रिलोकसार की ४९वी गाथा मे भी वर्णित है।

१ सिद्ध जीव, २ निगोद के जीव, ३ वनस्पतिकाय के जीव, ४ काल (अतीत, अनागत और वर्तमान) के समय, ५ समग्र पुद्गल परमाणु और ६ समस्त लोक-अलोकाकाश के प्रदेश।[1]

इन अनन्त संख्या वाली छ: वस्तुओं को मिलाने के पश्चात् फिर से तीन बार वर्ग करके उसमे केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन की पर्यायों की संख्या[2] को मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या का परिमाण होता है। यह उत्कृष्ट अनन्तानन्त का परिमाण बोध के लिये है, लेकिन लोकालोक मे विद्यमान पदार्थो के मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण होने से व्यवहार मे मध्यम अनन्तानन्त ही उपयोग में लिया जाता है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त निष्प्रयोजन होने से सिद्धान्त में उपयोग में न आने के कारण उसे ग्राह्य नहीं माना है।

इस प्रकार से ग्रंथ के वर्ण्य विषय का विचार समाप्त हो जाने के पश्चात् ग्रंथकार उपसंहार करते है कि इस प्रकरण में अनेक सूक्ष्म विषयों पर विचार व्यक्त किये जाने से इस प्रकरण का नाम भी सूक्ष्मार्थ विचार है और अव यह समाप्त किया जाता है।

गाथा ८० से ८६ तक कुल सात गाथाओं में असंख्यात और अनन्त के भेदों व उसमे ग्रहण की गई असंख्यात व अनन्त पर्याय वाली वस्तुओं के विपय मे कार्मग्रथिक मत का उल्लेख किया है। जिसका विशद स्पष्टीकरण यहाँ प्रस्तुत करते है—

गाथा ७१ से ७९ तक में सैद्धान्तिक मत के अनुसार और गाथा ८० से ८६ तक कार्मग्रथिक मत के अनुसार संख्या का विचार किया गया है। पहले सख्यात के तीन, असख्यात के नौ और अनन्त के नौ,

---

१ मूल के 'अलोक' पद से लोक और अलोक दोनों प्रकार के आकाश विवक्षित है—अलोकाकाशमिति उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेश-राशिः। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० २१३

२ ज्ञेय पर्याय अनन्त होने से केवलज्ञान की पर्याये भी अनन्त है।

कुल इक्कीस भेद बतलाये है। इन इक्कीस भेदों मे से पहले सात भेदों के स्वरूप मे सैद्धातिक और कार्मग्रथिक दृष्टि से मत-भिन्नता नही है। लेकिन आठवे आदि शेष भेदों के स्वरूप के विषय मे सैद्धातिक और कार्मग्रथिक मतभेद है।

संख्या विषयक सैद्धांतिक व कार्मग्रन्थिक मत-भिन्नता

कार्मग्रंथिक आचार्यो का कथन है कि जघन्य युक्त-असंख्यात का वर्ग करने से जघन्य असख्यात-असंख्यात होता है लेकिन सैद्धातिक मत से जघन्य युक्त-असख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असख्यात-असंख्यात वनता है। यानी कर्मग्रथों मे और सिद्धांत मे जघन्य असंख्यात-असख्यात की संख्या का परिमाण जानने के लिये जघन्य युक्त-असख्यात की संख्या समान रूप से मानी है, लेकिन कर्मग्रंथ मे वर्ग करने और सिद्धान्त में अभ्यास करने का निर्देश किया है।

कर्मग्रथों मे जघन्य परीत्त-अनन्त की सख्या के परिमाण के लिये वताया है कि जघन्य असख्यात-असख्यात का तीन वार वर्ग करने के पश्चात असख्यात प्रदेश, समय, अध्यवसाय स्थान वाली निम्नलिखित दस वस्तुओं को मिलाकर उस समस्त सख्या का फिर से तीन वार वर्ग करने से जो सख्या होती है, वह जघन्य परीत्त-अनन्त है—

(१) लोकाकाश के प्रदेश, (२) धर्मास्तिकाय के प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, (४) एक जीव के प्रदेश, (५) स्थितिवधजनक अध्यवसाय स्थान, (६) अनुभाग प्रदेश, (७) योग के निर्विभाग अंश, (८) अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी इन दोनों कालों के समय, (९) प्रत्येक शरीर और (१०) निगोद शरीर।

जवकि सिद्धांत में जघन्य असख्यात-असख्यात का राशि-अभ्यास करने से प्राप्त होने वाली संख्या को जघन्य परीत्त-अनन्त कहा है।

जघन्य युक्त-अनन्त का एक वार वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त और जघन्य अनन्तानन्त का तीन वार वर्ग कर उसमें (१) सिद्ध जीव,

(२) निगोद के जीव, (३) वनस्पतिकायिक जीव, (४) तीनों कालों के समय, (५) सम्पूर्ण पुद्गल परमाणु और (६) समस्त आकाश के प्रदेश मिलाने के पश्चात तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन की संपूर्ण पर्यायों की संख्या मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त की संख्या होती है।

लेकिन सिद्धान्त मे जघन्य परीत्त-अनन्त की सख्या के लिये जघन्य असंख्यात-असंख्यात का राशि-अभ्यास करना बतलाया गया है। इसी प्रकार जघन्य अनन्तानन्त की सख्या जघन्य युक्त-अनन्तानन्त क राशि का अभ्यास करने पर प्राप्त होती है।

कर्मग्रंथ में उत्कृष्ट अनन्त का परिमाण बताया है लेकिन सिद्धात में उत्कृष्ट अनन्त नहीं माना है और इसका कारण बताते हुए कहा है कि जघन्य अनन्तानन्त के बाद के सभी स्थान मध्यम अनन्तानन्त में समाविष्ट हो जाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही होता है—

एव उक्कोसय अणताणतयं नत्थि।

कार्मग्रथिक भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त के परिमाण को बतलाते अवश्य है, लेकिन उसके लिये सिद्धांत का मत ग्राह्य मानकर कहते है कि यह उत्कृष्ट अनन्तानन्त निष्प्रयोजन है। क्योकि लोकाकाश में विद्यमान सभी पदार्थ मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण ही है।

मध्यम या उत्कृष्ट संख्या का स्वरूप जानने की रीति मे सैद्धांतिक और कार्मग्रथिकों मे मतभेद नही है किन्तु ७९वी और ८०वी गाथा मे बताये हुए दोनों मतो के अनुसार जघन्य असख्यात-असख्यात का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है, अर्थात् सैद्धान्तिकमत से जघन्य युक्त-असख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असख्यात-असख्यात होता है और कार्मग्रंथिक मत से जघन्य युक्त-असंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असंख्यात-असंख्यात। इसी दृष्टिकोण की भिन्नता से मध्यम

युक्तासख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात आदि आगे की संख्याओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न वन जाता है। जघन्य असंख्यात-असंख्यात में से एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्त-असख्यात होता है और जघन्य युक्तासख्यात व उत्कृष्ट युक्तासख्यात के वीच की संख्याये मध्यम युक्तासख्यात हैं।

इसी प्रकार आगे के भेदों की मध्यम संख्या के लिये समझना चाहिये कि जघन्य मे एक मिलाने के पश्चात से उत्कृष्ट से पूर्व तक की सव सख्याये मध्यम है। जघन्य और उत्कृष्ट सख्याये एक-एक प्रकार की है लेकिन मध्यम सख्याये एक प्रकार की नही है—मध्यम संख्यात के सख्यात भेद, असख्यात के असंख्यात भेद और अनन्त के अनन्त भेद होते है। क्योंकि जघन्य और उत्कृष्ट सक्या का मतलव तो किसी एक नियत सख्या से है किन्तु मध्यम सख्या के लिये यह वात नही है, क्योकि जघन्य और उत्कृष्ट के वीच संख्यात की संख्यात इकाइया है, असख्यात की असख्यात इकाइयाँ है और अनन्त की अनन्त इकाइयाँ हैं। यही इकाइयाँ क्रमश. मध्यम सख्यात, मध्यम असख्यात और मध्यम अनन्त कहलाती है।

क्षेपकों की असंख्यातता और अनन्तता का कारण

कार्मग्रंथिको ने जघन्य परीत्त-अनन्त की संख्या के लिये लोकाकाश के प्रदेश आदि असख्यात सख्या वाले दस क्षेपको को तथा उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या के परिमाण के लिये अनन्त सख्या वाले सिद्ध जीव आदि छह क्षेपको को मिलाने के लिये संकेत किया है। यहाँ उनकी असख्यातता और अनन्तता का स्पष्टीकरण करते हैं।

लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव इन चारो के प्रदेश असख्यात-असख्यात है और आपस में तुल्य हैं। जीवादि षड् द्रव्यों के अवस्थान को लोक और जितने आकाश क्षेत्र मे इन द्रव्यो का अवस्थान है उसे लोकाकाश कहते हैं। वैसे तो जीव

अनन्त हैं लेकिन प्रत्येक जीव अपने प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा से असंख्यात प्रदेशी है, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय भी असख्यात प्रदेशी हैं।[1]

ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की स्थिति के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त समय भेद से असंख्यात भेद है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागरोपम प्रमाण है। इस जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच अन्तर्मुहूर्त से एक समय अधिक, दो समय अधिक, तीन समय अधिक आदि इस प्रकार एक-एक समय बढते-बढ़ते एक समय कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के बीच असख्यात समयों का अन्तर है। इसीलिये जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियां निश्चित होने पर भी मध्यवर्ती स्थितियों के मिलाने से ज्ञानावरण की स्थिति के असंख्यात भेद हो जाते है। अन्य कर्मों की स्थिति के लिये भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

कर्मों की स्थिति के असख्यात भेद होने का कारण जीव के अध्यवसाय स्थानों का असंख्यात होना है जो लोकाकाश के असख्यात प्रदेशों के बराबर है—

पइठिहम संखलोगसमा[2]

अनुभागबंध के कारण जीव के कापायिक परिणाम है। इन कापायिक परिणामों के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मद, मन्दतर और मन्दतम आदि के भेद से असंख्यात भेद है। एक-एक कापायिक परिणाम से एक एक अनुभाग स्थान का बंध होता है। इसीलिये काषायिक परिणामजन्य अनुभागस्थान भी कापायिक परिणामों के तुल्य असख्यात ही माने जाते है।

---

१ असख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मयोः जीवस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ५।७-८

२ पचम कर्मग्रथ गा० ५५ (देवेन्द्रसूरि कृत)

मानी है। काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। पुद्गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध यह दो भेद हैं। इनमें से स्कन्ध तो संख्यात और असंख्यात प्रदेशी होने से संख्यात और असंख्यात भी हो सकते हैं, लेकिन परमाणु रूप पुद्गल अनन्त संख्यक है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है लेकिन उसके बाद का आकाश जो अलोकाकाश कहलाता है, उसके प्रदेशों का अन्त नही है, अनन्त प्रदेश है। इसीलिये आकाश के अनन्त प्रदेश माने जाते हैं।

कार्मग्रन्थिक मतानुसार असंख्यात, अनन्त के भेदों का स्वरूप

१. जघन्य परीत्त-असंख्यात—उत्कृष्ट संख्यात में एक को मिलाने पर होता है।

२. मध्यम परीत्त-असंख्यात—जघन्य परीत्त-असंख्यात में एक के मिलाने के पश्चात जहाँ तक उत्कृष्ट परीत्त-असंख्यात न हो जाये वहाँ तक की संख्या मध्यम परीत्त-असख्यात है।

३. उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात—जघन्य युक्त-असंख्यात में से एक को कम करने पर प्राप्त होने वाली संख्या।

४. जघन्य युक्त-असंख्यात—उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात मे एक संख्या मिलाने से होता है।

५. मध्यम युक्त-असख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट युक्त असख्यात के बीच की संख्या।

६. उत्कृष्ट युक्त-असख्यात—जघन्य असख्यात-असख्यात में से एक से न्यून संख्या।

७. जघन्य असंख्यात-असख्यात—जघन्य युक्त-असंख्यात की संख्या का एक ही बार वर्ग करने पर प्राप्त संख्या।

८. मध्यम असंख्यात-असंख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात के बीच की सख्या।

९ उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात—जघन्य परीत्त-अनन्त में से एक सख्या न्यून को कहते है।

१ जघन्य परीत्त-अनन्त—जघन्य असख्यात-असख्यात की संख्या का तीन बार वर्ग करके उसमे लोकाकाश के प्रदेश आदि दस असख्यात सख्या वाली वस्तुओं (क्षेपको) को मिलाने के पश्चात् समग्र राशि का पुन: तीन बार वर्ग करने से प्राप्त होने वाली संख्या को जघन्य परीत्त-अनन्त कहते है।

२. मध्यम परीत्त-अनन्त—जघन्य और उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त के बीच की सख्या को कहते है।

३. उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त में से एक न्यून सख्या उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त है।

४ जघन्य युक्त-अनन्त—जघन्य परीत्त-अनन्त की राशि का अभ्यास करने से जघन्य युक्त-अनन्त की संख्या होती है।

५. मध्यम युक्त-अनन्त—जघन्य व उत्कृष्ट युक्त-अनन्त की मध्यवर्ती सख्या है।

६ उत्कृष्ट युक्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त में से एक (रूप) कम सख्या उत्कृष्ट युक्त अनन्त कहलाती है।

७ जघन्य अनन्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त का एक बार वर्ग करने से जघन्य अनन्त-अनन्त होता है।

८ मध्यम अनन्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त को एकादिक से युक्त करने के पश्चात उत्कृष्ट अनन्तानन्त तक की सख्या के पूर्व तक की सख्या मध्यम अनतानत कहलाती है।

९ उत्कृष्ट अनत-अनत—जघन्य अनतानत की संख्या का तीन बार वर्ग करके उसमें अनन्त सख्या वाले छह क्षेपको—सिद्ध जीव, निगोद जीव, वनस्पतिकायिक जीव, काल के त्रिकालिक समय, पुद्गल परमाणु, आकाश के प्रदेश—की अनन्त संख्या को मिलाकर उस राशि

का पुनः तीन बार वर्ग करके केवलद्विक की पर्यायों के मिलाने से उत्कृष्ट अनतानंत होता है। लेकिन इसको उपयोग की दृष्टि से अग्राह्य माना है।

इस प्रकार से कार्मग्रन्थिक दृष्टि से संख्यात, असख्यात और अनन्त के प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ में छियासी गाथाये होने से यह 'षडशीति' कहा जाता है तथा विभिन्न सूक्ष्म विषयों का विवेचन किये जाने से इसका दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थविचार' भी है। लोक-प्रचलित भाषा मे इसे चतुर्थ कर्मग्रंथ भी कहा जाता है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ के आधार से इसकी रचना की है और सक्षेप मे उसके सभी विषयों का दिग्दर्शन करा दिया है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ समाप्त।

परिशिष्ट

- चतुर्थ कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें
- कषायमार्गणा के लेश्या व आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा भेद
- परिहारविशुद्धि सयम विषयक संक्षिप्त विवरण
- सम्यक्त्वत्रिक का अपर्याप्त संज्ञी अवस्था में पाये जाने का स्पष्टीकरण
- मार्गणाओं के अल्पबहुत्व सम्बन्धी आगम पाठ
- उत्तर प्रकृतियों और तीर्थंकर, आहारकद्विक के बंधहेतुओं विषयक पंचसंग्रह का मंतव्य
- गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

परिशिष्ट १

चतुर्थ कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

नमिय जिण जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बन्धऽप्पबहूभावे संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥
इह सुहुमबायरेगिदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिदी ।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥
बायरअसन्निविगले अपज्जि पढमबिय सन्निअपजत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥३॥
अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसुं तणुपज्जेसुं उरलमन्ने ॥४॥
सव्वे सन्निपजत्ते उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
बायरि सविउव्विदुगं पजसन्निसु बार उवओगा ॥५॥
पज चउरिंदिअसन्निसु दुदंस दुअनाण दससु चक्खुविणा ।
सन्निअपज्जे मणनाण चक्खु केवलदुग विहूणा ॥६॥
सन्निदुगि छलेस, अपज्जबायरे पढमचउ ति सेसेसु ।
सत्तट्ठ बन्धुदीरण सतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥
सत्तट्ठछेग बंधा सतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि ।
सत्त-ट्ठ-छ-पंच-दुगं उदीरणा सन्नि पज्जत्ते ॥८॥
गइइंदिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजमदंसणलेसा भवसम्मे सन्निआहारे ॥९॥
सुरनरतिरिनिरयगइ इगबियतियचउपणिदि छक्काया ।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥
वेय नरित्थिनपुंसा कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुअनाण सागारा ॥११॥

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया ।
चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसण अणागारा ॥१२॥
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ॥१३॥
आहारेयर भेया सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हा सुक्का सन्नीसु सन्निदुग ॥१४॥
तमसन्नि अपज्जजुयं नरे सबायर अपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥१५॥
दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे ।
पढमतिलेसा भवियर अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥१६॥
पजसन्नी केवलदुग भजयमणनाणदेसमणमीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥
थीनरपणिंदि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥
पण तिरि चउ सुरनरए नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे ।
इग विगल भू दग वणे दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥१९॥
वेय ति कसाय नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥
मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥
अड उवसमि चउ वेयगि खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमे य सठाण तेर जोग आहार सुक्काए ॥२२॥
अस्सन्निसु पढमदुग पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥
सच्चेयर मीस असच्चमोस मण वइ विउव्वियाहारा ।
उरलं मीसा कम्मण इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥

नरगइ पणिदि तस तणु अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे ।
सन्नि छलेसाहारग भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥२५॥
तिरि इत्थि अजय सासण अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥
कम्मुरलदुगं थावरि ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
छ असन्नि चरमवइजुय ते विउविदुगूण चउ विगले ॥२७॥
कम्मुरलमीस विणु मणवइ समइय छेय चक्खु मणनाणे ।
उरलदुग कम्म पढमंतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥२८॥
मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा ।
देसे सविउव्विदुगा सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥२९॥
तिअनाण नाण पण चउ दसण बार जिय लक्खणुवओगा ।
विणु मणनाण दुकेवल नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥
तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिदि सन्नि भवि सव्वे ।
नयणेयर पण लेसा कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥
चउरिंदिऽसन्नि दुअनाणदंस इग वि त्ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दसणदुग अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥३२॥
केवलदुगे नियदुग नव तिअनाण विणु खइय अहखाए ।
दंसणनाणतिगं देसि मीसि अन्नाणमीस त ॥३३॥
मणनाणचक्खुवज्जा अणहारे तिन्नि दस चउ नाणा ।
चउनाणसजमोवसम वेयगे ओहिदसे य ॥३४॥
दो तेर तेर बारस मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काए जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥३५॥
छसु लेसासु सठाण एगिदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ नारय विगलग्गि पवणेसु ॥३६॥
अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
नरनिरयदेवतिरिया थोवा दु असखऽणंतगुणा ॥३७॥

पण चउ ति दु एगिंदी थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा ।
तस थोव असंखऽग्गी भूजलनिल अहिय वणऽणता ॥३८॥
मणवयणकायजोगी थोवा अस्सखगुण अणतगुणा ।
पुरिसा थोवा इत्थी सखगुणाऽणतगुण कीवा ॥३९॥
माणी कोही माई लोही अहिय मणनाणिणो थोवा ।
ओहि असखा मइसुय अहिय सम असख विब्भगा ॥४०॥
केवलिणो णतगुणा मइसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला ।
सुहुमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥४१॥
छेय समईय सखा देस असखगुण णतगुण अजया ।
थोव असख दु णता ओहि नयण केवल अचक्खू ॥४२॥
पच्छाणुपुव्वि लेसा थोवा दो सख णत दो अहिया ।
अभवियर थोव णता सासण थोवोवसम सखा ॥४३॥
मीसा सखा वेयग असखगुण खइय मिच्छ दु अणता ।
सन्नियर थोव णताऽणहार थोवेयर असखा ॥४४॥
सव्वजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुग ।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसु सन्निपज्जत्तो ॥४५॥
मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरल सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥
साहारदुग पमत्ते ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगताऽममणवयण सजोगि न अजोगी ॥४७॥
तिअनाण दुदसाऽऽइमदुगे अजइ देसि नाणदसतिग ।
ते मीसि मीस समणा जयाइ केवलिदुगतदुगे ॥४८॥
सासणभावे नाण विउव्वगाहारगे उरलमिस्स ।
नेगिदिसु सासाणो नेहाहिगय सुयमय पि ॥४९॥
छसु सव्वा तेउतिग इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय संसइयमणाभोगं ।
पण मिच्छ बार अविरइ मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥
नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।
इगचउपणतिगुणेसुं चउतिदुइगपच्चओ वन्धो ॥५२॥
चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥
पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥
पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥
अछहास सोल वायरि सुहुमे दस वेयसजलणति विणा ।
खीणुवसति अलोभा सजोगि पुंव्वुत्त सग जोगा ॥५८॥
अपमत्तता सत्तट्ठ मीस अप्पुव्वबायरा सत्त ।
बंधइ छ स्सुहमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥५९॥
आसुहुम सतुदए अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ संते उवसति सत्तुदए ॥६०॥
उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ छ पच सुहुमो पणुवसतो ॥६१॥
पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसता ।
संखगुण खीण सुहुमा नियट्टिअप्पुव्व सम अहिया ॥६२॥
जोगि अपमत्त इयरे संखगुणा देससासणामीसा ।
अविरय अजोगिमिच्छा असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा ।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरणं पढम भावे ॥६४॥
बीए केवलजुयल सम्म दाणाइलद्धि पण चरण ।
तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥६५॥
अन्नाणमसिद्धत्तासजमलेसाकसायगइवेया ।
मिच्छ तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥६६॥
चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहि चउ सखइएहि ।
उवसमजुएहिं वा चउ केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥
मोहेव समो मीसो चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा ।
धम्माइ पारिणामिय भावे खधा उदइए वि ॥६९॥
सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥
सखिज्जेगमसख परित्तजुत्तनियपयजुय तिविहं ।
एवमणत पि तिहा जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥७१॥
लहु सखिज्जं दु च्चिय अओ पर मज्झिम तु जा गुरुय ।
जबूद्दीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ उम ॥७२॥
पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा ।
जोयणसहसोगाढा सवेइयन्ता ससिहभरिया ॥७३॥
तो दीवुदहिसु इक्किक्क सरिसव खिविय निट्ठिए पढमे ।
पढम व तदंतं चिय पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागख (वि) वणेण ।
पुन्नो बीओ य तओ पुव्व पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥
खीणे सलाग तइए एव पढमेहिं बीयय भरसु
तेहिं य तइय तेहिं य तुरिय जा किर फुडा चउरो ।

पढमतिपल्लुद्धरिया दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एस रासी रूवूणो परमसंखिज्जं ॥७७॥
रूवजुयं तु परित्तासंखं लहु अस्स रासि अब्भासे।
जुत्तासंखिज्ज लहु आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥
वितिचउपचमगुणणे कमा सगासंख पढमचउसत्त।
णंता ते रूवजुया मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥
इय सुत्तुत्तं अन्ने वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं।
होइ असंखासख लहु रूवजुय तु तं मज्झं ॥८०॥
रूवूणमाइमं कुरु ति वग्गिउं त इमं दस क्खेवे।
लोगागासपएसा धम्माधम्मेगजियदेसा ॥८१॥
ठिइबधज्झवसाया अणुभागा जोगछेयपलिभागा।
दुण्ह य समाण समया पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुण तम्मि तिवग्गियए परित्तणंत लहु तस्स रासीण।
अब्भासे लहू जुत्ताणंत अब्भव्वजियमाणं ॥८३॥
तव्वग्गे पुण जायइ णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो।
वग्गसु तह वि न त होइ णतखेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥
सिद्धा नियोगजीवा वणस्सई काल पुग्गला चेव।
सव्वमलोगनह पुण ति वग्गिउ केवलदुगम्मि ॥८५॥
खित्ते णताणत हवेइ जिट्ठु तु ववहरइ मज्झ।
इय सुहुमत्थवियारो तिहिओ देविंदसूरीहि ॥८६॥

□

परिशिष्ट २

कषायमार्गणा के लेश्या व आयु बन्धाबंध की अपेक्षा भेद

कापायिक शक्ति के तीव्र-मद भाव की अपेक्षा क्रोधादि प्रत्येक कपाय के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण आदि चार-चार भेद कर्मग्रंथ और दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकाड) मे एक रूप है। लेकिन गो० जीवकाड मे लेश्या की अपेक्षा से चौदह-चौदह और आयु वन्धावध की अपेक्षा वीस-वीस भेद भी किये गये है। यह विचार श्वेताम्वरीय ग्रथो मे देखने मे नही आया है।

दिगम्बर साहित्य का कषायमार्गणा के उक्त भेदो सवधी दृष्टिकोण मननीय होने से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कपाय की व्याख्या इस प्रकार की है—जीव के सुख-दु ख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी क्षेत्र का जिसके द्वारा कर्पण होता है, उसे कपाय कहते है।

कपाय परिणामो द्वारा आत्मिक गुणो का घात होता है। आत्मा का मुख्य कार्य है आत्मस्वरूप का वोध, प्रतीति और आत्मलाभ, स्वस्थिति और कपाय विपाकोदय द्वारा स्वरूप वोध और प्राप्ति को न होने देने का कार्य करती है। स्वरूपवोध के न होने देने वाले कापायिक परिणाम अनन्तानुवधी तथा लाभ के विघातक परिणाम अत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एव संज्वलन है। स्वरूपवोध होना प्रमुख है और लाभप्राप्ति तो क्रमश होती है। इसीलिए स्वरूपवोध के विघातक परिणाम का सिर्फ एक अनन्तानुवन्धी प्रकार है जबकि लाभप्राप्ति की आंशिक, सार्वदेशिक आदि अपेक्षाओ की क्रमिक स्थिति के कारण अप्रत्याख्यानावरण आदि तीन प्रकार है। अर्थात् अनन्तानुवधी कपाय परिणामो के द्वारा सम्यक्त्व (स्वरूपवोध) का और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एव संज्वलन रूप कापायिक परिणामो द्वारा क्रमशः स्वरूप-लाभ रूप देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र का घात होता है।

इन अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण आदि चारो प्रकार के कापायिक परिणामो के शक्ति की अपेक्षा से कपायो के मूलभेद क्रोध, मान, माया और लोभ

मे से क्रोध के क्रमशः पत्थर की रेखा, पृथ्वी की रेखा, धूलिरेखा और जल-रेखा के समान परिणाम होते है। मान के पत्थर के समान, हड्डी के समान, काष्ठ के समान और वेत के समान, माया के बांस की जड के समान, मेढे के सीग के समान, गोमूत्र के समान और खुरपा के समान और लोभ के क्रिमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हल्दी के रग के समान परिणाम होते है। ये परिणाम क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे जन्मप्राप्ति के कारण है।

श्वेताम्वर साहित्य मे भी अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि के लिए उक्त दिगम्बर ग्रन्थ के समान उपमाओ को दिया है। लेकिन किन्ही-किन्ही उपमाओ मे विभिन्नता है, परन्तु उससे क्रोध आदि के यथार्थ स्वरूप के बारे मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता है।

इस प्रकार से शिलाभेद आदिक चार प्रकार का क्रोध, शैल आदिक के समान चार प्रकार का मान, वेणुमूल आदि के समान चार प्रकार की माया और क्रमिराग आदि के समान चार प्रकार का लोभ, यह क्रम से शक्ति की अपेक्षा चार-चार स्थान है। अव लेश्या की अपेक्षा चौदह-चौदह और आयु वंधावध की अपेक्षा बीस-बीस भेद बतलाते है।

लेश्या की अपेक्षा चौदह भेद इस प्रकार बनते है—

शिलाभेद के समान क्रोध मे केवल कृष्णलेश्या की अपेक्षा से एक ही स्थान होता है। पृथ्वी समान क्रोध मे कृष्ण आदिक लेश्याओ की अपेक्षा छह स्थान है। धूलि समान क्रोध मे कृष्ण से लेकर शुक्ल तक छह स्थान होते है और जल समान क्रोध मे केवल शुक्ललेश्या का ही एक स्थान होता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के भी उनके उपमानो की अपेक्षा लेश्या सम्वन्धी चौदह-चौदह भेद समझना चाहिये

लेश्या के आधार से क्रोध आदि लोभ पर्यन्त चारो कपायो के बनने वाले चौदह-चौदह भेदो को क्रोध कपाय के शक्ति की अपेक्षा होने वाले चार प्रकारो द्वारा स्पष्ट करते है।

शिलाभेद समान क्रोध मे केवल कृष्णलेश्या का एक ही स्थान होता है। पृथ्वीभेद समान क्रोध मे छह स्थान होते है—पहला कृष्णलेश्या का, दूसरा कृष्ण-नील लेश्या का, तीसरा कृष्ण-नील-कापोत लेश्या का, चौथा कृष्ण-

नील-कापोत-पीत लेश्या का, पाचवा कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म लेश्या का, छठा कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या का। धूलिरेखा समान क्रोध मे भी छह स्थान होते है—पहला कृष्णादि छह लेश्या का, दूसरा कृष्ण रहित पाच लेश्या का, तीसरा कृष्ण-नील रहित चार लेश्या का, चौथा कृष्ण-नील-कपोत रहित तीन शुभ लेश्या का, पाचवा पद्म और शुक्ल लेश्या का, छठा केवल शुक्ललेश्या का। जलरेखा समान क्रोध मे एक शुक्ल लेश्या का ही स्थान होता है। जिस प्रकार क्रोध के लेश्याओ की अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये है, इसी प्रकार मानादिक कषायो मे भी चौदह-चौदह भेद समझना चाहिए।

आयु के बधाबंध की अपेक्षा बीस-बीस स्थान क्रमश. इस प्रकार बनते है—

शैलभेद गत क्रोध मे सिर्फ एक कृष्णलेश्या का स्थान होता है। उस कृष्णलेश्या मे कुछ स्थान तो ऐसे है जहाँ पर आयु बध नही होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे है कि जिनमे नरक आयु का बध होता है। इसके बाद पृथ्वीभेद गत पहले और दूसरे स्थान मे नरक आयु का ही बध होता है। इसके बाद कृष्ण-नील-कापोत लेश्या के तीसरे भेद मे कुछ स्थान ऐसे है जहाँ नरक आयु का ही बध होता है और कुछ स्थान ऐसे है जहाँ पर नरक, तिर्यंच दो आयु का बध हो सकता है तथा कुछ स्थान ऐसे है जहाँ पर नरक, तिर्यंच और मनुष्य तीनो ही आयु का बध हो सकता है। शेष तीनो स्थानो मे चारो आयु का बध हो सकता है।

धूलिभेद गत छह लेश्या वाले प्रथम भेद के कुछ स्थानो मे चारो आयु का बध होता है, इसके अनन्तर कुछ स्थानो मे नरक आयु को छोड़कर तीन आयु का और कुछ स्थानो मे नरक, तिर्यंच को छोडकर दो आयु का बध होता है। कृष्णलेश्या को छोडकर पांच लेश्या वाले दूसरे स्थान मे तथा कृष्ण, नील लेश्या को छोडकर शेष चार लेश्या वाले तीसरे स्थान मे केवल देवायु का बध होता है। अन्त की तीन लेश्या वाले चौथे भेद के कुछ स्थानो मे देवायु का बध होता है और कुछ स्थानो मे आयु का अबध है। पद्म और शुक्ल लेश्या वाले पाचवे स्थान मे और केवल शुक्ललेश्या वाले छठे स्थान मे आयु का अबध है। जलभेद गत केवल शुक्ललेश्या वाले एक स्थान मे भी आयु का अबन्ध है।

इस प्रकार कषायो के शक्ति की अपेक्षा चार भेद, लेश्याओ की अपेक्षा चौदह भेद, आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा बीस भेद होते है। इनमे प्रत्येक के अवान्तर भेद असख्यात लोकप्रमाण है तथा अपने-अपने उत्कृष्ट से अपने-अपने जघन्य तक क्रम से असख्यातगुणे, असख्यातगुणे हीन है।

लेश्या की अपेक्षा चौदह-चौदह स्थानो और आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा बीस-बीस भेदो सम्बन्धी गो० जीवकाड की गाथाये इस प्रकार है—

किण्ह सिलासमाणे किण्हादि छक्कमेण भूमिम्हि।
छक्कादी सुक्कोत्ति य धूलिम्मि जलिम्मि सुक्केक्का ॥ २९२

सेलगकिण्हे सुण्ण णिरय च य भूगएगविट्ठाणे।
णिरय इगिबितिआऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे ॥ २९३

धूलिगछक्कट्ठाणे चउराऊतिगदुग च उवरिल्ल।
पणचदुट्ठाणे देव देव सुण्ण च तिट्ठाणे ॥ २९४

सुण्ण दुगइगिठाणे जलम्हि सुण्ण असंखभजिदकमा।
चउचोदसवीसपदा असखलोगा हु पत्तेय ॥ २९५

कषाय के चार, चौदह, बीस भेदो के स्पष्टीकरण के लिये सलग्न यत्र को देखिए—

कषायों के शक्तिस्थान, लेश्यास्थान और आयुर्बन्धाबन्धस्थान

शक्तिस्थान ४	शिलाभेद १		पृथ्वीभेद २							
लेश्यास्थान १४	कृष्णा लेश्या १		कृष्ण १	कृष्ण नील २	कृष्ण नील का० ३			कृष्ण नील का पी ४	कृष्ण नील क पी प. ५	कृष्ण नील का पी प. शु ६
आयुर्बन्धाबन्धस्थान २०	०	१ नरक	१ नरक	१ नरक	१ नरक	२ नरक तिर्यंच	३ नरक तिर्यंच मनुष्य	४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव	४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव	४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव

शक्तिस्थान ४	धूलिभेद ३									जलरेखा ४
लेश्यास्थान १४	कृ. नी. का पी. प. शु. ६			नी का पी. प. शु ५	का पी.प. शु ४	पी प. शु. ३		प शु. २	शु. १	शुक्ललेश्या ०
आयु वन्ध वंध स्थान २०	४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव	३ तिर्यंच मनुष्य देव	२ मनुष्य देव	१ देव	१ देव	१ देव	०	०	०	०

परिशिष्ट ३

परिहारविशुद्धि संयम विषयक संक्षिप्त विवरण

परिहारविशुद्धि सयम धारक आदि के बारे मे यथास्थान सक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की है। विशेष यह चारित्र वाला कब और किस क्षेत्र मे होता है, तत्सबधी वर्णन आगमो मे निम्नलिखित २० द्वारो से किया है—

१ क्षेत्रद्वार, २ कालद्वार, ३ चारित्रद्वार, ४ तीर्थद्वार, ५ पर्यायद्वार, ६ आगमद्वार, ७ वेदद्वार, ८ कल्पद्वार, ९ लिंगद्वार, १० लेश्याद्वार, ११ ध्यानद्वार, १२ गणद्वार, १३ अभिग्रहद्वार, १४ प्रव्रज्याद्वार, १५ मुडापनद्वार, १६ प्रायश्चित्तविधिद्वार, १७ कारणद्वार, १८ नि:प्रतिकर्मद्वार, १९ भिक्षाद्वार, २० वधद्वार।

उक्त बीस द्वारो का विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

(१) क्षेत्र—जन्म और सद्भाव की अपेक्षा क्षेत्र का दो प्रकार से विचार किया गया है। जिस क्षेत्र मे जन्म होता है वह जन्मक्षेत्र और जहाँ कल्पस्थित होकर विद्यमान रहते हैं वह सद्भावक्षेत्र कहलाता है।

परिहारविशुद्धि चारित्र अगीकार करने वाले मुनियो का जन्मक्षेत्र ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र है, महाविदेह क्षेत्र नही। इस चारित्र को अगीकार करने के क्षेत्र भी ५ भरत और ५ ऐरावत है। जिनकल्पियो की तरह इस चारित्र के धारको का भी सहरण न होने से सर्वक्षेत्रो को ग्रहण नही किया है। साराश यह है कि परिहारविशुद्धि चारित्र के धारको का जन्म और सद्भाव क्षेत्र ५ भरत व ५ ऐरावत क्षेत्र है—

> खित्ते दुहेह मग्गण जम्मणओ चेव संति भावे य।
> जम्मणओ जहि जाओ संतीभावो य जहि कप्पो।[1]
> खेत्ते भरहेरावएसु हुंति संहरणवज्जिया नियमा।[2]

(२) काल—अवसर्पिणी के तीसरे और चौथे आरे मे इनका जन्म होता है

---

१ पचवस्तुक गा० १४८५

२ वही गा० १५२९

और सद्भाव अवसर्पिणी के तीसरे, चौथे और पाचवे आरे मे तथा उत्सर्पिणी के दूसरे, तीसरे और चौथे आरे मे। जन्म तथा सद्भाव तीसरे, चौथे आरे मे भी। नोउत्सर्पिणी और नोअवसर्पिणी मे नही होते है।

(३) **चारित्र**—सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र के सयम स्थान से ऊपर के जो असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण परिहारविशुद्धि के सयम स्थान है उनमे विद्यमान जीव को ही यह चारित्र होता है। यानी परिहारविशुद्धि कल्प की प्रतिपत्ति स्वकीय सयमस्थान मे वर्तमान जीव को ही होती है, दूसरो को नही।

(४) **तीर्थ**—जिनेश्वर का शासन प्रवर्तमान हो तभी होता है। तीर्थ के उच्छेद, अनुत्पत्ति मे नही होता है और न तीर्थ के अभाव मे जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा भी होता है।

(५) **पर्याय**—पर्याय के दो भेद है—गृहस्थपर्याय (अवस्था) और यति-पर्याय। यह दोनो पर्याये भी उत्कृष्ट व जघन्य—दो-दो प्रकार की हे। गृहस्थ-पर्याय जघन्य से २९ वर्ष और यतिपर्याय २० वर्ष और दोनो की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि वर्ष।

(६) **आगम**—नया अध्ययन, पठन-पाठन नही करते है किन्तु पहले के पढ़े हुए का नित्य ही एकाग्र मन से सम्यक्तया अनुस्मरण करते है।

(७) **वेद**—प्रवृत्ति के समय पुरुषवेद या नपुसकवेद होता है। स्त्री-वेदी को इस कल्प का निषेध है।

(८) **कल्प**—स्थितकल्प ही होता है। आचेलक्य आदि दस स्थानो मे जो स्थित है वे स्थितकल्प कहलाते है। आचेलक्य आदि दस नाम पहले बतलाये जा चुके है।

(९) **लिग**—द्रव्यलिग (मुनिवेश) और भावलिग दोनो ही होते है। क्योकि दोनो मे से किसी एक के अभाव मे साधना करना सम्भव नही है।

(१०) **लेश्या**—कल्प अगीकार करते समय तेज. आदि तीन शुभ लेश्यायें होती है। उसके पश्चात् छहो लेश्याये सम्भव है लेकिन अशुद्ध लेश्याये भी अति संक्लिष्ट नही होती है।

(११) **ध्यान**—अगीकार करते समय धर्म-ध्यान होता है। उसके बाद आर्त, रौद्र और धर्म यह तीन ध्यान सम्भव है। अशुभ योग की उत्कृष्ट दशा मे आर्त-रौद्र ध्यान आते है किन्तु वे निरनुबन्ध होते है।

(१२) गण—जघन्य से तीन गण, उत्कृष्ट से शत संख्या वाला गण अगीकार के समय मे सब क्षेत्र मे मिलकर होते है। अंगीकार करने के बाद जघन्य अथवा उत्कृष्ट समकाल मे वर्तता सैंकडो गण होते हैं। उनमे अगीकार के समय पुरुष संख्या जघन्य २७ और उत्कृष्ट १००० होती है। उसके बाद जघन्य से सैंकडो और उत्कृष्ट से हजारो होते है। प्रवेश करने वाले और निकलने वाले दोनो समकाल मे जघन्य से एक और उत्कृष्ट से पृथक्त्व प्रमाण होते है।

(१३) अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अभिग्रह चार प्रकार का है। इस कल्प के स्वय अभिग्रह रूप होने से उक्त चारो प्रकार के अभिग्रहो मे से कोई भी अभिग्रह नही होता है।

(१४) प्रव्रज्या—किसी को दीक्षा नही दी जाती है किन्तु यथाशक्ति उपदेश देना सम्भव है।

(१५) मुंडापना—यह मुनि किसी का मुंडापन नही करता है। क्योकि प्रव्रज्या के पश्चात् तत्काल ही मुण्डन होता है, ऐसा नियम नही है। अयोग्य को दीक्षा दी हो तो बाद मे मालूम पडने पर मुण्डन नही करता है। इसीलिए मुण्डापनद्वार अलग से कहा।

(१६) प्रायश्चित्त—मन द्वारा भी सूक्ष्म अतिचार लगने पर भी प्रायश्चित्त आता है। क्योकि ये कल्प एकाग्रता प्रधान है।

(१७) कारण—आलंबन को कारण कहते हैं। इस कल्प का पालन करना यही कर्मक्षय का कारण है, जिसमे दूसरा अन्य कोई आलम्बन नही होता है।

(१८) नि:प्रतिकर्मता—इस संयम के आराधक महात्मा शरीर-संस्कार नही करते है। आंख मे पडे हुए तृण को भी नही निकालते है और प्राणान्त का विकट समय आने पर भी अपवाद का सेवन नही करते है।

(१९) भिक्षा—तीसरे प्रहर मे गोचरी और विहार करते है। शेष समय मे कायोत्सर्ग करते है। निद्रा अति अल्प लेते है। कदाचित विहार न कर सकें तो भी कल्पमर्यादा का बराबर पालन करते है।

(२०) बन्ध—परिहारकल्प समाप्त होने के बाद पुन. उसी कल्प मे अथवा स्थविरकल्प मे या जिनकल्प मे प्रवेश करते है। पुन: दूसरी बार उसी कल्प मे अथवा स्थविर कल्प मे रहने वाले इत्वरपरिहारी कहलाते है।

इस प्रकार परिहारविशुद्धि चारित्र सम्बन्धी आगमिक २० द्वारो की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है।

परिशिष्ट ४

सम्यक्त्वत्रिक का अपर्याप्त संज्ञी अवस्था में पाये जाने का स्पष्टीकरण

आयु बाँधने के पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव आयु के अनुसार चारो गतियो में से किसी भी गति में जाता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त सज्ञी अवस्था मे क्षायिक सम्यक्त्व माना जाता है। इसी प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि जब देवगति से चयकर मनुष्य जन्म ग्रहण करते है तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते है। औपशमिक सम्यक्त्व के लिए यह जानना चाहिए कि आयु के पूरे हो जाने से जब कोई औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तर विमान मे पैदा होता है, तब अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यकत्व पाया जाता है।

अपर्याप्त सज्ञी अवस्था मे सम्यक्त्वत्रिक के पाये जाने की उक्त स्थिति है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपर्याप्त अवस्था मे मानने मे मतभिन्नता नही है लेकिन मतभिन्नता औपशमिक सम्यक्त्व मे अपर्याप्त सज्ञी जीवस्थान मानने के बारे मे है।

पंचसग्रह १।२५ की निम्नलिखित गाथा की टीका मे इस मतभिन्नता का उल्लेख करते हुए जो स्पष्टीकरण किया है, वह यहाँ प्रस्तुत करते है—

तेउ लेसाइसु दोन्नि सजमे एक्कमट्ठमणहारे।
सन्नी सम्मंमि य दोन्नि सेसयाइं असंनिम्मि॥

तेज: आदि तीन लेश्याओ मे दो, सयम मे एक, अनाहारक मे आठ, सज्ञी और सम्यक्त्व मे एक तथा असज्ञी मे बाकी के जीवस्थान होते हे।

इस गाथा की टीका मे श्री मलयगिरि ने 'सन्नी सम्ममि य दोन्नि' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सज्ञी और क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वो मे पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते है।

उक्त सम्यक्त्वत्रिक मे से औपशमिक सम्यक्त्व में अपर्याप्त सज्ञी जीवस्थान मानने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि—क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के

साथ भवान्तर में जाने वाला होने से इन दो सम्यक्त्वों में संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान माना जा सकता है किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व में संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान मानना कैसे सम्भव है ? क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में तद्‌योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से कोई भी नया सम्यक्त्व उत्पन्न होता नहीं है। कदाचित् ऐसा माना जाये कि अपर्याप्त अवस्था में नवीन सम्यक्त्व की उत्पत्ति भले ही न हो परन्तु क्षायिक, क्षायोपशमिक की तरह परभव से साथ लाया अपर्याप्त अवस्था में होता है, इसका कौन निषेध कर सकता है ? यह कथन भी योग्य नहीं है क्योंकि जो मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह जब तक रहता है, तब तक कोई जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है और आयु को भी नहीं बांधता है। आगमों में कहा है—

अणबन्धोदयमाउग बंधं कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥

सासादन सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी का बन्ध, अनन्तानुबन्धी का उदय, आयु का बन्ध और मरण इन चार कार्यों को करता है किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि इन चारों में से एक भी कार्य नहीं करता है।

यदि यह माना जाये कि उपशम श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था में होता है, तो यह भी योग्य नहीं है। क्योंकि उपशम श्रेणि पर चढ़ी हुई जो आत्मा वहाँ मरण करके अनुत्तर विमान में उत्पन्न होती है, उसे देवायु के पहले ही समय में सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्‌गलों का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। इसी बात का शतक (पंचम कर्मग्रन्थ) की बृहद्-चूर्णी में संकेत किया गया है—

'जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ। तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तो लब्भई।

—जो उपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि में मरता है, वह मरण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्व मोहनीय पुंज को उदयावलिका में लाकर वेदन करता है, जिससे उपशम सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नहीं होता है। अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं पाया जाता है।

इसी प्रसंग में श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में ग्रन्थ का नामोल्लेख किये बिना यह एक गाथा उद्धृत की है—

उवसम सेढिं पत्ता मरंति उवसमगुणेसु जे सत्ता।
ते लवसत्तम देवा सव्वट्ठे खय सम्मतजुआ ॥

—अर्थात् जो जीव उपशमश्रेणि को पाकर ग्यारहवे गुणस्थान मे मरते है वे सर्वार्थसिद्धि मे क्षायिक सम्यक्त्व युक्त ही पैदा होते है और 'लवसत्तम देव' (सात लव आयु अधिक होती तो मुक्ति प्राप्त कर लेते, इतनी आयु के न्यून होने से सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न हुए देव) कहलाते है। तथा इस गाथा के प्रसग से स्पष्ट किया है कि औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे गुणस्थान से गिरता है किन्तु उसमे मरता नही है, मरने वाला क्षायिक सम्यक्त्वी ही होता है।

इस प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे किसी तरह के औपशमिक सम्यक्त्व के सम्भव न होने से औपशमिक सम्यक्त्व मे सिर्फ एक पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान माना जाना चाहिए।

परन्तु कोई-कोई आचार्य श्रेणि मे भव के क्षय से मरण होने पर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले को अपर्याप्त अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व मानते है। इस सम्बन्ध मे पंचसग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि का मतव्य है कि— सप्ततिका (छठे कर्मग्रन्थ) की चूर्णि मे गुणस्थानो मे जहाँ नामकर्म के बन्ध और उदय स्थान का विचार किया है वहाँ चौथे गुणस्थान के उदयस्थानो के विचार के प्रसंग मे पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियो का उदयस्थान देव और नारको के आधार से बतलाया है। उसमे नारको को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और देवो को तीन प्रकार का सम्यक्त्वी कहा है। इस ग्रन्थ के पाठ का अर्थ इस प्रकार है—पच्चीस और सत्ताईस का उदय देव और नारको को लेकर कहा है, उसमे नारक क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होते है और देव तीनो सम्यक्त्व वाले होते है। उसमें पच्चीस का उदय शरीरपर्याप्ति करने के समय होता है और सत्ताईस का उदय शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त और शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त को होता है। इस तरह यह दोनो उदयस्थान अपर्याप्त अवस्था मे होने से अपर्याप्त अवस्था मे भी औपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण किया है। शतक चूर्णि (पचम कर्मग्रन्थ की चूर्णि) मे उपशम सम्यक्त्व मे सज्ञी पर्याप्त एक जीवस्थान कहा है और सप्ततिका की चूर्णि मे उपशम श्रेणि के उपशम सम्यक्त्व को लेकर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले की अपेक्षा सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान बताये है, इस प्रकार दो मत है, तत्त्व तो केवलज्ञानी गम्य है।

उक्त मतभिन्नता का साराश यह है कि अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व नही मानने वाले आचार्यो का यह मत है कि औपशमिक सम्यक्त्व मे

केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान ही मानना चाहिए। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में योग्य अध्यवसाय न होने से औपशमिक सम्यक्त्व नवीन तो उत्पन्न नहीं हो सकता है और रहा पूर्व भव में प्राप्त किया हुआ सो उसका भी अपर्याप्त अवस्था तक रहना शास्त्रसम्मत नहीं है। क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणि में होने वाला। प्रथम प्रकार का तो अनादि मिथ्यात्वी को पहले पहल होता है। इस सम्यक्त्व के सहित तो जीव मरता ही नहीं है और दूसरे प्रकार के उपशम सम्यक्त्व के विषय में यह नियम है कि उसमें जीव मरता तो है परन्तु जन्म ग्रहण करते ही सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होने से औपशमिक सम्यक्त्वी न रहकर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

लेकिन अपर्याप्त अवस्था में भी औपशमिक सम्यक्त्व मानने वाले आचार्यों का मत है कि नामकर्म के बन्ध और उदय स्थानों के विचार के प्रसंग में चौथे गुणस्थान में पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियों का उदय देव और नारकों को बतलाया है। उनमें से नारकों को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और देवों को तीनों प्रकार के सम्यक्त्व वाला कहा है। यह बात सप्ततिका की चूर्णि और पंचसंग्रह में स्पष्ट की गई है। इसलिए अपर्याप्त संज्ञी अवस्था में उपशम सम्यक्त्व मानना युक्तिसंगत है।

दिगम्बर ग्रन्थ गो० जीवकाण्ड में भी इसी मत को माना है कि उपशमश्रेणि भावी—उपशम सम्यक्त्व जीवों को अपर्याप्त अवस्था में होता है। तत्सम्बन्धी गाथा इस प्रकार है—

विदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥७३०॥

उपशम श्रेणि से उतरकर अविरति आदिक गुणस्थानों को प्राप्त करने वालों में से जो अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार मरण करके देवपर्याय को प्राप्त करता है, उसी के अपर्याप्त अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व (उपशमश्रेणि-भावी) होता है।

इस मतभिन्नता के तीन अभिप्राय निकलते हैं—(१) अपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उदय, या (२) क्षायिक सम्यक्त्व का उदय या, (३) उपशम सम्यक्त्व का उदय। इन तीन मतों में से ग्रन्थकार ने अपर्याप्त अवस्था में भी उपशम सम्यक्त्व को मानकर सम्यक्त्वादिक में अपर्याप्त, पर्याप्त संज्ञी यह दो जीवस्थान माने हैं।

उवसम सेढि पत्ता मरंति उवसमगुणेसु जे सत्ता।
ते लवसत्तम देवा सव्वट्ठे खय सम्मतजुआ॥

—अर्थात् जो जीव उपशमश्रेणि को पाकर ग्यारहवे गुणस्थान मे मरते है वे सर्वार्थसिद्धि मे क्षायिक सम्यक्त्व युक्त ही पैदा होते है और 'लवसत्तम देव' (सात लव आयु अधिक होती तो मुक्ति प्राप्त कर लेते, इतनी आयु के न्यून होने से सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न हुए देव) कहलाते है। तथा इस गाथा के प्रसग से स्पष्ट किया है कि औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे गुणस्थान से गिरता है किन्तु उसमे मरता नही है, मरने वाला क्षायिक सम्यक्त्वी ही होता है।

इस प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे किसी तरह के औपशमिक सम्यक्त्व के सम्भव न होने से औपशमिक सम्यक्त्व मे सिर्फ एक पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान माना जाना चाहिए।

परन्तु कोई-कोई आचार्य श्रेणि मे भव के क्षय से मरण होने पर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले को अपर्याप्त अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व मानते है। इस सम्बन्ध मे पचसग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि का मतव्य है कि—सप्ततिका (छठे कर्मग्रन्थ) की चूर्णि मे गुणस्थानों मे जहाँ नामकर्म के बन्ध और उदय स्थान का विचार किया है वहाँ चौथे गुणस्थान के उदयस्थानो के विचार के प्रसंग मे पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियो का उदयस्थान देव और नारको के आधार से बतलाया है। उसमे नारको को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और देवो को तीन प्रकार का सम्यक्त्वी कहा है। इस ग्रन्थ के पाठ का अर्थ इस प्रकार है—पच्चीस और सत्ताईस का उदय देव और नारकों को लेकर कहा है, उसमे नारक क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होते है और देव तीनो सम्यक्त्व वाले होते है। उसमे पच्चीस का उदय शरीरपर्याप्ति करने के समय होता है और सत्ताईस का उदय शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त और शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त को होता है। इस तरह यह दोनो उदयस्थान अपर्याप्त अवस्था मे होने से अपर्याप्त अवस्था मे भी औपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण किया है। शतक चूर्णि (पचम कर्मग्रन्थ की चूर्णि) मे उपशम सम्यक्त्व मे सज्ञी पर्याप्त एक जीवस्थान कहा है और सप्ततिका की चूर्णि मे उपशम श्रेणि के उपशम सम्यक्त्व को लेकर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले की अपेक्षा सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान बताये है, इस प्रकार दो मत है, तत्त्व तो केवलज्ञानी गम्य है।

उक्त मतभिन्नता का साराश यह है कि अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व नही मानने वाले आचार्यो का यह मत है कि औपशमिक सम्यक्त्व मे

केवल पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान ही मानना चाहिए। क्योकि अपर्याप्त अवस्था मे योग्य अध्यवसाय न होने से औपशमिक सम्यक्त्व नवीन तो उत्पन्न नही हो सकता है और रहा पूर्व भव मे प्राप्त किया हुआ सो उसका भी अपर्याप्त अवस्था तक रहना शास्त्रसम्मत नही है। क्योकि औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणि मे होने वाला। प्रथम प्रकार का तो अनादि मिथ्यात्वी को पहले पहल होता है। इस सम्यक्त्व के सहित तो जीव मरता ही नही है और दूसरे प्रकार के उपशम सम्यक्त्व के विषय मे यह नियम है कि उसमे जीव मरता तो है परन्तु जन्म ग्रहण करते ही सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होने से औपशमिक सम्यक्त्वी न रहकर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

लेकिन अपर्याप्त अवस्था मे भी औपशमिक सम्यक्त्व मानने वाले आचार्यो का मत है कि नामकर्म के बन्ध और उदय स्थानो के विचार के प्रसग मे चौथे गुणस्थान मे पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियो का उदय देव और नारको को बतलाया है। उनमे से नारको को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और देवो को तीनो प्रकार के सम्यक्त्व वाला कहा है। यह बात सप्ततिका की चूर्णि और पचसग्रह मे स्पष्ट की गई है। इसलिए अपर्याप्त सज्ञी अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व मानना युक्तिसगत है।

दिगम्बर ग्रन्थ गो० जीवकाड मे भी इसी मत को माना है कि उपशमश्रेणि भावी—उपशम सम्यक्त्व जीवो को अपर्याप्त अवस्था मे होता है। तत्सम्बन्धी गाथा इस प्रकार है—

विदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥७३०॥

उपशम श्रेणि से उतरकर अविरति आदिक गुणस्थानो को प्राप्त करने वालो मे से जो अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार मरण करके देवपर्याय को प्राप्त करता है, उसी के अपर्याप्त अवस्था मे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व (उपशमश्रेणि-भावी) होता है।

इस मतभिन्नता के तीन फलितार्थ निकलते है—(१) अपर्याप्त अवस्था मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उदय, या (२) क्षायिक सम्यक्त्व का उदय या, (३) उपशम सम्यक्त्व का उदय। इन तीन मतो मे से ग्रन्थकार ने अपर्याप्त अवस्था मे भी उपशम सम्यक्त्व को मानकर सम्यक्त्वत्रिक मे अपर्याप्त, पर्याप्त सज्ञी यह दो जीवस्थान माने हैं।

परिशिष्ट ५

मार्गणाओं के अल्पबहुत्व संबंधी आगम पाठ

गतिमार्गणा

जहन्नपए (सखेज्जा) सखिज्जाओ कोडाकोडाकोडिओ। उक्कोसपए असखिज्जा असखिज्जाहि उसप्पिणीओसप्पिगीहिं अवहीरति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहि मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असंखेज्जाहिं अवसप्पिणीहि उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन।

—अनुयोगद्वार सूत्र

उक्कोसपए जे मणुस्सा हवति तेसु इक्कम्मि मणूसरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ। तीसे य सेढीए कालखित्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ—कालओ ताव असखिज्जाहि उस्सप्पिणीओसप्पिणीहि, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूल तइयवग्गमूलपडुप्पन्न। किं भणिय होइ ? तीसे सेढीए अगुलायए खडे जो पएसरासी तस्स ज पढमवग्गमूलपएसरासिमाण त तइयवग्गमूलपएसरासिपडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ एवइएहिं खडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमणी जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा अवहीरमाणा निट्ठंति। आह कहमेगा सेढी एद्दहमित्तेहिं खण्डेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ आह—खेत्तस्स सुहुमत्तणओ। सुत्ते वि ज भणिय—

सुहमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं।
अगुलसेढी मित्ते ओसप्पिणीओ असखिज्जा॥

—अनुयोगद्वार चूर्णि

नेरइयाण भते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, त जहा—बद्धिल्लया मुक्किल्लया य। तत्थ ण जे ते बद्धिल्लया ते ण असखेज्जा असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणिअवसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखेज्जइभागो। तासि ण सेढीण विक्खभसूई अगुलपढमवग्गमूल बीयवग्गमूलपडुप्पन्नं अहव ण अगुल विइयवग्गमूलघणपमाणमित्ताओ सेढीओ।

—अनुयोगद्वार सूत्र

एएसि णं भते । नेरइयाण तिरिक्खजोणियाण मणुस्साण देवाण सिद्धाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्व-थोवा मणुस्सा, नेरइया असखेज्जगुणा, देवा असखेज्जगुणा, सिद्धा अणतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

इन्द्रियमार्गणा

एएसि ण भते ! एगिंदियवेदियतेइदियचउरिंदियपचिंदियाण य कयरे कयरे-हिंतो अप्पा वा वहुया वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेदिया विसेसाहिया, बेइदिया विसेसाहिया, एगिदिया अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

कायमार्गणा

एएसि ण भते ! तसकाइयाण पुढविकाइयाण आउकाइयाण तेउकाइयाण वाउकाइयाण वणस्सइकाइयाण अकाइयाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असखिज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणतगुणा, वणस्सइकाइया अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

योगमार्गणा

एएसि ण भते ! जीवाण सजोगीण मणजोगीण वइजोगीण कायजोगीण अजोगीण या कयरे कयरेहितो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा मणजोगी, वइजोगी असखेज्जगुणा, अजोगी अणतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

वेदमार्गणा

एएसि ण भते ! जीवाण सवेयगाण इत्थीवेयगाणं पुरिसवेयगाण नपुंसक-वेयगाण अवेयगाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा संखेज्जगुणा, अवेयगा अणतगुणा, नपुसगवेयगा अणतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया ।

—प्र

कषायमार्गणा

एएसि ण भंते ! जीवाण सकसाईण कोहकसाईण माणकसाईण मायाकसाईण लोभकसाईण अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

ज्ञानमार्गणा

एएसि ण भंते ! जीवाणं आभिणिबोहियनाणीण सुयनाणीण ओहिनाणीण मणपज्जवनाणीण केवलनाणीण मइअन्नाणीण सुयअन्नाणीण विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दो वि तुल्ला विसेसाहिया, विभंगनाणी असंखिज्जगुणा, केवलनाणी अणंतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दो वि तुल्ला अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

संयममार्गणा

एएसि ण भंते ! जीवाण संजयाण असंजयाण संजयासंजयाण नोसंजयनोअसंजयनोसंजयऽसंजयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया संखेज्जगुणा नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजय अणंतगुणा, असंजया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

दर्शनमार्गणा

एएसि ण भंते ! जीवाण चक्खुदंसणीण अचक्खुदंसणीण ओहिदंसणीण केवलदंसणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखिज्जगुणा, केवलदंसणी अणन्तगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

लेश्यामार्गणा

एएसि ण भंते ! जीवाण सलेस्साण किण्हलेस्साण नीललेस्साण काउलेस्साण तेउलेस्साण पम्हलेस्साण सुक्कलेस्साण अलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा

बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा सखिज्जगुणा, तेउलेस्सा सखिज्जगुणा, अलेस्सा अणतगुणा, काउलेस्सा अणतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

भव्यत्वमार्गणा

एएसि ण भन्ते ! जीवाण भवसिद्धियाण अभवसिद्धियाण नोभवसिद्धियाण नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया नोभवसिद्धिया, नोअभवसिद्धिया अणतगुणा, भवसिद्धिया अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

सम्यक्त्वमार्गणा

एएसि ण भन्ते ! जीवाण सम्मद्दिट्ठीण मिच्छादिट्ठीण सम्मामिच्छादिट्ठीण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छादिट्ठी सम्मद्दिट्ठी अणतगुणा, मिच्छादिट्ठी अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

सज्ञीमार्गणा

एएसि ण भन्ते ! जीवाण सन्नीण असन्नीण नोसन्नीण नोअसन्नीण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा सन्नी, नोसन्नीनोअसन्नी अणतगुणा, असन्नी अणतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

आहारकमार्गणा

एएसि ण भन्ते ! जीवाण आहारगाण अणाहारगाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असखिज्जगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

परिशिष्ट ६

उत्तर प्रकृतियों और तीर्थकर, आहारकद्विक के बंधहेतुओं विषयक पंचसंग्रह का मंतव्य

कर्मग्रन्थकार श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५३ मे उत्तर प्रकृतियो के मूल बंधहेतुओ को वतलाया है कि सोलह प्रकृतियो का वधहेतु मिथ्यात्व, पैतीस प्रकृतियो के बधहेतु मिथ्यात्व और अविरति, पैसठ प्रकृतियो के वधहेतु मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तथा साता वेदनीय के मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग ये चारो वधहेतु है। टीका मे जो प्रकृति जिस गुणस्थान तक बधती है, उस गुणस्थान तक अन्वय-व्यतिरेक संबंध को घटाते हुए हेतुओ की विवक्षा की है। किन्तु पचसंग्रह मे एक-एक हेतु की ही विवक्षा की है तथा टीका मे तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक का कपाय वधहेतु होने पर भी सम्यक्त्व आदि दूसरे अंतरग कारण होने से चार मे से किस हेतु से वध होता है, को स्पष्ट नही किया है। तत्सबधी पचसग्रह के मतव्य को यहा प्रस्तुत करते है—

> **सोलस मिच्छनिमित्ता बज्झहि पणतीस अविरइए य।**
> **सेसा उ कसाएहि वि जोगेहिपि सायवेयणीयं ॥४।१९**

सोलह कर्मप्रकृतियाँ मिथ्यात्व रूप हेतु द्वारा बाधी जाती है तथा पैंतीस प्रकृतिया अविरति रूप हेतु द्वारा और शेप प्रकृतिया कपाय द्वारा एव साता वेदनीय योग रूप हेतु द्वारा वधती है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कारण के सद्भाव होने पर कार्य के सद्भाव को अन्वय और कारण के अभाव मे कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते है। नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रिय जातित्रिक, मिथ्यात्व, नपु सकवेद, हुंडसस्थान, सेवार्त सहनन, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नाम, यह सोलह प्रकृतिया अन्वयव्यतिरेक का विचार करने पर मिथ्यात्व निमित्तक है। क्योकि ये सोलह प्रकृतिया मिथ्यात्व रूप हेतु के होने पर अवश्य वधती है और मिथ्यात्व रूप हेतु का अभाव होने पर नही वधती है। यह कर्म प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान मे वधती है और मिथ्यात्व

गुणस्थान मे चारो वधहेतु होते है। यद्यपि इन सोलह प्रकृतियो के वध मे अविरति आदि हेतुओ का भी उपयोग होता है, लेकिन उनके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नही घटता है और मिथ्यात्व के साथ घटता है। क्योकि मिथ्यात्व रूप हेतु जब तक है, तब तक ही इन प्रकृतियो का वध होता है और मिथ्यात्व के क्षय होने किन्तु अविरति आदि हेतु होने पर भी उनका वध नही होता है। अतः यथार्थतया मिथ्यात्व ही उन प्रकृतियो का वधहेतु है, अविरति आदि नही। अर्थात् इन सोलह प्रकृतियो के वध मे मिथ्यात्व ही मुख्य हेतु है और अविरति आदि गौण। इसी प्रकार से आगे के और वधहेतुओं के वारे मे समझना चाहिए।

स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद, अनन्तानुवधी चतुष्क, तिर्यंचत्रिक, पहले अन्तिम के सिवाय चार सस्थान और अतिम के विना पाच सहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, अनादेय, दुःस्वर, नीचगोत्र अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क, मनुष्यत्रिक और औदारिकद्विक ये पैंतीस प्रकृतिया अविरति के निमित्त से वधती है अर्थात् इन पैंतीस प्रकृतियो का मुख्य हेतु अविरति है तथा साता वेदनीय के सिवाय अडसठ प्रकृतिया कषाय द्वारा वधती है। इन अडसठ प्रकृतियो का खास बधहेतु कपाय है, क्योकि कपाय के साथ उनका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध वनता है तथा जहा तक योग है वहा तक सातावेदनीय का वन्ध होता है और योग के अभाव मे वध नही होता है, अतः सातावेदनीय का योग वधहेतु है।

तीर्थकर प्रकृति के वध मे सम्यक्त्व और आहारकद्विक के वध मे सयम हेतु है—तित्थयराहाराण वधे सम्मत्तसमया हेऊ। इस प्रकार उक्त तीन प्रकृतियो—तीर्थकर और आहारकद्विक के वध मे सम्यक्त्व और सयम को हेतु मानने पर जिज्ञासु इस विपय मे प्रश्न पूछता है कि—

तीर्थंकर नामकर्म का बधहेतु जो सम्यक्त्व कहा जाता है तो क्या औपशमिक सम्यक्त्व है अथवा क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हेतु है ? यदि औपशमिक सम्यक्त्व को वधहेतु के रूप मे माना जाये तो उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे भी उसका वध मानना पड़ेगा। क्योकि वहा भी औपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव है। यदि क्षायिक सम्यक्त्व हेतु है तो सिद्धो को भी उसका वधक स्वीकार करना होगा, क्योकि सिद्धो मे क्षायिक

सम्यक्त्व ही पाया जाता है। यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व माना जाये तो अपूर्व-करण के पहले समय मे भी उसके बधविच्छेद का प्रसग होगा, क्योकि उस समय उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नही होता है और तीर्थंकर नामकर्म के बध का विच्छेद तो अपूर्वकरण के छठे भाग मे होता है। इसलिए किसी भी सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकर्म के बध मे हेतु रूप मानना युक्तिसगत नही है तथा आहारक-द्विक का बधहेतु जो सयम को माना है, तो क्षीणमोह आदि गुणस्थानो मे भी उसका बध सम्भव है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानो मे विशेषतः अति निर्मल चारित्र का सद्भाव है और उन गुणस्थानो मे बध होता नही है, अतः आहारकद्विक का भी सयम बधहेतु नही वन सकता है।

इसका समाधान यह है कि 'तित्थयराहाराण बधे सम्मत्त सजमा हेऊ' पद द्वारा साक्षात् सम्यक्त्व और सयम को ही तीर्थंकर और आहारकद्विक का बधहेतु नही कहा है किन्तु सहकारी कारणभूत विशेष हेतु रूप मे बतलाया है। इन दोनो मे मूल कारण तो कषाय विशेष ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सेसाउ कसाएहिं—शेष प्रकृतिया कषायो द्वारा, कषाय रूप बध हेतु द्वारा बाधी जाती है और तीर्थंकर नामकर्म के बध मे हेतु रूप होने वाली वे कषाय-विशेष औपशमिक आदि सम्यक्त्वो से रहित नही होती है अर्थात् औपशमिक आदि किसी भी सम्यक्त्व से रहित मात्र कषायविशेष ही तीर्थंकर के बध मे हेतुभूत नही बनती है तथा औपशमिकादि सम्यक्त्व युक्त वे कषायविशेष भी सभी जीवो को उन प्रकृतियो के बध मे कारणभूत नही है और अपूर्वकरण के छठे भाग के बाद भी बध मे हेतु रूप नही बनती है तथा अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण के छठे भाग तक मे ही सभावित कतिपय प्रतिनियत कषाय-विशेष ही आहारकद्विक के बध मे हेतु है। तात्पर्य यह है कि चौथे से आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक के कषायविशेष औपशमिक आदि सम्यक्त्व युक्त आत्माओ को तीर्थंकर प्रकृति के बध मे हेतु होते है और आहारकद्विक के बध मे भी पूर्व मे कही गई विशिष्ट कषाये हेतु रूप होती है, अत. इसमे किसी प्रकार का दोष नही है।

परिशिष्ट ७

गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

विशिष्ट सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी [illegible]
२ श्री वच्छराज जी जोवराज जी [illegible] मैन [illegible]
३ श्री रेखचन्द जी मोहन गांधी, मद्रास (कोडीनाकम)
४ श्री बलवंतराज जी खाटेड़, मद्रास (कोडीनाकम)
५ श्री नेमीचन्द जी बाँठिया, मद्रास (कोडीनाकम)
६ श्री मिश्रीलाल जी लूंकड़, मद्रास (कोडीनाकम)
७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (कोडीनाकम)
८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी मद्रास (निम्बोल)
९ श्री अनोपचन्द जी [illegible] जी बोहरा, [illegible]
१० श्री गणेशमल जी [illegible], मद्रास ([illegible])
११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी [illegible], चैनर एण्ड कम्पनी, ब्यावर
१२ शा० वस्तीमल जी बोहरा C/o [illegible] जी बुलाजी,
गाणो की गली उदयपुरिया बाजार, पाली
१३ शा० आलमचंद जी मोहनलाल जी [illegible], सिकन्द्राबाद, (रायपुर)
१४ शा० बूलचन्द जी अभयराज जी [illegible], बुलन्दा (मारवाड़)
१५ शा० चम्पालाल जी कन्हैयालाल जी छल्लाणी, मद्रान्तकम, मद्रास
१६ शा० कालूराम जी हस्तीमल जी मुथा, रायचूर

प्रथम श्रेणी

१ मैं० वी. सी. ओसवाल, जवाहर रोड, रत्नागिरी (सिरियारी)
२ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर
३ शा० लादूराम जी छाजेड़, ब्यावर (राजस्थान)

४ शा० चम्पालाल जी डूगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)
६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावंडिया)
७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू)
८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर
९ शा० बालचद जी रूपचद जी बाफना,
११८/१२० जवेरी बाजार बम्बई–२ (सादड़ी निवासी)
१० शा० बालाबगस जी चंपालाल जी बोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचंद जी सोहनलाल जी बोहरा राणीवाल
१२ शा० अमोलकचंद जी धर्मीचद जी आच्छा, बड़ाकाचीपुरम्, मद्रास (सोजत रोड)
१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी बाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)
१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)
१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)
१६ शा० सिमरतमल जी सखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुड़ा)
१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)
१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास
१९ शा० चंपालाल जी नेमीचंद, जबलपुर, (जैतारण)
२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर
२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)
२२ शा० हीराचंद जी लालचद जी धोका, नक्शाबाजार, मद्रास
२३ शा० नेमीचंद जी धर्मीचद जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास
२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T. (बगड़ी-नगर)
२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्रास
२६ शा० अमोलकचंद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शाबाजार, मद्रास
२७ शा० पी० बीजराज नेमीचंद जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचंद जी माणकचद जी बोरा, बुशी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, बुशी
३० शा० पारसमल जी मोहनलाल जी सुराणा कुंभकोणम्, मद्राग

३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, पॉटमार्केट सिकन्द्रावाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचंद जी जसराज जी गोलेछा, वेगलोर सिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी वव, वेगलोर सिटी
३६ शा० एम० मगलचंद जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मंगलचंद जी दरडा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी,
शिवराम पैंठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल, N क्रास रोड, रावर्टसन पेठ, K G.F.
३९ शा० चम्पालालजी प्रकाशचन्द जी छलाणी न० ५७ नगरथ पैठ, वेगलोर—२
४० शा० आर. विजयराज जागडा, न० १ क्रास रोड, रावर्टसन पेट K.G.F.
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, ११५३, रविवार पेठ पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पॉट-मार्केट, सिकन्द्रावाद—A.P.
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा, वालाजावाद, मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गॉधीचौक रायचूर
४५ श्री वस्तीमल जी वोहरा C/o सीरेमल जी धुलाजी गाणों की गली, उदय-
पुरिया वाजार, पाली
४६ श्री सुकनराज जी भोपालचद जी पगारिया, चिकपेट, वेगलोर
४७ श्री विरदीचद जी लालचद जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचंद जी वोहरा, मद्रास (वर)
४९ श्री भंवरलाल जी जवरचंद जी दूगड़, कुरडारा
५० शा० मदनचद जी देवराज जी दरडा, १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट,
मद्रास १
५१ शा० सोहनलाल जी दूगड, ३७ कालाती पीले-स्ट्रीट, साहूकार पेट, मद्रास-१
५२ शा० धनराज जी केवलचद जी, ५ पुडुपेट स्ट्रीट, आलन्दुर, मद्रास १६
५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाउस न १४ व
टेम्पल-स्ट्रीट ५ वा क्रोस आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, प
वैगलोर ५३
५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलावचन्द जी गोठी मु० पो० घ
(महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीलाल जी उत्तमचन्द जी ४२४/३ चीकपेट-बैंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O P H. रोड, बैंगलोर १

५७ शा० सन्तोषचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर, नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी रांका (वकील), ब्यावर

६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी रांका, ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगडा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी बोहरा ६९ स्वामी पण्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधर-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट, पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गाधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण), राबर्टसन पेठ (K.G.F.)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चंपाराम जी मीठालाल जी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत, मद्रास

७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चंपालाल जी उत्तमचंद जी गाधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, सिकन्दराबाद (रायपुर वाले)

७३ श्रीमान् शा० चेनराजी सुराना वर्धमान क्लोथ स्टोर, गाधी बाजार, सीमोगा (कर्नाटक)

७४ शा० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा जाडण No 1, क्रासरोड राबर्टसन पेट (K.G F)

७५ श्रीमान् शा० सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा, जोधपुर

७६ शा० चपालाल जी मीठालाल जी सकलेचा (वलून्दा) ट्रान्सपोर्ट प्रा० लि० जालना, महाराष्ट्र

७७ शा० पुखराज जी ज्ञानचद जी मुगोत C/o F, पुखराज जैन No. 168 वेलावरी रोड, ताम्बरम, मद्रास 59

७८ शा० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन No 3 बाबुस्वामी स्ट्रीट नैगनतुर, मद्रास 61

७९ शा० C. चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी (जवाली) ज्वेलरी मर्चेन्ट No. C. 114 T. H रोड, मद्रास

८० शा० पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, पोट मार्केट सिकन्द्राबाद A. P.

८१ शा० लालचद जी भवरलाल जी सचेती जुरोकावास, पाली, (राजस्थान)

८२ शा० जी० सुवालाल जी महावीरचंद जी करणावट, जसनगर (केकिन्द)

८३ शा० सुखराजी चादमल जी गुगलीया, जसनगर (केकिन्द)

८४ श्रीमान् शा० सुगनचंद जी गणेशमल जी भडारी (निम्वाज) वेगलोर

८५ श्री डी० कचरुलाल जी कर्णावट अचरापाकम, मद्रास

८६ श्री जवरीलाल जी पारसमल जी वालिया मु० पाली (राजस्थान)

८७ श्री चुन्नीलाल जी कन्हैयालाल जी दुधेरिया भुवानगिरि, मद्रास

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचद जी श्री श्रीमाल, व्यावर

२ श्री सूरजमल जी इन्दरचद जी सकलेचा, जोधपुर

३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचद जी नम्वरिया, चौधरी चौक, कटक

४ श्री घेवरचद जी रातडिया, रावर्टसनपेठ

५ श्री वगतावरमल जी अचलचंद जी खीवसरा ताम्बरम्, मद्रास

६ श्री छोतमल जी सायवचद जी खीवसरा, वौपारी

७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भडारी, नीमली

८ श्री माणकचद जी गुलेच्छा, व्यावर

९ श्री पुखराज जी वोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ

१० श्री धर्मीचद जी बोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ

११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चडावल

१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुडा
३९ शा० सपतराज जी चौरड़िया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० भीकमचन्द जी चौरडिया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जब्बरचद जी गोकलचद जी कोठारी, ब्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचंद जी गादिया, लाबिया
४५ श्री सेसमल जी धारीवाल, वगडीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतमल जी बोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१
४७ उदयचंद जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचंद जी मूथा, मेवाडी बाजार ब्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचद जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास
५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, बम्बई-३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, बेगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचद जी छाजेड, मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११
५४ श्री चादमल जी लालचंद जी ललवाणी, मद्रास-१४
५५ श्री लालचद जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयीलूर
५६ श्री सुगनराज जी गौतमचद जी जैन, तमिलनाडु
५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६
५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, बैगलूर-१
६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी साखला, तीरुवल्लुर
६१ श्री पुखराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावडिया
६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचद जी बग्गाणी, मद्रास
६३ श्री रूपचद जी बाफणा, चडावल
६४ श्री पुखराज जी रिखबचंद जी राका, मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचद जी चौरडिया, पीचियाक
६६ श्री भीखमचद जी शोभागचद जी लूणिया, पीचियाक

१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड़ जंकशन

१४ श्री रतनचद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड़)

१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाड़ा

१६ श्री चंपालाल जी नेमीचद जी कटारिया, बिलाड़ा

१७ श्री गुलाबचद जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]

१८ श्री भवरलाल जी गौतमचद जी पगारिया, कुशालपुरा

१९ श्री चनणमल जी भीकमचद जी राका, कुशालपुरा

२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा

२१ श्री सतोकचंद जी जवरीलाल जी जामड़,
१४६ बाजार रोड, मदरान्तकम्

२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्

२३ श्री धरमीचंद जी ज्ञानचद जी मूथा, वगडानगर

२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, बिलाडा

२५ श्री दुलराज इन्दरचद जी कोठारी
११४ तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१

२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१

२७ श्री सायरचद जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१

२८ श्री जीवराज जी जबरचद जी चौरडिया, मेड़तासिटी

२९ श्री हजारीमल जी निहालचद जी गादिया १६२ कोयम्बतूर, मद्रास

३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली

३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक

३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर

३३ श्री चपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना

३४ श्री मागीलाल जी शंकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२

३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४

३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम

३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुड़ा
३९ शा० संपतराज जी चौरडिया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० भीकमचन्द जी चौरड़िया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जब्बरचंद जी गोकलचद जी कोठारी, व्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचंद जी गादिया, लाविया
४५ श्री सेसमल जी धारीवाल, वगडीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१
४७ उदयचद जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचद जी मूथा, मेवाडी वाजार व्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचंद जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-व्राजार रोड, मद्रास
५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, वम्बई-३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, वेगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचद जी छाजेड, मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११
५४ श्री चांदमल जी लालचद जी ललवाणी, मद्रास-१४
५५ श्री लालचद जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर
५६ श्री सुगनराज जी गौतमचद जी जैन, तमिलनाडु
५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६
५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, बैंगलूर-१
६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी साखला, तीरुवल्लुर
६१ श्री पुखराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावड़िया
६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचंद जी वग्गाणी, मद्रास
६३ श्री रूपचद जी वाफणा, चडावल
६४ श्री पुखराज जी रिखवचद जी राका, मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचंद जी चौरडिया, पीचियाक
६६ श्री भीखमचंद जी शोभागचंद जी लूणिया, पीचियाक

६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचंद जी बाफणा, बेंगलोर (कुशालपुरा)
६८ श्री घेवरचंद जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली
६९ शा० नेमीचद जी कोठारी न० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मागीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर, चीकपेट, बेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लुमचंद जी मगलचद जी तालेडा अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हंसराजजी जसवतराजजी सुराणा मु० पो० सोजतसिटी
७४ शा० हरकचंदजी नेमीचदजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलो का वास मु० पो० जालोर
७६ शा० वी० सजनराजजी पीपाडा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे न० ४५८९७७/१४१ भवानी शकर रोड, बीसावा बिल्डिग, दादर, बोम्बे न० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचदजी चादमलजी सोलकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53.
८० शा० निरमलकुमारजी मागीलालजी खीवसरा ७२, धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३
८१ श्रीमती सोरमबाई, धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरताबाद, हैदराबाद ५०००४
८३ शा० सुगालचंदजी उत्तमचंदजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लुकड (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज एण्ड क० ४८६/२ रेवडी बाजार अहमदाबाद-२
८५ शा० गौतमचदजी नाहटा (पीपलिया) न० ८, वादु पलीयार कोयल स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका बेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्बतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्दरावाद (A. P.)

८९ शा० एम० पुकराजजी एण्ड कम्पनी क्रास वाजार दूकान नं० ६, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचंदजी नागोतरा सोलकी मु०' पोस्ट—रांणा वायापाली (राजस्थान)

९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली)
C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभापचंद रोड, मद्रास १

९२ माणकचदजी ललवानी (मेड़तासिटी) मद्रास

९३ मागीलालजी टीपरावत (टाकरवास) मद्रास

९४ सायरचदजी गाधी पाली (मारवाड़)

९५ मागीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)

९६ सरदारचदजी अजितचदजी भडारी, त्रिपोलीया वाजार (जोधपुर)

९७ सुगालचदजी अनराजजी मूथा मद्रास

९८ लालचदजी संपतराजजी कोठारी, वेगलोर

९९ माणकचदजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, वेगलोर

१०० वक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैतारण) रावर्टसन पेट K G.F.

१०१ शा० माणकचदजी ललवाणी मेडतासिटी (मद्रास)

१०२ शा० मागीलालजी टपरावत ठाकरवास (मद्रास)

१०३ शा० सायरचदजी गांधी पाली (मारवाड़)

१०४ शा० मागीलालजी लूणावत उदयपुर (मारवाड़)

१०५ शा० भंडारी सरदारचंदजी अजीतचंदजी, जोधपुर

१०६ शा० सुगालचदजी अनराजी मूथा मद्रास;, (परमपुर)

१०७ शा० लालचदजी सपतराजजी कोठारी वेगलोर

१०८ माणकचंदजी महेन्द्रकुमार ओस्तवाल वेगलोर

१०९ B अनराजजीछलाणी, रावर्टसन पेट K.G.F.

११० शा० मदनलालजी रीखवचदजी चोरडीगा. गेगलुर

१११ शा० धनराजी महावीरचदजी लूणावत वेगलोर

११२ शा० बुधराजी रूपचंदजी झामड मेडतासीटी
११३ शा० भवरलालजी खीवराजी मेहता पाली, मारवाड़
११४ शा० माणकचदजी लाभचदजी गुलेछा, पाली
११५ शा० घीसुलालजी सम्पतराजजी चोपड़ा, पाली
११६ शा० उदयराजजी पारसमलजी तिलेसरा, पाली
११७ शा० जसराजी धनराजी घारोलीया, पाली
११८ शा० धनराजी भीकमचदजी पगारीया, पाली
११९ शा० फुलचदजी महावीरचदजी बोरुन्दीया जसनगर, केकिन्द
१२० शा० चतुरभुजी सम्पतराजी गादीया जसनगर, केकिन्द (मदुरीन्तरम)
१२१ शा० सेसमलजी महावीरचदजी सेठीया बेंगलोर
१२२ सेसमलजी सीरेमलजी बोहरा पीसांगन (सीरकाली)
१२३ श्रीमान मोतीलालजी बोरुन्दिया, मदुरान्तकम् मद्रास
१२४ श्रीमान शुकलचदजी मुन्नालालजी लोढ़ा, पाली (राज०)
१२५ श्रीमान सूरजकरणजी माणकचदजी आँचलिया, जसनगर (राज०)
१२६ श्रीमान घीसूलालजी धर्मीचंदजी गादिया, हैद्राबाद
१२७ श्रीमान वी० रामचद्रजी वस्तीमलजी पटवा, पुदुपेट, मद्रास

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचंद जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भंडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी बोहरा, ब्यावर
४ श्री लालचद जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गांधी, सिरियारी
६ श्री जवरचद जी बम्ब, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, ब्यावर
८ श्री जुगराज जी भवरलाल जी रांका, ब्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धौका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी बोहरा, ब्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खीवसरा, मु० बोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भंवरलाल जी ललवाणी, विलाड़ा

१३ श्री अनराज जी लखमीचंद जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचंद जी जांगड, बिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचंद जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचंद जी शान्तिलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचंदजी गुन्देचा, सोजतरोड
१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचद जी साकरिया, साडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखवाजी साकरिया, साडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचंद जी बरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मांगीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गाधी, केसरसिह जी का गुड़ा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भंसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचद जी बोकड़िया, पाली
२६ श्री चादमल जी हीरालाल जी बोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचंद जी भवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, साडेराव
३० श्री निहालचंद जी कपूरचंद जी, साडेराव
३१ श्री नेमीचंद जी शातिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लू कड, बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचद जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उडीसा)
३५ श्री मूलचद जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट, मण्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचंद जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचद जी कॉकरिया, मद्रास (मेड़तासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचद जी गाँधी, केसरसिह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी बादलचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसीग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा

४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचद जी काठेड, व्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचद जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
४७ शा० अमरचद जी नेमीचद जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास
४८ शा० बनेचद जी हीराचद जी जैन, सोजतरोड (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मागीलाल जी गूदेचा, सोजतरोड (पाली)
५० श्री जयतीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादडी
५१ श्री गजराज जी भडारी एडवोकेट, बाली
५२ श्री मागीलाल जी रैड, जोधपुर
५३ श्री ताराचद जी बम्ब, व्यावर
५४ श्री फतेहचद जी कावडिया, व्यावर
५५ श्री गुलाबचद जी चौरडिया, विजयनगर
५६ श्री सिधराज जी नाहर, व्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकंवर जी कटारिया, सहवाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, विलाड़ा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचद जी मकाणा, व्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री बकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादडी (मारवाड)
६४ श्री मै० चन्दनमल पगारिया, औरगाबाद
६५ श्री जसवंतराज जी सज्जनराज जी दुगड़, कुरडाया
६६ श्री वी० भवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकला
६८ श्री आर० प्रसन्नचद चोरडिया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्रावाद
७० श्री सुकनचंद जी चादमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कातीलाल जी वोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी जैन (पाली) बैंगलूर

७३ शा० जी० एम० मङ्गलचंद जी जैन (सोजतसिटी)
C/o मङ्गल टेक्सटाईल्स २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचंद मारकेट
गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती रतनकंवर बाई धर्मपत्नी शातीलालजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी
प्रकाशचंद जी फतेपुरियों की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचंद खीवसरा C/o रूपचंद-विमलकुमार
पो० पेरमपालम; जिला चंगलपेट

७६ शा० माणकचद जी भंवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचंद मोहनलाल जैन
१७ बिन्नी मिल रोड, बेंगलोर ५३

७७ शा० ताराचंद जी जवरीलाल जी जैन कदोई बाजार, जोधपुर (महामदिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचद जी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

८० शा० चम्पालाल जी रतनचंदजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचद जैन—४०३/७ बाजार रोड, रेडीलस, मद्रास ५२

८१ शा० मगराज जी माधोलाल जी कोठारी मु० पो० बोरूंदा वाया पीपाड़
सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराज जी चम्पालाल जी नाहर C/o चदन इलैक्ट्रीकल ६६५
चीकपेट, बेंगलोर ५३

८३ शा० नथमल जी पुकराज जी मीठालाल जी नाहर C/o हीराचंद नथमल
जैन No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम, बेंगलोर-६

८४ शा० एच० मोतीलाल जी शान्तीलाल जी समदरिया सामराज पेट नं०
९८/७ क्रोस रोड, बेंगलोर १८

८५ शा० मंगलचद जी नेमीचदजी बोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स
Ho ५६ खलास पालीयस बेंगलोर-२

८६ शा० धनराज जी चम्पालाल जी समदरिया जी० १२९ मीलरोड
बेंगलोर-५३

८७ शा० मिश्रीलाल जी फूलचद जी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन,
सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालाल जी दीपचंदजी सीगी (मीरीयारी) C/o दीपक
हैदरगुडा ३/६/२९४/२/३ हैदराबाद (A. P.)

८९ शा० जे० वीजेराज जी कोठारी C/o कीचयालेन काटन पेट, बेंगलोर-५३

९० शा० वी० पारसमल जी सोलंकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्वतूर

९१ शा० कुशालचद जी रीखवचद जी सुराणा ७२९ सदर वाजार, वोलारम (आ० प्र०)

९२ शा० प्रेमराज जी भीकमचंद जी खीवसरा मु० पो० वोपारी वाया, राणावास

९३ शा० पारसमल जी डंक (सारन) C/o सायवचद जी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्रावाद (A. P.)

९४ शा० सोभाचद जी प्रकाशचद जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचंद एण्ड कं० मण्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९५ श्रीमती सोभारानी जी राका C/o भवरलाल जी रांका मु० पो० व्यावर

९६ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भंवरलाल जी राका मु० पो० व्यावर

९७ शा० जम्वूकुमार जैन दालमील, भैरो वाजार, वेलनगंज, आगरा-४

९८ शा० सोहनलाल जी-मेडतीया सिहपोल मु० पो० जोधपुर

९९ भंवरलाल जी श्यामलाल जी वोरा, व्यावर

१०० चम्पालाल जी कांटेड, पाली (मारवाड)

१०१ सम्पतराज जी जयचंद जी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०२ हीरालाल जी खावीया पाली मारवाड

१०३ B. चैनराज जी तातेड अलसुर, बेंगलोर (वीलाडा)

१०४ रतनलाल जी घीसुलाल जी समदडीया, खड़की पूना

१०५ भी० नितन्द्र कुमार जी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

१०६ श्रीमान भवरलाल जी श्यामलाल जी वोहरा व्यावर

१०७ श्रीमान चपालाल जी खाँटेर (दलाल) पाली

१०८ श्रीमान सपतराज जी जयचंद जी सुराणा (सोजत) पाली

१०९ श्रीमान हीरालाल जी खावीया पाली

११० श्रीमान B. चेनराज पाँन ब्रोकर, वेंगलोर

१११ श्रीमान रतनलाल जी घीसुलाल जी समदड़ीया (केलवाज) पूना

११२ श्रीमान निलेन्द्र कुमार सराफ, धार M P.
११३ श्रीमान सीरेमल जी पारसमल जी पगारिया, निमार खेडी
११४ श्रीमान पुखराज जी मुथा, पाली (मारवाड)
११५ श्रीमान सुकनराज जी भवरलाल जी (पच) सुराणा, पाली
११६ श्रीमान सोहनराज जी हेमावसवाला, पाली
११७ श्रीमान वागमल जी घनराज जी कोठेड, पाली
११८ श्रीमान भेरुमल जी तलेसरा पाली
११९ श्रीमान वस्तीमल जी कान्तीलाल जी धोका, पाली
१२० श्रीमान जुगराज जी ज्ञानराज जी मुथा, पाली
१२१ श्रीमान ताराचंद जी हुकमीचद जी तातेड पाली
१२२ श्रीमान सोहनराज जी वरड़ीया पाली
१२३ श्रीमान वस्तीमल जी डोसी पाली
१२४ श्रीमान K. वस्तीमल जी राजेन्द्रकुमार बोहरा जसनगर (मद्रास)
१२५ श्रीमान वस्तीमल जी जुगराज जी वोरुन्दिया, जसनगर (मद्रास)
१२६ श्रीमान जे० सज्जनराम जी मंडलेचा, मुलाई कत्थलम, (मद्रास)

□ □

हमारा महत्त्वपूर्ण साहित्य

१	प्रवचन-सुधा	५)
२	प्रवचन-प्रभा	५)
३	धवल ज्ञान धारा	५)
४	साधना के पथ पर	५)
५	जैनधर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण	१०)
६	दशवैकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
७	तकदीर की तस्वीर	—
८	कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
९	कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
१०	कर्मग्रन्थ [तृतीय—बन्ध-स्वामित्व]	१०)
११	कर्मग्रन्थ (चतुर्थ-षडशीति)	१५)
१२	कर्मग्रन्थ (पंचम-शतक)	१५)
१३	कर्मग्रन्थ (षष्ठ-सप्ततिका प्रकरण)	१५)
१४	तीर्थंकर महावीर	१०)
१५	विश्वबन्धु वर्धमान	१)
१६	सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०] [दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तकें]	६)

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

पीपलिया बाजार, ब्यावर